मनुष्य का विराट् रूप

लेखक

आनन्दकुमार

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६

प्रथम संस्करण
मूल्य
चार रुपये

प्रकाशक
राजपाल एण्ड सन्ज
काश्मीरी गेट, दिल्ली–६

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
नई दिल्ली

दो-चार बातें

१. दो पैसे की विद्या

एकवार एक मल्लाह नाव में कुछ यात्रियो को लेकर नदी के पार जारहा था। वीच धारा में एक विचित्र बाबा जी दिखाई पड़े। वे खडाऊँ पहने हुये वेखटके पानी पर चल रहे थे। दर्शकों को बड़ा कौतूहल हुआ। मल्लाह ने पूछा—महाराज, यह सिद्धि आपको कैसे और कितने दिनो में मिली है? बाबा ने गर्व से उत्तर दिया—बेटा, यह पूरे अठारह वर्षों की कठोर तपस्या का फल है। मल्लाह फिर बोला—तब तो आप बडे घाटे में रहे; इतने दिनो की कड़ी मेहनत की यह कमाई तो बहुत थोडी है—खोदा पहाड़ और निकली चुहिया! आप से अच्छे तो ये लोग है जो दो-दो पैसे देकर आराम से बैठे हुये नदी के पार जारहे हैं। इस दो पैसे की सिद्धि के लिये आपने अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर दिया! बाबा जी लज्जित होकर चले गये।

अकेले बेचारे बाबा जी का ही उपहास क्यो किया जाय! जो लोग केवल विद्यालय की 'डिग्री' पाने के लिये अपना समय, स्वास्थ्य और धन गँवा देते है और उसके बाद बेकार मारे-मारे घूमते है, वे भी तो उक्त बाबा जी के अनुयायी ही हैं। उन लोगो की दशा पर विचार कीजिये जो अपने जीवन का सबसे अमूल्य समय स्कूल-कालेजो में बिताकर वहाँ से 'काम-काम' रटते हुये निकले और दफ्तर की सड़क को ही जीवन का एकमात्र मार्ग मानकर उसीपर चल पड़े। उनकी सारी साधना एक छोटी-मोटी नौकरी के लिये थी; उसीको पाकर वे कृतार्थ होगये हैं। जिस शिक्षा के प्रभाव से वे पूर्ण पुरुष न बनकर पेटू, और स्वाधीन-स्वावलम्बी न होकर दब्बू बन गये हैं, क्या वह बाबा जी की सिद्धि से अधिक उपयोगी और

मूल्यवान् है ? जीविका के पीछे जीवन को खपाने वाले ऐसे मानुओं को 'बाबा'-सम्प्रदाय का ही मानना चाहिये।

ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो पढ़-लिखकर स्वच्छन्द—पदानुरागी, मदानुरागी और प्रमदानुरागी होगये हैं। वे अहंकार के भयकर शूल से ऐंठते है, ज्ञान का वमन करते हैं और ऊपरी ठाठबाट तथा दुर्व्यसनो मे अनुरक्त रहते हैं। उनकी योग्यता का प्रमाण यही है कि वे अपने दाँव-पेच से भले आदमियो को नीचा दिखा सकते हैं, शिष्टाचार की आड़ मे भ्रष्टाचार कर सकते हैं और छल-प्रपंच, उछल-कूद से क्षणिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। उस शिक्षा का क्या मूल्य है जिससे मनुष्य संस्कृतचित्त जीव न बनकर कुटिल कामचारी, शान्त न होकर दुर्विदग्ध, विनयी-सुशील और सज्जन न होकर दुर्मुख, उद्दंड और शठ बन जाता है! उसके लिये कोई कितना भी व्यय करे, सभ्य-समाज मे वह दो पैसे को भी महँगी होगी। उसके बल पर मिथ्या अभिमान करने वाले नकली बडे आदमियो या विगडे हुये बाबूसाहबों की गणना हम उपरोक्त बाबा जी के चेलो मे ही करेंगे।

ऐसे विद्या-वारिधि भी मिलते है जिनका खारा जल किसी के काम नहीं आता। उनमें से कितने ही ऐसे है जिन्हे निकट का तो कुछ नहीं, किन्तु दूर की दुनिया का—तारो-सितारो तक का पूरा पता रहता है, जिनकी जिह्वा पर इतिहास-प्रसिद्ध कब्रस्तानों की पूरी सूची रहती है, जिन्हें दिल्ली की चिन्ता और जानकारी अधिक तथा अपने एवं दूसरो के दिल की बिल-कुल नहीं रहती। सिर पर वे अनावश्यक ज्ञान का भारी गट्ठर लादे घूमते हैं। बहुत-से ऐसे हैं जो बैठे-बैठे बातें बना सकते है, तर्क-वितर्क कर सकते हैं, आख्यान-व्याख्यान सुना सकते हैं, लेकिन कुछ करके नहीं दिखा सकते। जिस ज्ञान से मनुष्य मेधावी और पुरुषार्थी न होकर भीरु, मन्दबुद्धि और अकर्मण्य होजाता है, उसे हम दो पसे का क्यो न मानें ? ऐसे ज्ञान-ग्राहको को 'बाबा जी' के शिष्य-समुदाय मे ही स्थान मिलना चाहिये। संभवतः इस प्रकार के पढे-लिखे निकम्मे आदमियों के लिये ही महात्मा गाँधी ने सन्

१९४६ में, मंसूरी में श्री पंडित रामनरेश त्रिपाठी जी से बातचीत करते हुये कहा था—"काम करने वाले लोग कम है। लोगों की जीभें लम्बी हो रही हैं और हाथ छोटे होते जा रहे हैं।"

ध्यान से देखिये और ठीक-ठीक गणना कीजिये तो ज्ञात होगा कि हृदयहीन, दंभी, धूर्त्त, कापुरुष, रोगी, भोगी, आलसी, प्रपची, पतित, निर्लज्ज, दुःखी, दीन, अविवेकी, मिथ्यावादी, कूपमंडूक और परभाग्योपजीवी मनुष्यो की संख्या अशिक्षित लोगो की अपेक्षा शिक्षित-वर्ग में अधिक है। जिन्हें हम शिक्षित और नागरिक मानते हैं, उन्हीके समाज में सबसे अधिक किंकर्त्तव्यविमूढ़ और अभद्र पुरुष मिलते हैं। इसका रहस्य क्या है? निश्चय ही यह विदेशी शासकों द्वारा प्रचारित शिक्षा का दुष्परिणाम है। उसके द्वारा चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता था। उसका तो उद्देश्य यह था कि पढ़-लिखकर लोग स्वार्थी, प्रमादी और जड़ या प्रपंची बन जायँ, यथासंभव काम के आदमी न होकर बेकाम हो जायँ; गुलामी मे कोई त्रुटि न करें और उनका जीवन बिगडकर भी किसी प्रकार साहब के काम आये। वह सुमति को कुण्ठित, स्वभाव को उच्छृङ्खल और व्यक्तित्व को संकुचित बनाने वाली शिक्षा थी। तभी तो शिक्षित होने के उपरान्त बहुत से लोग दब्बू, आडम्बरी या पेटू बन जाते थे और 'कूवत थोरी, मंज़िल भारी' का अनुभव करते थे। उससे दासता और आत्मदीनता की वृद्धि होती थी, क्योकि व्यक्तित्व की विकासहीनता ही तो मनुष्य के बन्धन और विनाश का प्रमुख कारण है। हमारे सार्वजनिक जीवन में अभी तक आत्मनिर्भरता और नागरिकता का जो अभाव मिलता है, वह उसी कुशिक्षा का प्रभाव है जिसने बहुसंख्यक शिक्षितो को शक्तिहीन, स्वार्थान्ध और प्रज्ञापराधी बना दिया है। संकीर्ण विचार के अधमरे जीवो में कही सद्भावना और सहानुभूति होती है? स्वराज्य-संस्थापक गाँधी ने आज से कुछ समय पूर्व ठीक ही कहा था—"भारत का कल्याण इसी मे है कि गत पचास वर्षों में उसने जो-कुछ सीखा है, उसे वह भूल जाय।" उस

दूरदर्शी महापुरुष का वचन हमारे लिये आज भी मान्य है क्योंकि देश अभीतक उस आत्मनाशक शिक्षा को भूल नहीं सका है।

२. स्वराज्य-शिक्षा का आदर्श

स्वतन्त्र-राष्ट्र को इस समय सुयोग्य, सच्चरित्र और उन्नतिशील नागरिकों की आवश्यकता है। इसलिये जनता में स्वराज्य-शिक्षा का प्रचार होना चाहिये। इसका अर्थ केवल राजनीति, लोकशासन, ग्राम-सुधार, उद्योग-व्यवसाय और भौतिक विज्ञान सम्बन्धी शिक्षा नहीं है। हमारा अभिप्राय उस शिक्षा से है जिसकी उपयोगिता को लक्ष्य करके महात्मा गाँधी ने कहा है कि **जीवन के मौलिक सिद्धान्तों की उपेक्षा करके कोई व्यक्ति, राजनीति और व्यवसाय में चाहे जितना पुरुषार्थ दिखाये, उन्नति नहीं कर सकता।** उसको चाहे जीवन-दर्शन कहिये या संयम-सदाचार की शिक्षा अथवा सरल जीवन, उच्च विचार या कर्त्तव्य कर्म की शिक्षा। विदेशी शासन में वह अनावश्यक मानी जाती थी, परन्तु अब हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि राजनीति की अपेक्षा जीवन-नीति, लोकशासन की अपेक्षा आत्मशासन, ग्राम-सुधार की अपेक्षा आत्म-सुधार, उद्योग-व्यवसाय की अपेक्षा सत्कर्म और भौतिक विज्ञान की अपेक्षा नैतिक ज्ञान की शिक्षा हमारे व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के विकास के लिये अधिक आवश्यक और हितकारी है। पहली बात यह है कि लोग मनुष्य का जीवन बिताना जानें। गाँधीजी के शब्दों में—**'जिसने उत्तम जीना जाना वही सच्चा कलाकार है।'** अतएव मुख्य स्वराज्य-शिक्षा वह है जिसके द्वारा मनुष्य को अपने स्वाभाविक गुण-धर्म का ज्ञान हो और जो उसके चरित्र-निर्माण में सहायक हो।

बहुत-से लोग ऐसे हैं जो जीवन के वास्तविक रूप को पहचानते ही नहीं और शारीरिक शक्ति तथा कृत्रिम साधनों की सहायता से पुरुषार्थ सिद्ध करने का निष्फल प्रयत्न करते हैं। उन्हें गाँधीजी के शब्दों में यह बताना है कि **"भारत आत्मबल से सब-कुछ जीत सकता है; आत्मा**

की शक्ति के आगे शरीर की शक्ति तृणवत् है।" सर्वसाधारण को आत्मोन्नति का सच्चा रहस्य बताने में शिक्षा की सार्थकता है।

अभीतक बहुत-से लोग आध्यात्मिक ज्ञान को साधुओं और वैरागियों का विषय मानते हैं। उन्हें यह बताना है कि वह, वास्तव में, नागरिकों के काम का है। योगवासिष्ठ के रचयिता ने अपने दार्शनिक-ग्रन्थ के विषय में कहा है कि "इस शास्त्र के बार-बार पढ़ने से और इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों को भलीभाँति व्यवहार में लाने से मनुष्यों मे महान् गुणों वाली नागरिकता का विकास होता है।"—

"एतच्छास्त्रघनाभ्यासात्पौनःपुन्येन वीक्षणात्।
परा नागरतोदेति महत्वगुणशालिनी॥"
—योगवासिष्ठ।

इसमें सन्देह नहीं कि पारस्परिक सद्व्यवहार और सहयोग तभी होगा जब लोग एक-दूसरे के साथ अपने आन्तरिक सम्बन्ध को और लोक के प्रति अपने नैतिक उत्तरदायित्व को समझेंगे। लोकमर्यादा की प्रतिष्ठा जीवन-विषयक सद्ज्ञान के प्रचार से ही होगी। यही सर्वोदय का सर्वोत्तम साधन है। जीवन-शिक्षा को विशेष महत्व देना चाहिये जिससे लोग पहले सत्पुरुष बनें, पीछे और कुछ।

३. 'मनुष्य का विराट् रूप'

इस ग्रन्थ में, आत्मपूर्णता और लोकयात्रा की सफलता के लिये मनुष्य-मात्र को जिन आवश्यक विषयों की जानकारी होनी चाहिये उनकी सार-सामग्री सरल ढंग से प्रस्तुत की गई है। एक साधारण मनुष्य में कितनी और कैसी विलक्षण क्षमता होती है, सर्व-सुलभ साधनों की सहायता और अपनी ही साधना से प्रत्येक व्यक्ति किस प्रकार अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर कुछ-का-कुछ हो सकता है, जीवन की सद्गति का रहस्य क्या है, पुरुषार्थी को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये विघ्न-बाधाओं के बीच से किन मार्गों पर और कैसे आगे बढ़ना चाहिये, मनुष्यता का स्वरूप और

महत्व क्या है, किसी भी प्रकार का अधिकार कैसे मिलता है, लोकप्रियता और प्रतिष्ठा की प्राप्ति कैसे हो सकती है, आचार-विचार और संपूर्ण व्यक्तित्व को क्यों और कैसे निर्दोष रखना चाहिये, महापुरुषों के चरित्र से क्या सीखा जा सकता है—ऐसे अनेक प्रश्नों का प्रामाणिक एवं सन्तोष-जनक उत्तर इसमे मिलेगा। साथ ही इस पुस्तक मे निर्भयता, विनय-नम्रता-सुशीलता, दान-परोपकार-सेवा और सत्संगति आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी मनोवैज्ञानिक तथा व्यावहारिक ज्ञान की बाते दी गई हैं। संक्षेप में, मैंने उन सद्गुणो पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है जिनके द्वारा मानव-जीवन सुसंस्कृत, सशक्त तथा मर्यादित होता है। मैं यह तो नहीं कहता कि मेरी इस रचना से पाठकों को सम्पूर्ण जीवन-दर्शन का ज्ञान हो जायगा, परन्तु यह अवश्य कहता हूँ कि उसकी भिन्न-भिन्न खिड़कियों से उन्हे जीवन के विविध अंगो की झाकी सहज रीति से मिल जायगी। जिन मानसिक एव चारित्रिक विभूतियो से जीवन विकासोन्मुख तथा प्रभाव-शाली बनता है उनका थोड़ा-बहुत परिचय इस ग्रन्थ से निश्चय ही मिलेगा।

अनेक बुद्धि-व्यवसायी दूसरो को मूढ़ बनाने के लिये सरल विषय को भी गूढ बना देते हैं क्योंकि, प्राचीन परिपाटी के अनुसार, चोर लोग असा-वधान व्यक्तियों से अपनी जीविका चलाते हैं, वैद्य लोग रोगियो से, शासक लोग परस्पर लडने-झगडने वालों से और विद्वान् लोग मूर्खो से।—

"चौराः प्रमत्ते जीवन्ति, व्याधितेषु चिकित्सकाः।
राजा विवादमानेषु, नित्यं मूर्खेषु पंडिताः॥"

—उद्योगपर्व (म० भा०)।

विलायती पंडित भी ऐसा ही करते हैं। अमेरिका के सुप्रसिद्ध विचार-पत्र 'रीडर्स डाइजेन्ट' के जुलाई १९४९ के अंक में मनोविज्ञान की यह परि-भाषा छपी थी—जिन बातों को आप पहले से जानते-बूझते हैं, उन्ही को जो शास्त्र ऐसी क्लिष्ट व्याख्या करता है जिसे आप आसानी से न समझ सकें, वह मनोविज्ञान है—"Psychology—the science that tells

you what you already know, in words you can't understand." पांडित्य-प्रदर्शन का यह ढंग बहुत प्रचलित है। मैंने इसको नहीं अपनाया है और यथाशक्ति जीवन-सम्बन्धी विस्तृत, गंभीर और नीरस ज्ञान को भी सरल, सुबोध तथा सरस बनाने का यत्न किया है। इस कार्य में मैंने उन दर्शावादियों का भी अनुकरण नहीं किया है जो प्रत्येक बात को लेकर किसी-न-किसी 'वाद' के घेरे मे चक्कर लगाते हैं। मुझे जो-कुछ कहना था, उसे मैंने सीधे-सादे ढंग से कहा है और सैकड़ो सार-गर्भित सूक्तियों से प्रमाणित किया है। इस पुस्तक मे स्थान-स्थान पर दृष्टान्तो और कथाओं का उपयोग इस उद्देश्य से किया गया है कि एक तो उससे ठोस मानसिक आहार भी सरस एवं सुभोग्य हो जाता है, दूसरे ज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग बड़ी सुगमता से ज्ञात हो जाता है। किसी को कोरे उपदेशो से सज्ञान बनाना तो उसे ठोक-पीट कर वैद्यराज बनाना है। मैंने मृदु उपाय से काम लिया है। आशा है, पाठको को यह प्रिय लगेगा और वे इस ग्रन्थ में प्रस्तुत स्वाध्याय की सामग्री का भलीभाँति उपयोग तथा उपभोग करेंगे।

४. अन्तिम बात

'मनुष्य का विराट् रूप' के सम्बन्ध मे मुझे जो-कुछ निवेदन करना था, मैं कर चुका। मुझे विश्वास है कि भ्रष्टाचार के इस वृद्धि-काल मे मेरी यह सदाचार-विषयक कृति किसी अंश तक लोकोपयोगी सिद्ध होगी। अन्धकार मे मिट्टी का दीपक भी काम देता है। मेरे आधुनिक 'सूर्य-वंशी' (प्रकाशक) मित्र श्री विश्वनाथ एम० ए० ने इसको बड़े उत्साह से प्रकाशित किया है। इसका नाम भी उन्हींका सुझाया हुआ है। वे यदि हठ न करते तो संभवतः अभी यह ग्रन्थ प्रकाश में न आता। प्रकाशक के बिना तो विधाता की रचना भी अन्धकार मे पड़ी रहती है। इसलिये मुझे अपने प्रकाशक मित्र के प्रति कृतज्ञ होना चाहिये। इस ग्रन्थ को लिखने मे मैंने

जिन विद्वानों की कृतियों से लाभ लिया है, उन सबके प्रति मैं आदरपूर्वक अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। यथास्थान उनका उल्लेख कर दिया गया है।

वसन्त-निवास,
सुलतानपुर, अवध।
२०-३-५२

-आनन्दकुमार

इस ग्रन्थ में क्या है?

[विषय-सूची]

: १ :

मनुष्य का विराट् रूप

१—एक मनुष्य क्या कर सकता है ?

एक सूर्य सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित कर देता है; आग की एक चिनगारी समस्त जगत् को प्रज्वलित कर सकती है; रोग का एक कीटाणु महामारी के रूप में प्रकट हो जाता है । एक परमाणु में कितनी शक्ति होती है, इसे हम आज प्रत्यक्ष देख-सुन रहे है । हमारे प्राचीन मनीषियों ने आज से सहस्रो वर्ष पूर्व ही जान लिया था कि एक-एक कण में असीम शक्ति व्याप्त है । ससार में शक्तिहीन और निरर्थक कुछ भी नहीं है । एक शून्य भी किसी संख्या के महत्व को दस गुणा वढ़ा देता है । आँख का छोटा तिल भी लोक को प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष तथा जीवन को प्रकाशमय या अन्धकारमय वनाने की क्षमता रखता है । हिन्दू शास्त्रो के अनुसार, कहते है कि प्रलय के अन्त में एकार्णव में एक शिशु ही शेष रहता है । वही सृष्टि का पुनर्निर्माण करता है । एक छोटा-सा वीज भी एक विशाल वृक्ष को जन्म देकर एक महाकानन की सृष्टि कर सकता है ।

एक मनुष्य क्या कर सकता है ? मनुष्य तो विधाता की रचना का सबसे वड़ा चमत्कार और सर्वप्रधान जीव माना जाता है । भारतवर्ष में आजतक जो सबसे वड़ा विद्वान् हुआ है, उसने वहुत सोच-विचार कर यह मत प्रकट किया है—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि—
नहि मानुपात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ॥"—व्यास ।

अर्थात्—यह भेद की वात मै तुमको वताता हूँ मनुष्य से बढ़कर संसार में अन्य कुछ नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि'—मै ही ब्रह्म हूँ—की भावना

से भी यही व्यक्त होता है कि मनुष्य वास्तव में संसार का सर्वशक्ति-सम्पन्न प्राणी है। अबतक मनुष्य ने जो-कुछ किया है उससे यही प्रमाणित होता है कि उसमें अद्भुत और अनन्त शक्तियाँ हैं। उसके लिये कोई पद, कोई वैभव, किसी भी प्रकार की सम्पदा दुर्लभ नहीं है। अपने पुरुषार्थ से एक व्यक्ति कितना विराट् और विलक्षण हो सकता है, इसकी कोई सीमा नहीं है। लौकिक जीवन में अलौकिक शक्तियों का उपार्जन करके वह असम्भव को भी सम्भव, अलभ्य को भी सुलभ बना देता है। अनेक महापुरुषों के लोकोत्तर चरित्र से यही प्रकट होता है कि मनुष्य के लिये कुछ भी दुष्कर और दुष्प्राप्य नहीं है। वह सर्वसमर्थ है; ईश्वर का एक जीता-जागता नमूना है। उसकी योग्यता का अनुमान इन बातों से लगाया जा सकता है—

(क) एक व्यक्ति राम की भांति ईश्वरत्व प्राप्त कर सकता है—नर से नारायण होकर विश्व-वंद्य, विश्वात्मा बन सकता है; अपने पौरुष-पराक्रम से वह मनुष्य से देवता हो सकता है। इस नश्वर जगत् में, जहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है, विधि-विधान के विपरीत वह मरकर भी सदा-सर्वदा के लिये अमर रह सकता है। तत्त्वदर्शियों ने उसे अमृतपुत्र कहा ही है। कितने ही ऐसे महापुरुष हैं जिनका अस्तित्व उनकी मृत्यु के सहस्रों वर्ष बाद भी नष्ट नहीं हुआ है। तुलसीदास मरकर भी अभी तक कंठ-कंठ से बोलते हैं और अपना लोकोपकारी-कार्य भी करते हैं। हमें यह मानना चाहिये कि मनुष्य में ऐश्वर्यशाली और अविनाशी होने के तत्त्व हैं। वह अपनी महिमा के साथ अपनी आयु को भी बढ़ा सकता है, अथवा यह कहिये कि स्वयं विधाता बनकर अपने रूप में ईश्वर को जन्म दे सकता है।

(ख) एक व्यक्ति शरीर से वामन होकर भी अपने व्यक्तित्व—शक्ति-प्रभाव से विराट् हो सकता है। कृष्ण के विराट् रूप का यही रहस्य है कि मनुष्य का सारा संसार उसीके भीतर समाया रहता है, उसका स्वरूप उसके शरीर से कहीं अधिक विशाल और व्यापक है। वह विश्वरूप हो सकता है, अपने क्षेत्र को विस्तृत बनाकर संसार को अपने

भीतर तथा बाहर छाया की भाँति रख सकता है। अमेरिका के महामान्य मनीषी एमर्सन के कथनानुसार, कोई भी महान् संस्था केवल एक व्यक्ति की विस्तारित प्रतिच्छाया मात्र होती है—"An institution is the lengthened shadow of one man." एक मनुष्य अपने-आप में एक संस्था बन सकता है। लोक की सद्भावनाओं को अपनी ओर आकर्षित करके वह चाहे तो अपने को शक्ति-केन्द्र बना सकता है।

(ग) भर्तृहरि ने लिखा है कि जिस प्रकार अकेला तेजस्वी सूर्य सारे जगत् को प्रकाशमान कर देता है, उसी प्रकार एक ही अकेला शूरवीर सारी पृथ्वी को जीत कर वश में कर लेता है—

"एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरिततेजसा॥"—नीतिशतक।

प्राचीन काल में अनेक विश्वविजयी लोकनायक हो चुके हैं। केवल शस्त्र-बल से ही नहीं, विद्या-बुद्धि से भी लोग संसार को जीत चुके हैं। बुद्ध और गाँधी की सांस्कृतिक विजय से यह सिद्ध होता है कि एक मनुष्य जन-समुदाय पर विचारो से भी शासन कर सकता है। उसके आत्मबल के आगे विरोधियो का संख्याबल परास्त हो जाता है।

(घ) एक मनुष्य अपने साथ-साथ सारे देश, समाज और युग का भी उद्धार कर सकता है। अपने प्रभाव से वह चेतनाहीन प्राणियो को भी नवजीवन देने की शक्ति रखता है। एक आँख वाला हजारों अन्धो को रास्ता दिखा सकता है। संस्कृत की एक कहावत है—

'उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा'—

जिधर सूर्य उदय होता है, उसीको लोग पूर्व दिशा मानते है। तेजस्वी पुरुष के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है। जिधर वह झुकता है, उधर लोक झुक जाता है; जहाँ वह रहता है, वह साधारण स्थान भी तीर्थ बन जाता है; जहाँ वह जाता है, वह भूमि जनता के लिये स्वर्ग से भी बढ़कर हो जाती है—'जहँ-जहँ रामचरन चलि जाहीं; तेहि समान

अमरावति नाहीं'—मानस। उसकी महिमा से देश और काल की भी महिमा बढ़ जाती है।

(ङ) एक मनुष्य स्वयं निर्बल होकर भी प्रबल शक्ति उत्पन्न कर सकता है। एच० जी० वेल्स ने इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक की कटु आलोचना करते हुये लिखा है कि मुहम्मद के द्वारा एक ऐसी शक्ति का जन्म हुआ जो मुहम्मद से कहीं बड़ी थी—वह शक्ति इस्लाम की शक्ति थी।

बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारों और औद्योगिक संस्थाओं की ओर ध्यान देने से यह बात सुगमता से समझी जा सकती है कि एक व्यक्ति किस प्रकार अपने से बड़ी शक्तियों का निर्माण और संगठन कर सकता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। अयोग्य व्यक्ति भी सुयोग्य पुत्र उत्पन्न कर लेता है।

(च) स्वर्ग की समस्त कल्पित विभूतियों को इसी शरीर से प्राप्त करके सुख-शान्ति और सम्मान के साथ जीवन व्यतीत करना केवल मनुष्य के वश की बात है। वह हर प्रकार के भव-वैभव का सम्पादन और उपभोग करके अपने जीवन-काल में ही अपनी सारी कामनायें पूरी कर सकता है।

श्रेष्ठ पुरुषों के चरित्र से यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य तुच्छ जीव नहीं है; उसके भीतर भगवान् का तेज, सृष्टि का सत्त्व, सिद्धि का स्रोत रहता है। वह जैसा चाहे, वैसा अपने को बना सकता है; जितना ऊँचा उठना चाहे, उठ सकता है; प्रत्येक दशा और प्रत्येक दिशा में उन्नति कर सकता है।

२—कौन और कब उन्नति कर सकता है ?

लघुता त्यागकर महत्ता प्राप्त करने में ही जीवन की सफलता है। उपनिषद् के मत से महत्ता ही सुख है, लघुता में सुख नहीं है—'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखम्।' वेद का आदेश है कि 'प्रत्येक मनुष्य सबके नेता प्रकाश-स्वरूप भगवान् की मित्रता प्राप्त करे और संसार के प्रत्येक धन को पाने की चेष्टा करे और पुष्टि के लिए पर्याप्त वस्तुएं प्राप्त करें'—

"विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे ॥"—ऋग्वेद।

यही महत्ता का महामंत्र है। उन्नति का द्वार सबके लिए नित्य खुला है। भगवान् की विभूतियाँ परलोक में नहीं, इसी लोक मे सर्वसुलभ है। प्रत्येक ईश्वरपुत्र, चाहे वह जिस स्थिति मे हो, ईश्वर की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी है। सब प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करना उसका कर्त्तव्य है। साधारण-से-साधारण व्यक्ति को भी आत्मोत्कर्ष के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

कुल-परम्परा और काल मुख्य नहीं है :—बहुत से लोग यह सोचते हैं कि हमारे पुरखे ही बड़े-बड़े काम कर सकते थे और जिस काम को वे लोग नहीं कर पाये, उसे हम लोग स्वप्न में भी नहीं कर सकते। यह उनकी आत्मदीनता है। स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर कहा है कि 'प्रत्येक वालक यह सन्देश लेकर इस ससार में आता है कि ईश्वर अभी मनुष्यों से हताश नहीं हुआ है।' प्रत्येक बालक से संसार को नई-नई आशायें रहती हैं क्योंकि, कवि रवीन्द्रनाथ के ही कथनानुसार, वह आदि-पुरुष का नवीन सस्करण होता है।

महाकवि अश्वघोष ने गौतम बुद्ध को उनके पूर्वजो से श्रेष्ठ बताते हुये लिखा है कि वेद का विभाग वसिष्ठ ने नहीं, व्यास ने किया; रामायण की रचना च्यवन ने नही, वाल्मीकि ने की; चिकित्सा शास्त्र अत्रि नही लिख सके, उनके पुत्र आत्रेय ने लिखा; कृष्ण ने जो किया, उसे उनके पूर्वज नहीं कर सके थे। "इसलिए आयु और काल प्रमाणभूत नही है। कोई किसी काल में श्रेष्ठ वन जाता है, कोई किसी में। राजाओ और ऋषियों में जिन कार्यों को उनके पूर्वज नही कर सके, उन्हे उनके पुत्रों ने कर दिखाया"—

"तस्मात्प्रमाणं न वयो न कालः,
कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।

राज्ञाम् ऋषीणां चरितानि तानि,
कृतानि पूर्वैरकृतानि पुत्रैः ॥"
—बुद्धचरित प्रथम अध्याय।

संस्कृत के एक नीतिकार ने भी कहा है कि कुम्भ एक कुँआ भी नहीं सोख सकता था, लेकिन कुंभज समुद्र पी गये—

"कुम्भोऽपि कूपमपि शोपयितुं न शक्तः।
कुम्भोद्भवेन मुनिनाऽम्बुधिरेव पीतः॥"

अधिरथ जीवन भर रथ ही हाँकता रहा, परन्तु कर्ण दिग्विजयी महारथी बन गया। इस प्रकार के कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति को अपने हृदय से इस प्रकार की भावना निकाल देनी चाहिये कि जो-कुछ कर सकते थे, बाप-दादे ही कर सकते थे और अब इस कलियुग में किसी को कोई सिद्धि मिल ही नहीं सकती। सिद्धि तो बहुत-से लोगो को नित्य मिलती दिखाई देती है।

आयुर्बल भी मुख्य नहीं है:—यदि कोई यह सोचता है कि थोड़ी आयु में क्या हो सकता है, तो उसे उन महापुरुषो के जीवन की ओर ध्यान देना चाहिये जिन्होने थोड़ी आयु में बहुत बड़े-बड़े काम किये है। शंकराचार्य ने ३२ वर्ष की आयु में जितना किया, उतना बहुत से लोग ३०० वर्ष की आयु में भी नहीं कर सकते थे। सन्त ज्ञानेश्वर ने १५ वर्ष की अवस्था में गीता की सुप्रसिद्ध ज्ञानेश्वरी टीका लिखी। १९–२० वर्ष के भौतिक जीवन में उन्होंने अपने को अमर बना लिया। इतिहासप्रसिद्ध पराक्रमी सिकन्दर ने भी अपने ३०–३२ वर्ष के जीवन में ही सारे वीरता के कार्य किये थे। वास्तव में, मनुष्य अपने सत्कर्म से आयु की अवधि बढ़ा लेता है। थोड़े समय में भी वह अधिक काम कर सकता है। अमेरिका के प्रख्यात आविष्कारक एडिसन से एक बार किसी ने पूछा कि आपकी आयु क्या है, तो उसने उत्तर दिया १३५ वर्ष। प्रश्नकर्त्ता को इस पर आश्चर्य हुआ। तब एडिसन ने फिर कहा—यद्यपि काल-गणना के

अनुसार मैं इस समय ७६ वर्ष का ही हूँ, परन्तु इतने समय में मैंने जितना काम किया है उसको करने के लिए साधारण मनुष्य को १३५ वर्ष चाहिये।

प्राचीन साहित्य में महर्षि अष्टावक्र का ऐसा ही उदाहरण मिलता है। उन्होंने १२ वर्ष की आयु में वेद-शास्त्र-पारंगत होकर वृद्धो का अधिकार प्राप्त कर लिया था। इसी अवस्था में वे अपने पिता के वैरी धुरन्धर विद्वान् वन्दी से वाग्युद्ध करने महाराजा जनक के दरवार में गये थे। वहाँ द्वारपाल ने इन्हे बालक समझकर भीतर प्रवेश करने की अनुमति नहीं दी। तब अष्टावक्र ने बड़े स्वात्माभिमान के साथ कहा—"हे द्वारपाल, यदि इस यज्ञशाला में वृद्धो का ही प्रवेश हो सकता है, तो मेरा प्रवेश भी उचित है। हमें भी तुम वृद्ध और वृद्धो के समान आचरण-वाला समझो; हम विद्या से सम्पन्न है, अर्थात्, ज्ञान-वृद्ध है।"—

"यद्यत्र वृद्धेषु कृतः प्रवेशो युक्तं प्रवेष्टुं मम द्वारपाल।
वयञ्च वृद्धाश्चरितव्रताश्च वेदप्रभावेन समन्विताश्च ॥"

—वनपर्व।

अष्टावक्र को भीतर जाने की आज्ञा मिल गई। वहाँ उन्होंने वन्दी को शास्त्रार्थ में परास्त करके अपनी ज्येष्ठता-श्रेष्ठता का परिचय दिया। वयोवृद्ध पण्डितो ने भी उनकी वन्दना की।

तात्पर्य यह है कि अल्प आयु में भी मनुष्य गुण-कर्म से महत्ता पा सकता है। बहुतो को सौ वर्ष में भी जो सिद्धि नही मिलती, कितनो ही को एक वर्ष, एक दिन या एक घंटे में मिल जाती है। यदि किसी ने यौवनकाल में कुछ नही किया तो उसे यह न समझ लेना चाहिये कि उसका जीवन ही व्यर्थ गया। बुद्ध और मुहम्मद आदि ने अपने कार्य अपनी ४० वर्ष की आयु के बाद प्रारम्भ किये थे। इस समय के अनेक सत्पुरुषों ने भी ऐसा ही किया है। अंग्रेजी मे एक कहावत है—Life begins at forty—अर्थात्, चालीस वर्ष की अवस्था से जीवन

प्रारम्भ होता है। प्रत्येक अवस्था का प्रत्येक क्षण मनुष्य की उन्नति का काल बन सकता है। बुद्धिमान् के लिये संसार में कभी काल का अकाल नही हो सकता।

भाग्य भी प्रधान नहा है:—उन्नतिशाली होने के लिए भाग्यवान् होना भी आवश्यक नहीं है। जो लोग यह समझकर हताश बैठे रहते हैं कि भाग्य से ही सिद्धि मिलती है, वे वास्तव में अपने अज्ञान का दण्ड भोगते हैं। भाग्यावलम्बी ही प्रायः सबसे बड़े अभागे होते हैं।

संसार में अनेक पुरुष साधारण स्थिति में जन्म लेकर अपने पौरुष से ऊँचे उठ जाते हैं। पंडितराज जगन्नाथ की यह अन्योक्ति उनके सम्बन्ध में सार्थक होती है—

"निसर्गादारामे तरुकुलसमारोपसुकृती।
कृती मालाकारो बकुलमपि कुत्रापि निदधे॥
इदं को जानीते यदयमिह कोणान्तरगतो।
जगज्जालं कर्त्ता कुसुमभरसौरभ्यभरितम्॥"

—भामिनी-विलास।

(अर्थात्—वृक्षों के लगाने में परम कुशल, कृती माली ने वाटिका मे कहीं, सहज भाव से, एक बकुल का पौधा लगा दिया। कौन जानता था कि एक कोने में पड़ा हुआ वही उपेक्षित बकुल का पेड़ अपने सुमनो की सुगन्ध से संसार को परिपूरित कर देगा।)

विदुषी विदुला ने अपने पुत्र संजय को उपदेश देते हुये सत्य ही कहा था कि अपनी पूर्व की असमृद्धि से अपने को क्षुद्र नही मान लेना चाहिये; ऐश्वर्य की दशा तो विचित्र है—यह नहीं होकर भी हो जाता है और होकर भी नष्ट हो जाता है—

"पुत्र! नाऽऽत्माऽवमन्तव्यः पूर्वाभिरसमृद्धिभिः।
अभूत्वा हि भवन्त्यर्था भूत्वा नश्यन्ति चाऽपरे॥"

—महाभारत।

वस्तुतः जिसे हम दुर्भाग्य, विपत्ति, दरिद्रता या दुर्दशा कहते हैं वह मनुष्य की वृद्धि के लिये उतनी ही उपयोगी होती है जितनी वृक्ष के लिये खाद। भगवान् कृष्ण ने एक स्थान पर कहा है कि जिसका मैं सच्चा कल्याण चाहता हूँ उसका सर्वस्व छीन लेता हूँ—'यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्।' दूसरे शब्दो में, भगवत्कृपा से ही मनुष्य निर्धन और निस्सहाय होता है। उसी दशा में वह अपना पौरुष-प्रताप प्रकट करके उन्नतिशील होता है। सिद्ध पुरुषो में अधिक संख्या उन्हीं लोगों की मिलेगी जिन पर भगवान् ने इस प्रकार का अनुग्रह किया था। संसार के बडे-बड़े काम उन्हीं लोगो के हाथो हुये है जो भौतिक ऐश्वर्य—सुख-सम्पदा-सुयोग से सर्वथा वञ्चित थे। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द का यह कथन सदा स्मरण रखने योग्य है—"अत्यन्त निराशाजनक स्थिति भावी अभीष्ट की जननी है। केवल पलंग पर पड़े हुये और भोजन-विलास करते हुये कोई बड़ा आदमी नहीं हुआ।" उन्हीके शब्दों में—'बलवान् आत्मायें प्रतिकूल दिशा में ही उन्नति करती है।' कठिन परिस्थितियो में ही उद्योग करके सफल होने का सुअवसर मिलता है। इसलिए भाग्यहीनता से भयभीत होकर पुरुषार्थहीन नही बनना चाहिये।

साधन-सम्पन्नता परमावश्यक नहीं है:—बाह्य साधनों की कमी के कारण असमर्थता का अनुभव करना कायरता है। हमारे पास फ़ाउन्टेन पेन नहीं है, इसलिए हम लेखक कैसे बनें; घड़ी नहीं है, इसलिये समय का ध्यान कैसे रक्खें; बिस्तरबन्द नही है, इसलिये यात्रा कैसे करें; अभी कुर्सी-मेज़ नहीं है, इसलिये दफ़्तर का काम कैसे करें; रेशमी कुर्त्ता नहीं बना है, इसलिये किसी से मिलने-जुलने कैसे जायें; अच्छे विद्यालय ही नहीं बने है, इसलिये बुद्धिमान् कैसे बनें; दवा और डाक्टर नहीं है, इसलिये स्वस्थ कैसे बनें; लंगोट ही नही तो कसरत कैसे करें—इस प्रकार के तर्क यदि कोई दे तो हम यही कहेंगे कि 'नाच न आवे आंगन टेढ़'। अथवा 'न नौ मन तेल जुटेगा, न राधा नाचेगी।' यदि राधा ठीक से

नाचने लगतीं तो संभवतः नौ मन से अधिक तेल पुरस्कार-रूप में पा जातीं।

मनुष्य साधनो का दास नहीं है। महात्मा गांधी ने जब शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य से युद्ध छेड़ा, तब उनके पास क्या साधन थे ? उनके पास एक भी बन्दूक नहीं थी, फिर भी वे चरखा लेकर भिड़ गये और लड़ाई जीत गये। मोटे-ताजे सशस्त्र सिपाहियो के विरुद्ध वे अस्त्र-वस्त्र-हीन अधमरे ग़रीबो का जत्था लेकर खड़े हो गये। क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि प्रबल साधनो के न रहने पर भी मनुष्य अपने उद्देश्य में सफल हो सकता है ?

उपयोगी साधनो का संग्रह और आविष्कार करना मनुष्य के अधिकार में है। निर्धन व्यक्ति भी अपनी कर्मण्यता से पैसेवाला हो जाता है। महाभारत में कहा है कि कोई चाहे ऐश्वर्यहीन भी क्यो न हो, यदि विद्यायुक्त है तो प्रकाशित हो सकता है—'अपि चेह श्रिया हीनः कृतविद्यः प्रकाशते'—वनपर्व। जिस प्रकार लोग थोड़ी-सी भी आग को फूंककर बढ़ा लेते है, उसी प्रकार मेधावी पुरुष थोड़े-से मूलधन से भी अपने को उन्नत कर लेता है—

"अप्पकेनापि मेधावी पाभतेन विचक्खणो।
समुट्ठापेति अत्तानं अणुं अग्गिं व सन्धमं॥"
—जातक।

स्थान और संख्या-बल भी नितान्त आवश्यक नहीं हैं:—यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य अच्छे स्थान पर हो और अच्छे-अच्छे सहायको से सम्पन्न हो तभी वह जीवन में उन्नति कर सकता है। बहुत से लोग यह सोचकर कि हम साधारण स्थान या छोटे पद पर हैं और अकेले है, दबके रहते हैं। उन्हे उन स्वावलम्बी ऋषि-महात्माओं का ध्यान करना चाहिये जिन्होने निर्जन वनो में, फूस के झोपड़ो में रहकर बड़े-बड़े काम किये हैं। सेवाग्राम के सन्त का आदर्श तो हमारे सामने ही है। मनुष्य जहां हो वहीं से उन्नति कर सकता है। महात्मा गाँधी ने

अपनी आत्म-कथा में लिखा है—"अनुभवों के आधार पर मेरा यह विश्वास बन गया है कि यदि नीयत साफ़ हो तो संकट के समय सेवक और साधन कहीं-न-कहीं से आ जुटते हैं।" एमर्सन ने भी एक स्थान पर कहा है कि "यदि एक आदमी भी अडिग इच्छा-शक्ति के साथ किसी स्थल पर जम कर बैठ जाये और अपनी अन्तरात्मा के अनुसार कार्य प्रारम्भ कर दे तो सारी दुनिया उसके पास आ सकती है।" मनुष्य जब सदुद्देश्य के साथ किसी महत्त्वपूर्ण कार्य में जुटता है तो उसे शुभचिन्तकों की कमी नही रहती। लोक अपने-आप उसकी सहायता के लिये खड़ा हो जाता है।

कुलबल, सुअवसर, आयुर्बल, सौभाग्य, साधन, स्थान और मित्रबल आदि एक अंश तक उसकी उन्नति मे अवश्य सहायक होते हैं। इनकी सहायता से कष्टसाध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाता है और मनुष्य की शक्ति बढ़ती है। उदाहरणार्थ, धन की गरमी मनुष्य के तेज को बढाती है—'ऊष्मापि वित्तजो वृद्धि तेजो नयति देहिनाम्'—पंचतन्त्र। इसी प्रकार मित्रों के बढ़ जाने पर बल बढ़ जाता है—'मित्रसंग्रहणे बलं संपद्यते'—कौटिल्य। सौभाग्य से कितनी ही सुविधाये अनायास मिल जाती है। अच्छे स्थान और अनुकूल समय में कार्य करने से शीघ्र सफलता मिलती है। यह सब ठीक है। परन्तु यदि मनुष्य में कुछ अपनापन न हो तो उसके लिये ये सब कापुरुष के हाथ में ढाल-तलवार के बराबर है। वह इनका सदुपयोग नहीं कर सकता। और यदि उसमें आत्मसामर्थ्य हो तो वह इनके अभाव में भी स्वावलम्बन-मात्र से अपने व्यक्तित्व का निर्माण और समस्त लोकसम्पत्तियों का उपार्जन कर सकता है। मनुष्य स्वयं अपने को अमूल्य बना सकता है। कौटिल्य ने सत्य ही कहा है कि पुरुष-रूपी रत्न का कोई मूल्य नहीं हो सकता—'नास्त्यर्घः पुरुषरत्नस्य'। इसलिये हमें यह मानना चाहिये कि अपना सबसे बड़ा सहायक मनुष्य स्वयं है। अपने आत्मबल से वह आत्मोद्धार कर सकता है, और उसे करना भी चाहिये क्योंकि यही हरि-इच्छा है जिसको पूर्ण करना मनुष्य का धर्म है।—

"उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥"

—गीता ।

अर्थात्—अपना उद्धार आप ही करे, अपने को गिरने न दे, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र या शत्रु है।

महर्षि वसिष्ठ ने सत्य कहा है कि 'मनुष्य जो कुछ कहीं और कभी प्राप्त करता है वह सब अपनी ही शक्ति के प्रयोग से प्राप्त करता है, और किसी के द्वारा नहीं।'—

"यद्यदासाद्यते किञ्चित्केनचित्क्वचिदेव हि ।
स्वशक्तिसंप्रवृत्त्या तल्लभ्यते नान्यतः क्वचित् ॥"

—योगवासिष्ठ ।

स्वावलम्बन सर्वसिद्धिदायक है। जितने भी बड़े-बड़े विद्वान्, धनी, नेता आज तक हुये हैं, वे सब स्वावलम्बी थे। एमर्सन ने कहा है कि स्वावलम्बी व्यक्ति मनुष्यों और देवताओं को भी अत्यधिक प्रिय है, अर्थात् देवता और मनुष्य दोनों ऐसे व्यक्ति का स्वागत करते हैं, उसके अभ्युदय की कामना करते हैं—'Welcome evermore to Gods and men is the self-helping man'—*Emerson*.

"कौन भाग्यशाली नर होगा, जग में उससे बढ़ के ।
परमोन्नति जो करे स्वनिर्मित सोपानों पर चढ़ के ॥"

—अंगराज ।

प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करना चाहिये। आत्मनिर्माण की थोड़ी-बहुत योग्यता सब में होती है।

३—अवनति का प्रधान कारण

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि स्वावलम्बन से ही प्रत्येक मनुष्य

महिमावान् हो सकता है, तो वह क्यों नही हो जाता। कौन ऐसा है जो अपनी उन्नति नहीं चाहता ? फिर भी लोग उन्नति क्यों नहीं करते ?

इसका सीधा उत्तर इस प्रश्न के रूप में दिया जा सकता है—यह अनुभवसिद्ध है कि नियमित आहार-विहार, व्यायाम से मनुष्य स्वस्थ रह सकता है, फिर भी अधिकतर लोग अस्वस्थ क्यों बने रहते हैं ? क्या कोई ऐसा है जो स्वस्थ रहना नही चाहता ? फिर भी लोग स्वस्थ क्यों नहीं होते ? आप यही कहेंगे कि प्रायः लोग अपनी संयमहीनता, आलस्य, असावधानी, अल्पज्ञता के कारण शरीर से अस्वस्थ रहते हैं। सम्पूर्ण जीवन के सम्बन्ध में भी यही सत्य है। जिस प्रकार स्वास्थ्य तो सभी चाहते हैं, परन्तु उसके लिए उचित प्रयत्न नहीं करते, उसी प्रकार आत्मोत्थान की लालसा सबके हृदय में होती है परन्तु वे आलस्य, अज्ञान अथवा निर्मनस्विता के कारण उद्योग नहीं करते। मुख्यतः मनुष्य की व्यक्तिगत दुर्बलतायें ही उसकी उन्नति में बाधक होती हैं।

यह स्मरण रखना चाहिये कि कोई व्यक्ति जन्म से ही सर्वसमर्थ या पूर्णपुरुष उत्पन्न नही होता। जन्म लेते ही किसी शूरवीर या महापण्डित का बालक भी प्रौढ़ अथवा ज्ञानी नही बन जाता। पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा के अभाव में मनुष्य वयस्क होकर भी बालक-जैसा ही निर्बल और अज्ञानी बना रहता है। यदि वह अभ्यास न करे तो लिखना-पढ़ना क्या, मनुष्य की बोली बोलना भी नही जान सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव-योनि में जन्म लेने मात्र से कोई समस्त मानव-सुलभ विभूतियों से सम्पन्न नहीं होता। एक दार्शनिक का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य का जीवनारम्भ वहीं से होता है जहाँ से लाखों वर्ष पूर्व हुआ था। इसका अर्थ यह है कि जन्म से मनुष्य असमर्थ, अयोग्य और असभ्य ही होता है। जिन विशेषताओं के कारण वह शक्तिमान्, सुयोग्य और सत्पुरुष बनता है, उनका उपार्जन उसे स्वयं करना पड़ता है। राम और कृष्ण, यद्यपि भगवान् के अवतार माने जाते हैं, परन्तु उनके चरित्र का अध्ययन करने से पता चलता है कि उन्हें भी आत्मपूर्णता के लिए साधना करनी पड़ी

थी। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक सुकरात ने ठीक ही कहा है कि कुछ लोग जन्म से ही अधिक प्रतिभाशाली हो सकते है और कुछ लोग कम; परन्तु सबको समान रूप से अपने गुणो के विकास के लिए शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता होती हैं। जो विशेष प्रतिभा-सम्पन्न, अर्थात्, विलक्षण होते है उन्हे इनकी आवश्यकता और भी अधिक होती है, अन्यथा वे अपनी सहज शक्तियो का दुरुपयोग करके अपनी भयंकर हानि कर सकते है।

संक्षेप मे, हमें यही समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी में उन्नति के लिए सब गुण बीज-रूप में रहते हैं। उनके विकास से ही मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है और तभी जीवन में सफलता मिलती है। जो व्यक्ति अपनी स्वाभाविक शक्तियो का विकास नहीं करता, अथवा यह कहिये कि जीवनदायिनी शक्तियो का संग्रह और सदुपयोग नही करता, उसका जीवन अपूर्ण और निष्फल हो जाता है। जीवन सब से बड़ी कला है। कोई भी कला सहजसाध्य नही होती। जीवन की कला में सफलता प्राप्त करना तो और भी कठिन है। विश्व-विख्यात कर्मोद्योगी हेनरी फोर्ड ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है—'It is failure that is easy. Success is always hard.'—असफल होना ही सहज है, सफलता तो सदैव कष्टसाध्य है। फिसलना सहज है, चढ़ना कठिन। अवनति अपने-आप होने लगती है, उन्नति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, अपने-आपको उठाना पड़ता है।

इन बातो से यह स्पष्ट हो जायगा कि वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अपनी उन्नति या अवनति के लिये स्वयं उत्तरदायी है। सन्त कबीर ने ठीक ही कहा है—

"जिन ढूँढा तिन पाइया, गहिरे पानी पैठ।
मैं बपुरा बूड़न डरा, रहा किनारे बैठ॥"

४—मनुष्य कैसे उन्नति कर सकता है ?

आत्मविश्वासः—आत्मपूर्णता और किसी भी महत्कार्य की सिद्धि के लिये पहली आवश्यकता यह है कि मनुष्य में आत्म-विश्वास हो। एमर्सन ने कहा है कि आत्मविश्वास सफलता का मुख्य रहस्य (कारण) है—'Self-trust is the first secret of success.' अंगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि टेनीसन ने भी एक स्थान पर कहा है—'Self-reverence, Self-knowledge, Self-control, these three alone lead life to sovereign power.' अर्थात् आत्मविश्वास, आत्मज्ञान और आत्मसंयम केवल यही तीन जीवन को परम शक्ति-सम्पन्न बना देते है।

आत्मविश्वास का मुख्य उद्देश्य है आत्मक्षुद्रता का निराकरण। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के मत से आत्मदीनता के समान् भयंकर और कुछ नहीं है— 'There is nothing as bad as the poverty of the spirit.' मनुष्य जब अपने को अज्ञान-वश तुच्छ और नगण्य समझने लगता है, तब उसका सचमुच आत्मपतन हो जाता है। इसका एक सुन्दर दृष्टांत है।

किसी जंगल के पास एक किसान मज़दूरों से अपना खेत कटवा रहा था। तीसरे पहर वह मज़दूरो से बोला—भाइयो, जल्दी करो; सन्ध्या के पहले सारा काम समाप्त करना है; मुझे सिंह से भी उतना भय नहीं लगता जितना कि सन्ध्या से; वह अब दूर नही है।

पास के खेत में एक सिंह बैठा हुआ इसे सुन रहा था। उसने समझा कि सन्ध्या कोई महाबलवान् जीव है। उसके भयंकर स्वरूप की कल्पना करके वह अपनी ही दृष्टि में बहुत छोटा और निर्बल बन गया। किसान तो सायंकाल में मज़दूरों के साथ चला गया। सिंह सन्ध्या के भय से वहीं दबका बैठा रहा। आधी रात होने पर खेत के पास कुछ खड़खड़ाहट सुनाई पड़ी। सिंह ने समझा कि सन्ध्या नाम का भयंकर जीव आ पहुँचा। वह बिल्ली की तरह दबक गया। इतने में किसी ने आकर उसे दो लट्ठ

लगाये। वास्तव में वह एक धोबी था जो अपने गधे की खोज में वहां आया था। धोबी ने अँधेरी रात में उसी सिंह को गधा समझ कर बाँध लिया। उसे वह घसीटता हुआ घर लाया और खूँटे से बाँधकर स्वयं सोने चला गया। पहर रात रहे धोबी ने उस गधे पर कपड़ों का गट्ठर लाद कर घाट की ओर हाँक दिया। पीछे-पीछे वह चला, आगे-आगे उसका नया गधा—सिंह। गर्दभसिंह मार खाने के भय से जल्दी-जल्दी चलता था, इससे धोबी थोड़ा पीछे छूट गया। उसी समय एक दूसरे सिंह ने अपने कुल-रत्न को गट्ठर लादे, मुँह लटकाये जाते देखा। उसने पूछा—भाई, तुम गधा कब से और कैसे बन गये ?

गर्दभसिंह बोला—भैया, धीरे-धीरे बोलो। मेरे पीछे कोतवाल साहब चले आ रहे हैं। भागो, नहीं तो तुम्हे भी ये पकड़ लेंगे। इनका नाम सन्ध्या है। कल तीसरे पहर एक किसान अपने साथियों से कह रहा था कि वह सन्ध्या से जितना डरता है, उतना सिंह से भी नहीं। इसे सुनकर, सन्ध्या के भय से, मैं बकरी बना एक खेत में पड़ा रहा। आधी रात को इसने आकर पहले तो मुझे पीटा, और फिर बाँध दिया। इसमें अपरम्पार शक्ति है। मैं अब इसी का दास हूँ।

स्वाधीन सिंह ने कहा—मूर्ख, सन्ध्या नाम का कोई जीव तो होता नहीं; सन्ध्या तो अँधेरे को कहते हैं; किसान उससे इसलिये डरता है कि सन्ध्या होने से उसका काम बन्द हो जाता है। तू उससे क्यों डरता है ?

गर्दभसिंह बोला—अब मैं यहां नहीं रुकूँगा; देखो-देखो, महाकाल पीछे-पीछे डण्डा लिये चला आ रहा है; तुम उसकी आँख के आगे मत पड़ना।

स्वाधीन सिंह ने देखा तो दुबला-पतला धोबी मन्द-मन्द गति से चला आ रहा था। उसने गर्दभसिंह से कहा—रे अनाड़ी, तू तो अपने को भूल कर सचमुच गधा हो गया है। वह तो एक दुर्बल मनुष्य है। तू भय का भूत बनाकर उसी के आगे झुक गया है। अपने स्वरूप को पहचान, अपने बल का ध्यान कर, सिंह है तो सिंह का स्वभाव मत त्याग।

गर्दभसिंह ठमकता हुआ बोला—अब मैं एक शब्द भी बोलूँगा तो सन्ध्या जी मेरी जीभ खींच लेंगे।

स्वाधीन सिंह ने उसे धिक्कारते हुए कहा—तू इस बात को मत भूल कि तू सिंह है; गट्ठर फेंककर दहाड़ता हुआ खड़ा तो हो जा; फिर देख क्या होता है। मैं तेरी सहायता के लिये खड़ा हूँ।

गर्दभसिंह का स्वात्माभिमान जगा। वह गट्ठर फेंककर गरजने लगा। धोबी ने ध्यान से देखा तो गधे के स्थान पर सिंह दहाड़ रहा था। वह उलटे पाँव भगा। गर्दभसिंह का गधापन दूर होगया। वह निर्भय होकर वन की ओर चला गया।

मनुष्य जब अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है और बाहरी विवशताओं के कारण अपने को छोटा मान लेता है, तब उसकी दशा गर्दभसिंह जैसी हो जाती है। वही मनुष्य जब स्वस्थ, सचेत होकर अपने सत्त्व-महत्त्व का अनुभव करने लगता है तब उसकी सोई हुई शक्तियां जग जाती हैं। इसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते है। जबतक भारतीय जनता अपने को अंगरेजों से हीन समझती थी, उन्हे प्रभु और अपने को उनके हाथ की कठपुतली मानती थी, तबतक वह निर्जीव, पराधीन और नतमस्तक बनी हुई थी। गाँधीजी के प्रभाव से उसी जनता का स्वात्माभिमान—आत्मविश्वास जब जागृत हो गया तो वह चैतन्य होकर स्वतंत्र और समर्थ होगई।

महर्षि वसिष्ठ ने योगवासिष्ठ में सत्य ही कहा है कि—'मै केवल इतना ही हूं'—इस भावना से विभु भी क्षुद्रता को प्राप्त होता है। मनुष्य तो मनोमय है। वह जैसा सोचता है, वैसा ही बन जाता है—'मानसं विद्धि मानवम्'—योगवासिष्ठ। अपने को मिट्टी का पुतला मानने से उसके जीवन में जड़ता आ जाती है। इसके विपरीत, अपने दिव्य रूप का ध्यान करने से स्वभाव और चरित्र में भी दिव्यता आजाती है। प्रत्येक मनुष्य की बनावट दो प्रकार की होती है—दिव्य और पार्थिव। प्रायः लोग

अपने जीवन के दुर्बल अंग का ही ध्यान रखते हैं और प्रबल पक्ष—दिव्यता—में विश्वास नहीं करते। यही आत्महीनता का कारण है। इससे मनुष्य में अपने सम्पूर्ण बल की स्वानुभूति नहीं होती और उसका मन बाहरी परिस्थितियों से परास्त, पराधीन हो जाता है। योगवासिष्ठ में कहा भी है कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूं'—इस संकल्प से मन दृढ बन्धन में पड़ जाता है—'नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद् बध्यते मनः।' अपने प्रति अविश्वास या मिथ्या विश्वास होने से मनुष्य की रही-सही शक्ति भी जाती रहती है। वह अपने को निस्सहाय और निर्बल मानने लगता है। 'जागत ही सोवत रहै तेहि को सकै जगाई!'—कबीर। अपने ही को खोकर कोई क्या कमायेगा! आत्मसमर्पण करने वाला भी कहीं विजयी होता है?

मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने क्षुद्र रूप को विशेष महत्त्व न देकर अपने विराट् रूप को देखे, अपने भीतर ब्रह्मशक्ति का अनुभव करे और उसमें विश्वास रक्खे। दैवी तत्त्व प्रत्येक जीवित प्राणी में होता है, अतएव सबको उसका अभिमान करने का अधिकार है। वेद का यह निर्णय है कि गोष्ठ में गायों की भांति सब देवता इसी शरीर में निवास करते हैं—'सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते'—अथर्ववेद। अतएव कोई कारण नहीं है कि कोई भी व्यक्ति अपने को नीच समझे। उसे अपने उस प्राण में विश्वास करना चाहिये जिसके लिये अनुभवी महर्षियों ने यह कहा है—

"प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥"

—प्रश्नोपनिषद्।

अर्थात्—'यह सब प्राण के वश में है और स्वर्ग में जो-कुछ है वह भी, हे प्राण, तेरे वश में है। हे प्राण, माता के समान पुत्रों का पालन कर, हमें श्री एवं प्रज्ञा प्रदान कर।'

प्राण की उपासना करना ही आत्मविश्वास है। इसीसे मनुष्य की

मनस्विता उद्दीप्त होती है, अपने भीतर अतिरिक्त शक्ति की अनुभूति और कुछ करने की प्रेरणा होती है। उसी अवस्था में वह किसी भी कार्य मे अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर कह सकता है कि 'मेरे दाहिने हाथ मे कर्म और सफलता बायें हाथ में है'—'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः'—अथर्ववेद। उसी अवस्था में मनुष्य जिसे बाहर खोजता है, उसे अपने ही रूप में पा सकता है। तभी वह विषम परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक महत्त्वाकाँक्षी व्यक्ति को सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका मेरी कॉरेली का यह उपदेश स्मरण रखना चाहिये—"भूतकाल और वर्त्तमान काल के महापुरुषो की शक्ति तुम्हारे अन्दर है—ऐसा जब तक तुम निश्चय न कर लो या ऐसी शक्ति का व्यावहारिक कार्यो मे उपयोग न करने लग जाओ, तब तक तुम कुछ भी नहीं कर सकते हो।" किसी भी दशा में अपनी आत्मवत्ता का परित्याग न करने में ही व्यक्तित्व की सार्थकता है। साधारण परिस्थिति की अपेक्षा विषमावस्था मे उसकी उतनी ही आवश्यकता होती है जितनी अन्धकार में दीपक की।

ध्रुव संकल्प:—ऊपर हम कह चुके है कि मनुष्य मनोमय या भावमय है। वह जैसी इच्छा करता है, वैसा ही बन जाता है। पंचतंत्र में कहा है—'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।' योगवासिष्ठ में भी महर्षि वसिष्ठ का मत है कि 'आत्मा जैसी-जैसी भावना करती है, वह शीघ्र वैसी ही हो जाती है और उसी प्रकार की शक्ति से पूर्ण हो जाती है'—

"यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम्।
तथैवापूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि॥"

—योगवासिष्ठ।

यही बात भागवत मे और भी स्पष्ट ढंग से कही गई है—मनुष्य स्नेह से, द्वेष से अथवा भय से जिस किसी में भी सम्पूर्ण रूप से अपने चित्त को लगा देता है, अन्त में वह तद्रूप हो जाता है—

"यत्र-यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया ।
स्नेहाद् द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥"

इस बात के लिए अधिक शास्त्रीय प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वथा सत्य है कि पुरुष श्रद्धामय है, जैसी जिसकी श्रद्धा होती है, उसका व्यक्तित्व वैसा ही हो जाता है—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः'—गीता।

चरित्र-निर्माण के लिए अपना एक ध्येय निश्चित करके अपनी विचारधारा को उसी में केन्द्रित करना आवश्यक है। विचारों में अनिश्चिततता होने से मनुष्य का जीवन अस्तव्यस्त और व्यक्तित्व चकनाचूर हो जाता है। भावनाओं का अन्तर्द्वन्द्व उसे असंयत और लक्ष्यहीन बना देता है। वह इसका निर्णय ही नहीं कर पाता कि क्या करे, क्या न करे; परिणामतः कुछ भी नहीं कर पाता। जीवन का एक सिद्धान्त, एक साध्य विषय होना चाहिये और उसके प्रति प्रबल इच्छा, अनुराग, लगन—तभी सिद्धि मिलती है। फ्रान्स के महामान्य लेखक विक्टर ह्यूगो का कथन है कि साधारणतया लोगों में शक्ति का नहीं, वस्तुतः संकल्प का अभाव होता है, जिसके कारण वे कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर पाते—"People do not lack strength, they lack will" लगन के बिना तो साधारण काम भी ठीक से नहीं होता। लगन के साथ जुटने से कठिन कार्य भी सहज हो जाते हैं, उनमें रस मिलने लगता है क्योंकि मनुष्य तद्रूप, तन्मय हो जाता है, उसमें उसकी सम्पूर्ण जीवनी शक्ति लग जाती है। अंग्रेजी के प्रचण्ड लेखक कार्लाइल ने लिखा है कि 'कमज़ोर-से-कमज़ोर आदमी भी अपनी शक्ति को एक लक्ष्य पर लगाकर कुछ-न-कुछ कर दिखायेगा, पर ताकतवर-से-ताकतवर आदमी अपनी शक्ति को छिन्न-भिन्न करके कुछ भी न कर सकेगा।' इन बातों से भावनाओं के केन्द्रीकरण का महत्त्व स्पष्ट हो जायगा। विकल्पशीलता में कोई रचनात्मक कार्य नहीं हो सकता। संकल्प सृष्टि के मूल में है, वह जीवन-तत्त्व है, कर्म का कारण है। संकल्प करके ही

ईश्वर विश्व-रचना में प्रवृत्त हुआ था। मनुष्य के लिए भी यही आदर्श अनुकरणीय है। इससे जीवन में एक अलौकिक स्फूर्ति भर जाती है, प्राण तरंगित होने लगता है। नेपोलियन का परमप्रिय सिद्धान्त यह था—'The truest wisdom is a resolute determination.' अर्थात्—दृढ निश्चय-ध्रुव संकल्प ही सच्ची बुद्धिमानी है। उसकी सफलता का प्रधान कारण यह था कि एक बार किसी कार्य के विषय में संकल्प करके फिर तन-मन-धन से उसमें जुट जाता था।

प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उसे जो कुछ करना है, इसी शरीर से करना है—'न शरीर पुनः पुनः।' और 'अबकी चढ़ी कमान को जानै फिरि कब चढ़ै'—पृथ्वीराज रासो। आज जो सुयोग हमें प्राप्त है, वह कल रहे या नहीं। इसलिए इस जीवन का, इस शरीर का सदुपयोग करने में ही बुद्धिमानी है। यह तभी हो सकता है जब मनुष्य अपने कर्त्तव्य का ऐसा निश्चय करले कि मैं हीरे-जैसे जीवन को कौड़ी के मोल नहीं जाने दूंगा; जिस स्थिति मे हूं, उससे अच्छी स्थिति में रहूंगा; कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करूंगा; जो करना है उसके लिए पर्याप्त शक्ति प्राप्त करूंगा और उसकी सिद्धि के लिये अपना सर्वस्व लगा दूंगा। जीवन का यही मूल सकल्प होना चाहिये—'देह वा पालयेत् अर्थं वा साधयेत्।' ध्रुव संकल्प का यही प्रयोजन है।

शक्ति-संपादन :—संकल्प या इच्छा मात्र से ही कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। क्रिया के लिये शक्ति चाहिये। जगद्गुरु शंकराचार्य ने कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हो, तभी समर्थ होते है; ऐसा न हो तो वे हिलने-डुलने में भी असमर्थ हो जायँगे—

"शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितु'।
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥"

—सौन्दर्यलहरी।

मनुष्य के सम्बन्ध मे भी यही सत्य है। सशक्त होकर ही वह सब-

कुछ कर सकता है। वंग औपन्यासिक बंकिमचन्द्र चटर्जी ने अपने एक निबन्ध में लिखा है—"लोहे का औजार बनने पर उसके द्वारा पत्थर तक तोड़ा जा सकता है, किन्तु लोहेमात्र में तो यह गुण नहीं है। लोहे को अनेक प्रकार की सामग्रियो से प्रस्तुत, गठित और तेज करना पड़ता है, तब लोहा इस्पात होकर काटता है। ऐसे ही मनुष्य को प्रस्तुत, उत्तेजित और शिक्षित करना पड़ता है, तब उसके द्वारा कार्य होता है।" अंगरेजी में एक कहावत है—'First deserve and then desire' अर्थात्, किसी वस्तु की कामना करने के पूर्व उसके लिये उपयुक्त—सुयोग्य, सुपात्र—बनो। हर प्रकार की योग्यता शक्ति से ही प्राप्त होती है। सबलता ही सजीवता है और दुर्बलता निर्जीवता। जीवन का एक भी अंग शक्तिहीन होने से निर्बल हो जाता है। अतएव सर्वांगीण उन्नति के लिये मनुष्य को सब प्रकार की शक्तियों का आवश्यकतानुसार संग्रह करना चाहिये।

मनुष्य का प्रधान बल क्या है ? शारीरिक बल उसका मुख्य बल नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनुष्य स्वय अपने शरीर से बड़ा है। शरीर से कोई कितना बड़ा होगा ? पद्मपुराण में ठीक ही कहा है कि कोई समस्त भूमण्डल का राजा ही क्यो न हो, एक खाट के नाप की भूमि ही उसके उपयोग में आती है—'सार्वभौमोऽपि भवति खट्वामात्रपरिग्रहः।' शारीरिक बल से मनुष्य कितना काम करेगा ? आधुनिक वैज्ञानिको के मत से उसकी शारीरिक क्रिया-शक्ति केवल $\frac{१}{१०}$ अश्वशक्ति (हार्स-पावर) के बराबर है। वह दो हार्स-पावर के इंजिन के इतना भी तो काम नहीं कर सकता। शरीर से वह कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध कर लेगा ? अधिक-से-अधिक पुत्र उत्पन्न कर लेगा। बाहुबल की अपेक्षा बुद्धिबल की श्रेष्ठता सर्वस्वीकृत है। युक्ति से जो हो सकता है, वह शारीरिक शक्ति-प्रयोग से नहीं होता। अंगरेजी में एक कहावत है—'Thoughts are mightier than strength of hand.' अर्थात् बाहुबल की अपेक्षा विचार-बल अधिक प्रभावशाली होता है। ऐसी ही एक और लोकोक्ति है—'A good head has one hundred hands.' इसका भी भावार्थ यह है कि एक अच्छे

मस्तिष्क से सौ हाथों का काम हो सकता है, अथवा एक बुद्धिमान् सौ आदमियो से काम ले सकता है।

इन बातों पर ध्यान देने से हमें मानना पड़ता है कि शारीरिक बल ही मनुष्य का सर्वस्व नहीं है। उससे सम्पूर्ण जीवन का विकास नहीं हो सकता। मानवीय शक्तियो का विकास बाहर नहीं, भीतर होता है। उसकी बाहर की आँखें भी उतना नहीं देखतीं, जितना भीतर की। वह मुख्यतया एक आध्यात्मिक जीव है। उसके जीवन का आध्यात्मिक पक्ष प्रबल और भौतिक या व्यावहारिक पक्ष निर्बल होता है। वह शरीर से नहीं, आत्मा से महान् होता है। उसके व्यक्तित्व की जन्मभूमि आत्मा है। उसी को व्यावहारिक भाषा में चाहे हृदय कह लीजिये, अथवा प्राण। उसी की प्रबलता से जीवन प्रबल होता है। केन्द्र की दृढता से जीवन के सभी प्रान्त सुव्यवस्थित हो जाते हैं। जगे हुये प्राण को कोई शक्ति परास्त नहीं कर सकती। एक तत्त्वदर्शी विद्वान् का कथन है—'समस्त संसार के अन्धकार में इतनी शक्ति नही है कि वह एक मोमबत्ती के प्रकाश को भी बुझा सके।' एक आत्मवीर सहस्रो विरोधियो का सामना कर सकता है। आज से बहुत पहले राजा विश्वामित्र ने तपस्वी वसिष्ठ से पराजित हो कर कहा था—'धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलम् बलम्'—रामायण। गाँधी से परास्त होकर अँगरेजों की आत्मा भी यही कहती होगी। यह ब्रह्मतेज का बल ही मनुष्य का आत्मिक बल है। इसकी सहायता से वह जो कर सकता है, वह ऐटम बम से भी संभव नहीं है। आत्मिक बल के प्रभाव से ही साधारण व्यक्ति असाधारण हो जाता है।

आत्मिक बल कैसे बढता है?—आत्मिक बल टॉनिक पीने से अथवा किसी भी कृत्रिम उपाय से नही बढ़ता। आत्मविश्वास और संकल्प से उसकी वृद्धि होती है, यह हम ऊपर लिख चुके है। स्वाभाविक शक्तियों के विकास के सम्बन्ध में कुछ अन्य उपयोगी बातो पर भी ध्यान देना चाहिये। जिन उपायों से मनुष्य जीवन-शक्ति का उपार्जन, सच्चा स्वास्थ्य-लाभ कर सकता है, उन पर विचार कीजिये।

(क) अन्तर्ज्ञान—अन्तर्ज्ञान या आत्मज्ञान का सरल अर्थ है अपने को पहचानना; अपनी मनुष्यता, विलक्षणता, पूर्णता-अपूर्णता को जानना। स्थानाभाव से इस विषय में यहाँ अधिक न लिखकर, हमें केवल यह देखना है कि आत्मज्ञान से क्यो और कैसे आत्मबल बढ़ता है। पहली बात तो यह है कि जबतक कोई किसी वस्तु के यथार्थ रूप को नहीं पहचानता तबतक वह उसके लाभ से तो वंचित रहता ही है, उससे शंकित भी रहता हैं। पुरखे यदि घर में धन गाड़ जायें और हमें पता न हो तो हम उस गुप्त धन का लाभ नहीं उठा सकते। जीवन में जो दैवी तत्त्व है, उससे अपरिचित रहने में भी ऐसा ही होता है। अपनी सद्वृत्तियों को जानने का अर्थ है, उन्हे जगा लेना, पकड़ लेना। इससे आत्मिक शान्ति का अनुभव और जीवन के लक्ष्य का ज्ञान होता है। वास्तविकता का ज्ञान होने से आत्म-तृप्ति के साथ आत्म-स्फूर्ति का भी अनुभव होता है। बुद्धि सत्य की ओर स्वभाव से ही आकर्षित होती है—'तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः।' भ्रम-सदेह-आशंका से असन्तोष के परिणाम-स्वरूप आत्मबल क्षीण हो जाता है। अतएव यह स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञान आत्मिक स्वस्थता के लिये आवश्यक है।

आत्मज्ञान की उपयोगिता पर एक दृष्टि से और विचार कीजिये। मनुष्य के अन्तःकरण में आत्मा के कई जन्मों का ज्ञान और विशेष गुण संचित रहते है। आत्मज्ञान से वे सुलभ हो जाते है। जिसे हम प्रतिभा कहते है, वह वास्तव में पूर्वजन्मो का अनुभव-प्रकाश ही है। बहुत से लोग साधारण प्रयास से ही किसी विषय के विशेषज्ञ हो जाते है। इसका रहस्य यही है कि आत्मा उस विषय से पहले ही परिचित रहती है; पूर्व-जन्म के संस्कार उसके साथ रहते है। उधर ध्यान देते ही ज्ञान का स्रोत खुल जाता है। मनन करने से कितने ही उच्च विचार अपने-आप प्रकट हो जाते है। यह अनुभव-सिद्ध है। पूर्व-प्रज्ञा का एक सुन्दर उदाहरण महाभारत से दिया जा सकता है। महाभारत में लिखा है कि जिस समय भीष्म भगवान् परशुराम के बाणो से क्षत-विक्षत होकर पड़े थे, उस समय

आठ ब्राह्मणों ने उन्हे स्वप्न में प्रस्वाप अस्त्र देकर कहा—इसका प्रयोग करना कोई नहीं जानता; तुम इसका प्रयोग-विज्ञान रण में स्वतः जान लोगे क्योकि तुम्हे पूर्व-जन्म में इसके प्रयोग का ज्ञान था—

"इद्मस्त्रं सुदयितं प्रत्यभिज्ञास्यते भवान् ।
विदितं हि तवाऽप्येतत्पूर्वस्मिन्देहधारणे ॥"

—उद्योगपर्व ।

बुद्धि और मन को आत्मा की ओर ले जाने से अपनी विशेषताओ का पता सहज में लग जाता है। पूछने पर हृदय मनुष्य को स्वयं कर्त्तव्य-कर्म की बातें बता देता है। हृदय का निर्णय प्रायः ठीक होता है क्योकि उसे कई युगों का अनुभव रहता है। अतएव मनुष्यमात्र के लिये आत्मज्ञानी होना आवश्यक है।

(ख) आत्मसंस्कार—आत्मिक बल बढ़ाने का दूसरा उपाय है आत्मसंस्कार। विकारग्रस्त चित्त उसी प्रकार बलवान् नही हो सकता जैसे व्याधिग्रस्त शरीर। आत्मोत्कर्ष के लिये आत्म-नाशक मनोव्याधियों से मुक्त होना आवश्यक है। आत्मा का पोषण सद्भावनाओं से ही होता है। श्रद्धा, विश्वास, सत्य, न्याय, प्रेम, उदारता, धैर्य, आशा, उत्साह, दया, करुणा, त्याग और निर्भीकता आदि हृदय की सहज सद्वृत्तियाँ है। इनके द्वारा संस्कारित हृदय ही प्रसन्न और प्रबल होता है। सुसंस्कृत चित्त के ये स्वाभाविक सद्गुण हैं। गुणो से गुणित होने पर ही आत्मा का प्रभाव बढ़ता है। भागवत मे कहा है—'स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः।' अर्थात् सात्त्विक गुणो का विकास ही मनुष्य के लिये स्वर्ग है—ऐश्वर्यप्रद है।

सात्त्विक गुणों की सम्पन्नता ही महापुरुषो के अवतारी होने का प्रमाण है। भगवान् कृष्ण ने कहा है कि ऐसे महापुरुष ही यथार्थ देव और बान्धव हैं, तथा ऐसे पुरुष ही मेरी आत्मा और मेरे रूप है—'देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माऽहमेव च।'

सात्त्विक गुणो के सम्बन्ध में यहाँ विशेष रूप से कुछ लिखना संभव नहीं है। दो-चार सद्‌गुणो के सम्बन्ध में कुछ संकेत कर देना ही पर्य्याप्त होगा। इससे विदित हो जाएगा कि किस प्रकार इनके विकास से जीवन प्रभावशाली वन जाता है।

सत्य :—सत्य के विषय में कहा है कि सत्य सौ पुत्रो से भी श्रेष्ठ है—'सत्यं पुत्रशताद्वरम्।' सत्य ही धर्म-सर्वस्व, जीवनाधार है। सत्य ही सत्त्व का सत्त्व है, निर्वल का वल और प्राण-प्रतिष्ठापक है। सत्य से ही क्रिया सफल होती है। महर्षि पतंजलि ने लिखा है—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।' लोक में सत्य की ही जीत होती है—'सत्यमेव जयते।' सत्य से ही विश्वास उत्पन्न होता है, उसी से लोक-व्यवहार चलता है. नैतिकता की प्रतिष्ठा होती है। सत्य के अनुशीलन से मनुष्य की महिमा वढ़ जाती है, इसमें सन्देह नहीं। सत्य के मार्ग पर चलने से लोक-प्रकृति स्वतः मनुष्य के अनुकूल होकर उसकी सहायता करने लगती है। सत्याचारी कभी अकेला नही रहता। राम जब अकेले सत्य का सहारा लेकर लंका-विजय के लिये चले तो हवा भी उनके अनुकूल हो गई; पत्थर पानी पर तैरने लगे; जंगली जीवजन्तु—गृद्ध, वानर, भालू—भी उनकी सहायता के लिये स्वेच्छया कटिबद्ध हो गये; छोटी-छोटी चिड़ियाँ, गिलहरियाँ आदि मुख में तृण और मिट्टी के टुकड़े लेकर समुद्र पाटने के लिये दौड़ पड़ीं। सत्य के उपासक गाँधी का ऐसा ही प्रभाव हम देख चुके है। सत्य ही तो सदाचार का मूल है और सदाचार जीवन का मंगलाचार है। आत्मा की रक्षा सत्य से ही होती है।

अहिंसा और प्रेम :—अहिंसा से समस्त जीवो में प्रेम होता है। महर्षि पतंजलि का मत है—'अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ सर्वभूतेषु वैरत्यागः।' अनुराग और आकर्षण की यही जननी है। यह स्मरण रखना चाहिये कि जीवन की उत्पत्ति ही प्रेम से हुई है। वह संयोजक और जीवनदायक तत्त्व है। प्रेम से सहृदयता और सजीवता का विकास होना स्वाभाविक है। उसी से भिन्नता में अभिन्नता, अनेकता में भी एकता की सृष्टि होती है,

बहुत से हृदय परस्पर मिलकर एक हो जाते है। प्रेम, वास्तव में, हृदय का अत्यन्त बलवर्द्धक रसायन है।

त्याग और सेवा :—त्याग और सेवा की भावनाये मनुष्य मे एक अलौकिक बल और प्रभाव उत्पन्न कर देती है। संभवतः इसका कारण यह है कि इनके द्वारा मनुष्य अपने को सर्वसाधारण का एक अंग बना कर बहुसंख्यक प्राणियो का सामूहिक बल प्राप्त कर लेता है। उसकी ओर लोक की सद्भावनायें, शक्ति की तरंगें केन्द्रित हो जाती हैं। एक सत्पुरुष के आशीर्वाद, शुभकामना से साधारण व्यक्ति का भी हर्षोत्साह दूना हो जाता है। इसका अनुभव सभी करते है। अतएव जिसकी ओर हज़ार-दस हज़ार की सद्भावनायें केन्द्रित हों उसका प्रभाव हज़ार-दस हज़ार गुना बढ़ जाय तो आश्चर्य की बात नहीं है। यह स्वाभाविक है क्योंकि विचार-तरंगें एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क में चुपचाप पहुँच जाती है। त्याग और सेवा से लोक का अनुग्रह प्राप्त होता है और उससे मनुष्य का आत्मबल, व्यक्तित्व का आकर्षण और प्रभाव बढ़ जाता है। जिसे हम मनुष्य का पुण्यबल कहते है, वह त्याग और सेवा का ही फल है।

आशा, उत्साह, साहस, धैर्य :—आशा भी आत्मा का सजातीय तत्त्व है; वह सुप्तावस्था में, अथवा जागृतावस्था में जीवन के अन्तिम क्षण तक साथ रहती है। बलवती आशा से हृदय भी बलवान् होता है। अंगरेज़ कवि टेनीसन ने एक स्थान पर आशा की प्रशंसा करते हुये कहा है—'The mighty hopes that make us men.' अर्थात्—वे बलवान् आशायें जो हमें पुरुषार्थ प्रदान करती है··· । आशा से पौरुष उद्दीप्त होता है, कुछ करने का उत्साह होता है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक राल्फ़ वाल्डोट्राइन ने लिखा है कि आशा और निराशा से ही पता चलता है कि किसी व्यक्ति का जीवन शक्ति-सम्पन्न है या शक्तिहीन, वह सफल होगा या विफल। आशावान् प्राणी प्रत्येक वस्तु का यथातथ्य रूप देखता है, उसकी पूर्णता में विश्वास रखता है। निराशावादी उसी को एकांगी दृष्टिकोण से खंडित रूप में देखता है। आशावादी बुद्धि से विचार करता

है, उसी के प्रकाश में आगे बढ़ता है। निराशावादी जड़ता के अन्धकार में ठोकरें खाता है। आशावन्त ऊंचे उठता है; उसमें ऐश्वर्यप्राप्ति का उत्साह रहता है; वह अपने संसार को सुखमय, शान्तिमय एवं स्वर्गीय बनाने की चेष्टा करता है। निराशावादी स्वयं नरककुंड में गिरकर दूसरों को भी उसी में डूबने के लिये घसीटता है।

आशा में सचमुच मनुष्य का प्राण रहता है। एक छोटी-सी आशा भी जीवन को जगा रखती है। निराश होने पर मनुष्य का आत्मबल क्षीण हो जाता है। महर्षि वाल्मीकि के मत से हताश न होना ही सफलता का मूल है और यही परम सुख है—'अनिर्वेदः श्रियो मूलमनिर्वेदः परं सुखम्।'—सुन्दरकाण्ड। जातक में भी कहा है—'आसिसेथेव पुरिसो न निब्बिन्देय्य पडितो'—पुरुष आशा लगा रक्खे, बुद्धिमान् निराश न हो। जर्मन कविसम्राट् गेटे का भी कहना है कि हताश होने की अपेक्षा सभी बातों में आशायुक्त रहना श्रेयस्कर है—'In all things it is better to hope than to despair.' इसी महाकवि के मत से आशा दुःख-पीडित व्यक्ति की दूसरी आत्मा है—'Hope is second soul to unhappy' इँगलैण्ड के प्रसिद्ध राजतत्त्ववेत्ता बर्क का ध्येय-वाक्य यही था कि कभी हताश न हो, लेकिन यदि कभी निराशा का अवसर आये तो निराशा में भी आशा के साथ काम करते जाओ—"Never despair But if you do, work on in despair."

आशा से ही उत्साह बना रहता है और उत्साह से जीवनी शक्ति अधिकाधिक सक्रिय होती है। इसीलिये कहा गया है कि उत्साही हृदय कभी वृद्ध नहीं होता और उत्साही के लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। वृद्धावस्था में भी जो उत्साही बने रहते हैं वे निरुत्साही युवकों की अपेक्षा अधिक चैतन्य और पुरुषार्थी होते है। जो काम उत्साह से किया जाता है उसमें आत्मबल का अपव्यय नहीं होता, चित्त को स्फूर्ति मिलती है। इसी से समझना चाहिये कि उसमें शक्ति को धारण करने का गुण है।

उत्साह से साहस बढ़ता है। साहस के बिना कोई महत्त्वपूर्ण कार्य

नहीं हो सकता। साहसी ही जीवन में आगे बढ़ता है। शौर्य, पराक्रम और विजय का वह मुख्य साधन है। प्रगल्भता न होने से मनुष्य के स्वभाव में क्लीवता आ जाती है। अतएव हमें मानना चाहिये कि वह निश्चय ही आत्मबलबर्द्धक है।

धैर्य भी बलवान् हृदय का एक प्रधान गुण है। महाभारत में कहा है कि धैर्य से मनुष्य द्वितीय साथी से युक्त होता है— 'धृत्या द्वितीयवान् भवति।' महात्मा ईसा ने भी कहा है—तुम्हारे धैर्य में ही तुम्हारे प्राण रहते हैं। अधीरता में प्राण सचमुच निर्बल हो जाता है, हृदय धड़कता है, मनुष्य डूबने-उतराने लगता है। धैर्य धारण करने से हृदय दृढ़ बना रहता है, घोर संकट में भी विचलित नहीं होता। धीरता से धीरे-धीरे जीवन में शक्ति धारित होती है।

(ग)—संयम, सदाचार, स्वास्थ्य—मानवीय शक्तियों का संगठन, नियन्त्रण और सदुपयोग संयम और सदाचार से ही हो सकता है। सुप्रसिद्ध औपन्यासिक श्री प्रेमचन्द ने सन् १९३२ में अपने एक भाषण में कहा था—"सदाचार का उद्देश्य केवल संयम है, संयम में शक्ति है और शक्ति ही आनन्द की बुनियाद है...जो स्वयं संयमहीन है, वह शक्तिहीन भी होगा और शक्तिहीन आदमी न आनन्द का अनुभव कर सकता है, न उसकी कल्पना कर सकता है।"

संयम क्या है? संयम का सीधा अर्थ है—आत्मनिग्रह। प्रकृति में सब-कुछ नियमबद्ध है, अतएव मानव-जीवन को भी नियमित, मर्यादित होना चाहिये; तभी वह स्वस्थ और चैतन्य रह सकता है। अनियन्त्रित जीवन में स्वाभाविक शक्तियों की स्थापना नहीं हो सकती। मनुष्य जब अपनी इन्द्रियों को अपने अधिकार में रखता है, अर्थात् जब उसका भौतिक जीवन उसके आध्यात्मिक जीवन के नियन्त्रण में रहता है, तभी वह स्वाधीन और शक्तिमान् होता है। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने कहा है कि सबसे शक्तिशाली व्यक्ति वह है जो अपने को अपने अनुशासन में रख सकता है— 'Most powerful is he who has himself in his power.'—*Seneca.*

संयम से ही आत्मबल, मनोबल, शारीरिक बल दृढ होते हैं; अन्तर्द्वन्द्व मिटता है; मनोवेग और वासनाओं का दमन होता है और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। एकाग्रचित्तता में अद्भुत शक्ति होती है।

संयम और सदाचार ब्रह्मचर्य से सिद्ध होते हैं। ब्रह्मचर्य की महिमा से जो परिचित हैं, वे संयम-सदाचार के महत्व को समझ सकते हैं। ब्रह्मचर्य का अर्थ तो बहुत व्यापक है, परन्तु जिस अर्थ में वह व्यवहृत होता है उसी पर ध्यान दीजिए। एक विद्वान् का कथन है कि जीवन-शक्ति को शरीर में धारण करने की क्षमता ही ब्रह्मचर्य है। स्पष्ट शब्दों में उसे वीर्य-संरक्षण कह लीजिये। उसी को शरीर में पचाना, अपव्यय से बचाना ब्रह्मचर्य है। वीर्य ही जीवन का सार है, उसकी उत्पत्ति का कारण है, ओज-तेज—प्रभाव का उत्पादक है। वीर्य से ही शौर्य-पराक्रम सिद्ध होते हैं। अतएव उसका संरक्षण और संवर्द्धन आवश्यक है। वही तो जीवन का बीज है। अमेरिकन ऋषि थारो ने ठीक ही कहा है कि "ब्रह्मचर्य जीवन-वृक्ष का पुष्प है और प्रतिभा, पवित्रता, वीरता आदि उसके कतिपय फल हैं।" व्यासजी ने ब्रह्मचर्य को ही अमृत कहा है—'अमृतं ब्रह्मचर्यम्'—महाभारत। मनुष्य ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्म-तेज—आध्यात्मिक तेजस्विता प्राप्त कर सकता है।

आत्मपूर्णता के लिए संयम, सदाचार—ब्रह्मचर्य की कितनी आवश्यकता होती है, इसे हम महापुरुषों के चरित्र से जान सकते हैं। जिसे हम स्वास्थ्य कहते हैं वह संयम, सदाचार और ब्रह्मचर्य से ही उपलब्ध होता है। संयम में स्वास्थ्य रहता है और स्वास्थ्य में जीवन। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य इन्हीं उपायों से सुलभ है। इनके द्वारा आत्मशक्ति के अतिरिक्त मनुष्य को नैतिक शक्ति भी मिलती है। और हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि नैतिक बल मनुष्य का बहुत बड़ा बल है। उससे मनुष्य का प्रभाव शतगुणित हो जाता है।

(घ) तपस्या और अभ्यास :—आत्मशक्ति का पूर्ण विकास तपस्या से होता है। मनु महाराज ने लिखा है कि देवता और मनुष्य के समस्त

सुख तपोमूलक है—'तपोमूलमिदं सर्वं दैवमानुषकं सुखम् ।'—

"यद् दुष्करं यद् दुरापं, यद् दुर्गं यच्च दुस्तरम् ।
सर्वं तत् तपसा साध्यं, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥"

—मनुस्मृति ।

तप से कोई सुख, कोई सिद्धि, कोई पद, भव-वैभव दुर्लभ नहीं है। ऋषि-मुनियों ने जो अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त की थी, उनके पीछे उनकी तपस्या थी। प्राचीन तत्वज्ञों का कथन है कि ईश्वर ने पहले तपस्या की, उसने तपस्या करके समस्त सृष्टि की रचना की।—"स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा। इद सर्वमसृजत।"—तैत्तिरीय उपनिषद्। तपस्या जीवन के मूल में है। जीवन की वृद्धि, मनोरथों की सिद्धि और सर्वसमृद्धि की उपलब्धि उसी के द्वारा सम्भव है। तपस्या करना मनुष्यमात्र का धर्म है। परलोक के लिये नहीं, इसी लोक के लिये उसकी आवश्यकता होती है। वह नित्य के उपयोग की वस्तु है। पतझड़ के बाद वसन्त की भाँति तप के बाद ही सिद्धि मिलती है।

तपस्या क्या है ? तपस्या का सरल अर्थ है संयम के साथ कष्ट भोगना; सदुद्देश्य की सिद्धि के लिये सात्त्विक श्रम, साधना, अभ्यास, योग, मनोयोग, व्यायाम। उसका उद्देश्य आँख मूंद कर बैठना, राम-राम जपना अथवा हठयोग के चमत्कार दिखाना नहीं है। वह किस प्रकार शक्तिदायिनी होती है, इस पर संक्षेप में विचार कीजिये।

शारीरिक व्यायाम से शरीर को कष्ट अवश्य होता है, परन्तु उसी के द्वारा शरीर सुगठित एवं पुष्ट होता है। अंग-अंग की शक्तियों का उद्दीपन उसी से होता है। सम्पूर्ण जीवन का भी यही हाल है। सात्त्विक परिश्रम से कष्ट भोग कर आत्मा की सद्वृत्तियाँ पुष्ट और प्रबल हो जाती है। कष्ट भोगे बिना कोई कर्मठ नहीं बनता। उसके बिना जीवन में प्रौढ़ता, परिपक्वता नहीं आती। तपस्या एक प्रकार का अभ्यास है।

अभ्यास से मनुष्य की कोई शक्ति क्षीण नहीं होती, उलटे बढ़ जाती

है। यह जीवन का स्वाभाविक नियम है। हँसने से हृदय का हर्ष कम नहीं होता, दया करने से हृदय शुष्क नहीं होता, पठन-पाठन से बुद्धि घिस कर कुण्ठित नहीं हो जाती। प्रत्येक गुण अभ्यास से बढ़ ही जाता है। अँगरेज़ी में कहावत है—'Practice makes perfect' अर्थात् मनुष्य अभ्यास से ही कुशल, कृती बनता है। आरम्भ में यह दुष्कर होता है, पर उसके द्वारा बाद में कठिन कार्य भी सरल हो जाता है, जड़मति भी सुजान बन जाता है। योग का प्रयोग उसी से ज्ञात होता है, उसी से मनुष्य किसी कार्य में दक्ष और सिद्धहस्त बनता है। लौकिक जीवन में मनुष्य कर्माभ्यास द्वारा ही काम का आदमी बनता है। सन्त तुकाराम ने ठीक ही कहा है कि असाध्य को साध्य करने का बस एक ही उपाय है—अभ्यास। एक मूर्तिकार से किसी ने पूछा कि अमुक मूर्ति को बनाने में आपका कितना समय लगा है? उसने जो उत्तर दिया उससे अभ्यास का महत्व पाठको को विदित हो जायगा। उसने कहा—इसे दस दिन में बनाने के लिए मैंने ३० वर्ष परिश्रम किया है—अर्थात् इसके पीछे तीस वर्ष का अभ्यास है, तब यह १० दिन में बनी है। अभ्यास से आत्मयोग्यता की वृद्धि इसी प्रकार होती है। बिना कष्ट भोगे न विद्या आती है, न शक्ति बढ़ती है।—

'बिना चढ़े कमान के कैसे लागै तीर।'

—कबीर।

देवताओ ने विष के बाद ही समुद्र से अमृत पाया था। भारत-वासियो ने कठोर तपस्या और साधना से ही स्वराज्य पाया है। अपनी अत्यन्त प्रिय एवं निकटस्थ वस्तु भी यो ही नहीं मिल जाती। ईश्वर जो हृदय में ही रहता है मनुष्य को सहज में नहीं मिलता। योगाभ्यास के बिना उसकी अनुभूति भी नहीं होती। तपोबल से ही मनुष्य कृतार्थ होता है। अभ्यास उसी का व्यावहारिक रूप है। महर्षि वसिष्ठ उसी को पुरुषार्थ मानते हैं—

"पौनःपुन्येन करणमभ्यास इति कथ्यते ।
पुरुषार्थः स एवेह तेनास्ति न विना गतिः ।।"

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात्—'किसी काम को बार-बार करने का नाम अभ्यास है, उसीको पुरुषार्थ भी कहते हैं। उसके विना किसी भी प्रकार की उन्नति नही होती।'

बुद्धि-बल का विकास:—अब बुद्धि-बल के विकास पर थोडा विचार कीजिये। मनुष्य एक बुद्धि-प्रधान जीव माना जाता है। बुद्धिमत्ता उसकी विशेषता है। मनन करने के कारण ही वह मनुष्य कहलाता है। उसके सिर को वेद ने देवकोष माना है—

"तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोपः समुब्जितः ।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः ।।"

—अथर्ववेद ।

अर्थात्—वह सिर भली प्रकार मुँदा हुआ देवों का कोष है। प्राण, मन और अन्न उसकी रक्षा करते है। मनुष्य का दैवी बल उसके मस्तिष्क से प्रकट होता है। उसका तीसरा नेत्र, जिसे हम दिव्य-दृष्टि कह सकते हैं, मस्तिष्क में ही रहता है। केवल शिव ही त्रिलोचन नहीं होते, प्रत्येक मनुष्य के पास एक तीसरा नेत्र होता है। इसका सरल प्रमाण तो यही है कि स्वप्न में बाहरी आँखों के बन्द होने पर भी मनुष्य स्वप्न के दृश्यों को प्रत्यक्ष देखता है। यह भीतरी नेत्र ही बुद्धि का नेत्र है। अंगरेजी में इसी आशय की एक कहावत है—'The wise man's eyes are in his head.' इसके विमल होने से मनुष्य अप्रत्यक्ष को भी प्रत्यक्ष देख सकता है, दूरदर्शी बन सकता है। इसी से विवेक होता है—मनुष्य किसी कार्य के परिणाम को पहले से ही जान लेता है। उसके कार्य तभी सफल होते हैं जब प्रत्येक परिस्थिति में उसकी बुद्धि आगे रहती है; अर्थात्, जब वह बुद्धि के नेत्रों से देखता हुआ सावधानी के साथ आगे बढ़ता है। आत्मा का

ज्ञान-प्रकाश वही ग्रहण करती है। उसी से मिथ्या धारणायें नष्ट होती है। उसी की सहायता से मनुष्य सत्कर्म में प्रवृत्त होता है।

लोक में बुद्धिमान् ही समर्थ माना जाता है। महाभारत में कहा है कि बुद्धिमान् की छोड़ी हुई बुद्धि राजा के साथ राज्य तक का नाश कर देती है—'बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम्।' संसार में ईश्वरीय सृष्टि के अतिरिक्त हम जो-कुछ देखते है, वह मनुष्य की बुद्धि का ही चमत्कार है। बड़े-बडे वैज्ञानिक आविष्कार केवल बुद्धि के कौतुक है। वास्तव में, मनुष्य बुद्धिबल से ही रचनात्मक कार्य कर सकता है। 'जहां सुमति तहँ सम्पति नाना'—तुलसी। शुक्राचार्य ने बुद्धि की उपयोगिता को लक्ष्य करके कहा है कि यह जगत्प्रसिद्ध है कि जल से अग्नि शान्त हो जाती है, किन्तु यदि उपाय किया जाय तो अग्नि ही जल को सोख लेती है—

"लोकप्रसिद्धमेवैतद्वारि वह्नेर्नियामकम् ।
उपायोपगृहीतेन तेनैतत्परिशोष्यते ॥"

—शुक्रनीति।

महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियो को बुद्धिशूर चाणक्य की भांति युक्तिवल के आश्रय से सामर्थ्यवान् होने का संकल्प करना चाहिये। 'मुद्राराक्षस' में लिखा है कि जिस समय लोगो के मुख से चाणक्य ने सुना कि कई प्रभावशाली व्यक्ति उसका साथ छोडकर उसके विपक्षियो से मिल गये है, उस समय उस बुद्धिगर्भ ने स्वाभिमानपूर्वक कहा—जो चले गये है, वे तो चले ही गये है; जो शेष है, वे भी जाना चाहे तो चले जायँ; नन्द-वंश का विनाश करने में अपने पराक्रम की महिमा दिखाने वाली और कार्य सिद्ध करने में सैकडो सेनाओ से अधिक बलवती केवल एक मेरी बुद्धि मेरे साथ रहे—

"एका केवलमर्थसाधनविधौ सेना शतेभ्योऽधिका।
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥"

—मुद्राराक्षस।

आत्मनिर्माण के लिये मनुष्य को स्वतंत्र बुद्धिबल का विकास और उसका सदुपयोग करना चाहिये। बुद्धि द्वारा साधारण वस्तु से भी असाधारण काम किया जा सकता है। वह चिन्तन, स्वाध्याय, विद्याभ्यास, अनुभव से बढती है। जो जितना बुद्धिमान्, विचारवान्, प्रगल्भ होता है, वह उतना ही महान् होता है। कुशाग्रता, प्रत्युत्पन्नमतिता, मौलिकता से मनुष्य की विलक्षणता सिद्ध होती है।

बुद्धि को संयत और सक्रिय बनाने का एक उत्तम उपाय है उसको हृदय से संयुक्त रखना। हृदय से संयुक्त रखने का एक अर्थ है। सविवेक मनन। दूसरा अर्थ है उसे धर्म—सद्भावनाओ के समूह—से संयुक्त रखना। वेदान्ती विद्वान् बुद्धि को अनेक रूपो वाली स्त्री कहते है। उनके मत से वह नाना विषयों का सेवन करने से अनेक रूप ग्रहण करती है; किन्तु अनेकरूपा होने पर भी वह धर्म के संयोग से एकरूपा ही रहती है। जो इस तत्त्वार्थ को जानता है, वह कभी कष्ट मे नहीं पड़ता। कर्त्तव्य-निश्चय इसी प्रकार होता है। इसी उपाय से वह ठिकाने रहती है।

इन शक्तियों के अतिरिक्त अन्य भी कई प्रकार के बल हैं जो मनुष्य के चरित्र-निर्माण में सहायक होते है; जैसे—मित्र-बल, द्रव्य-बल, स्थान-बल, कुल-बल, जाति-बल, लोक-बल और समय-बल आदि। स्थानाभाव से इनके सम्बन्ध में यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि यथासंभव सब प्रकार की शक्तियों का संग्रह करना चाहिये। ऊपर यथास्थान कुछ बातो का निर्देश किया जा चुका है। अब हमें यह देखना चाहिये कि मनुष्य अपनी शक्तियो से सिद्धि कैसे प्राप्त कर सकता है। शक्तिसम्पन्न होने से ही सिद्धि नहीं मिल जाती। उसके लिये साधना—उचित प्रयत्न आवश्यक है। साधना से सिद्धि ही नही, साधन भी प्राप्त हो जाते है, यह हम ऊपर कह चुके है।

'क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा'—गीता।

कर्म-तत्परता :—गोस्वामी तुलसीदास का कथन है—

"वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई ।
निसि गृह-मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई ॥"

—विनयपत्रिका ।

केवल बातें बनाने से किसी का उद्धार नहीं होता। जर्मनी के महाकवि गेटे ने एक स्थान पर कहा है कि केवल मुंह से फूंककर तुम बाँसुरी नहीं बजा सकते, तुम्हे अपनी उंगलियों का भी उपयोग करना पड़ेगा—"By blowing alone you cannot play the flute ; you must also use your fingers" जीवन की बाँसुरी भी इसी प्रकार बजती है। भगवान् ने गीता में कहा है कि मनुष्य अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्म में लगे रहकर ही सिद्धि प्राप्त करते है—'स्वे-स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः।' बुद्धिगर्भ व्यास का मत है—'यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्र-निदर्शनम्।' अर्थात्—'जो जस करिय सो तस फल चाखा'—तुलसी। कर्मभूमि में कर्म करने से ही सफलता मिल सकती है। बुद्धिमान् को भी सिद्धहस्त और श्रमजीवी होना चाहिये। कर्म ही मनुष्य का जीवन-धर्म है। इसलिये उन्नतिकाम प्राणी को किसी न किसी रचनात्मक कर्म में लगे रहना चाहिये, विचारो को क्रियात्मक रूप देकर कुछ करके दिखाना चाहिये—तभी जीवन सार्थक हो सकता है।—'मनुष्याः कर्मलक्षणाः'—महाभारत।

समय और साधन की प्रतीक्षा में बैठे रहना, अपने जीवन को नष्ट करना है। महर्षि वसिष्ठ ने ठीक ही प्रश्न किया है कि जो लोग शूर हैं, उन्नति करने वाले हैं, बुद्धिमान् है, ज्ञानी है—बतलाओ उनमें से कौन इस संसार में भाग्य की प्रतीक्षा करता है ?—

"ये शूरा ये च विक्रान्ता ये प्राज्ञा ये च पंडिताः ।
तैस्तैः किमिव लोकेऽस्मिन् वद दैवं प्रतीक्ष्यते ॥

—योगवासिष्ठ ।

उद्योगी के लिये प्रत्येक मुहूर्त्त शुभ होता है; वह उससे कुछ-न-कुछ

लाभ ले लेता है। सुअवसर की प्रतीक्षा मे बैठना बुद्धिहीनता ही है। कार्लाइल ने एक स्थान पर लिखा है कि "प्रायः लोग इस भ्रम में रहते हैं कि वर्त्तमान काल कर्त्तव्य का निश्चय करने के लिये सब से उपयुक्त एवं अन्तिम अवसर नहीं है।...इसे अपने हृदय पर अंकित कर लो कि प्रत्येक दिन साल का सब से अच्छा दिन है।"—"Write it on your heart that every day is the best day in the year." एक भी दिन को गँवाने का अर्थ है जीवन के एक अंश को व्यर्थ जाने देना, क्योंकि प्रत्येक दिन वास्तव में थोड़ा-सा जीवन ही है—"Each day is a little life" जो व्यक्ति समय को नष्ट करता है, उसके जीवन को समय भी नष्ट कर देता है। महाकवि शेक्सपीयर ने अपने एक पात्र के मुख से यही कहलाया है—' I wasted time and now doth time waste me." अर्थात्—पहले मैंने समय को बर्बाद किया, अब समय मुझे बर्बाद कर रहा है। समय को कमाने में ही लाभ है। उसको कमाने का उपाय यही है कि उसके प्रत्येक क्षण का उपयोग किया जाय; जो भी अवसर हाथ में है, उसे काम का बना लिया जाय। चाणक्य ने लिखा है—'वर्तमानेन कालेन प्रवर्त्तन्ते विचक्षणाः।'

जो लोग काम को टालते है, वे अपने ही साथ विश्वासघात करते है। शास्त्र का वचन है—'न श्वः श्व इत्युपासीत को हि मनुष्यस्य श्वो वेद'—शतपथ ब्राह्मण। अर्थात्—'कल करूँगा, कल किया जायगा'—ऐसा न कहो; मनुष्य के कल की बात कौन जानता है! एक अँगरेज़ी कवि का एक पद्य भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

'Tomorrow I will live'—
The fool doth say.
Today itself is too late,
The wise men lived yesterday.—*Cowley.*

इसका भावार्थ यह है—वह मूर्ख है जो कहता है कि मैं आगामी दिन से अपना जीवन-कार्य प्रारंभ करूँगा; आज ही बहुत विलम्ब होगया

हैं; बुद्धिमान् लोग तो कल ही अपना कार्य समाप्त कर चुके हैं। वास्तव में बुद्धिमान् तो वही है जो समय से पहले काम पूरा किये रहता है, भविष्य के भरोसे नहीं बैठता।

साधनों की कमी का बहाना करके भी कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। अँगरेज़ी में एक कहावत है—'Necessity is the mother of invention' अर्थात्—आवश्यकता आविष्कारों की जननी है। किसी के पास यदि पूंजी न हो तो वह अपनी कर्मण्यता से उसे उत्पन्न कर सकता है। परिश्रम ही असली पूँजी है। विपत्ति में जिस प्रकार मनुष्य सीमित साधनों से अपना निर्वाह कर लेता है, उसी प्रकार छोटी-मोटी वस्तुओं से भी वह अपना काम निकाल सकता है। प्रायः छोटे-छोटे साधनों से भी बड़े-बड़े कार्य सिद्ध हो जाते हैं। बनाने से तो मिट्टी के भी सुपात्र बन जाते हैं; सडी खाद भी अत्यन्त उपयोगी हो जाती है। साधारण व्यक्ति भी मनुष्य के बडे काम के हो सकते हैं। एक बार नेपोलियन ने कहा था कि मैं मनुष्य नहीं बना सकता, इसलिये मुझे जो मिलते हैं उन्हीं से काम लेना चाहिये—"I cannot create men I must use those I find." प्रत्येक कार्यार्थी के लिये यही नीति अनुकरणीय है। जिनके पास जो साधन हो, उन्हीं से अपना कार्य प्रारंभ कर देना चाहिये। संग्रह-निर्माण साथ-साथ हो सकता है। 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे'—इस नीति-वाक्य को स्मरण रखना चाहिये।

अधिक तर्क-वितर्क में पडे रहने से भी समय और जीवन-शक्ति का अपव्यय होता है। अँगरेज़ी में एक कहावत है—'Too much wisdom is folly' अर्थात् अत्यधिक बुद्धिमत्ता मूर्खता है। जो आवश्यकता से अधिक सतर्क होते हैं, वे किसी विषय की तर्कशुद्ध व्याख्या में ही लगे रहते हैं, कार्य में प्रवृत्त नहीं होते। हर काम मे आगा-पीछा करने वाले, फूंक-फूंक कर कदम रखने वाले दीर्घसूत्री विचार-संकट में ही पड़े रह जाते हैं और कोई काम नहीं कर पाते। उनके निर्णय के पूर्व ही अवसर उनके हाथ से निकल जाता है। नीति का एक श्लोक है—

"अतिदाक्षिण्ययुक्तानां, शंकितानां पदे-पदे ।
परापवादभीरूणां, दूरतो यान्ति सम्पदः ॥"

अर्थात्—बहुत चतुराई करने वाले, पद-पद पर शंकित रहने वाले, परापवाद से डरने वाले को सफलता नहीं मिलती । ऐसे लोग इस भय से किसी काम में हाथ ही नहीं लगाते कि कही कोई त्रुटि न हो जाय, कोई विघ्न न उपस्थित हो जाय, असफल होने पर लोग उपहास न करें । इस प्रकार के विचारों में उलझ कर अकर्मण्य बने रहना महामूर्खता है । किसी भी कार्य का निश्चय करके उसको साहस के साथ हाथ में ले लेने में बुद्धिमानी है । बड़े-बड़े कामो के प्रारंभ में भी बहुत से लोग पहले हँसी उड़ाते है, फिर आश्चर्य-चकित होते है और अन्त में उसकी सफलता देखकर करने वाले का लोहा मानते है । अतएव इस आशा मे न बैठना चाहिये कि जब पीठ ठोंकने वाले, पद-पद पर प्रशंसा करने वाले मिलेंगे और जब कहीं से किसी प्रकार की विघ्न-बाधा की रत्ती भर भी आशंका नहीं रहेगी, तभी हम उठेंगे । भगवान् कृष्ण के इस वाक्य को ध्यान में रखकर काम में लग जाना चाहिये—'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः'—गीता । कोई भी कार्य सर्वथा दोष-रहित नहीं हो सकता ।

किसी उत्तम काम को कष्ट के भय से न करना भी हितकर नहीं होता । महामुनि व्यास का मत है कि उत्तम कर्मों का करना ही सुखकारी है; उत्तम कामो का न करना ही पश्चात्ताप को बढ़ाने वाला है—

"कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥"

—महाभारत ।

इन बातों पर विचार करके मनुष्य को उचित है कि वह जड़ता त्याग कर, प्रगलभता के साथ, जो चाहता है उसके लिये उचित प्रयत्न आरम्भ कर दे । 'शुभस्य शीघ्रम् ।' चाणक्य का यह उपदेश सर्वथा मान्य है कि कार्य में दीर्घसूत्रता उचित नहीं है—'कार्यान्तरे दीर्घसूत्रता न कर्त्तव्या ।' महाकवि

गेटे ने एक प्रसंग में कहा है कि "जो कुछ भी तुम कर सकते हो, या सोचते हो कि तुम कर सकते हो—शुरू कर दो; अध्यवसाय में एक ऐसा बल होता है कि समस्त प्रतिभा और योग्यता जादू की तरह काम करने लग जाती है। कार्य में अपने को लगा दो; इस प्रकार लगा देने से ही तुम्हारी बुद्धि में एक प्रकार की उष्णता भर जायगी। इसलिये शुरू कर दो और तुरन्त देखोगे कि तुम्हारा चिन्तित कार्य पूरा होते देर न लगी—बात-की-बात में उसे कर लिया।"—

"What you can do or think you can—Begin it !
Boldness hath genius, power and magic in it.
Only engage and then the mind gets heated.
Begin—and soon your task will be completed."

—*Faust*.

कार्यसिद्धि का यह मूल-मंत्र है। मनु का मत है कि कर्म आरम्भ करने वाले पुरुष का सेवन स्वयं लक्ष्मी करती है—'कर्माण्यारभमाणं हि पुरुषं श्रीर्निषेवते।' महाकवि भास ने लिखा है कि जैसे रगड़ने से काठ में आग उत्पन्न हो जाती है, खोदने से कड़ी पृथ्वी से भी पानी निकल आता है, वैसे ही उत्साही मनुष्यो के लिये कोई भी कार्य कठिन नहीं है, क्योंकि भली प्रकार से आरम्भ किये हुये सभी कार्य सफल होते ही है—

"काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानात् भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति॥"

—भास।

चाहे अध्ययन हो या ग्रन्थ-लेखन अथवा कोई उपयोगी व्यवसाय, उसे उत्साहपूर्वक आरम्भ करके निरन्तर उद्योग करने से सफलता की आशा तो रहती ही है, जीवन को शान्ति भी मिलती है। इस सम्बन्ध में अमेरिका के एक दार्शनिक विलियम ड्यूरैण्ट (William Durrant) के एक ग्रन्थ (Meaning of Life—जीवन का हेत्वर्थ) में श्री जवाहरलाल नेहरू का जो मत प्रकाशित हुआ है, उसके दो-एक वाक्य उल्लेखनीय है। श्री नेहरू ने

लिखा है—"सच्चा समाधान चिर कर्मण्य रहने में है—जिस दिव्य कर्म में मेरा मन लग गया है, वही कार्य अविश्रान्त रूप से करने में बस है।"......"मेरा उद्योग उचित राह से चल रहा है, ऐसा मुझे मन-ही-मन विश्वास होने पर फिर उसी उद्योग में से सम्पूर्ण उत्साह, शान्ति और समाधान मैं पा लेता हूँ।"

किसी कार्य को प्रारम्भ करना ही पर्याप्त नही है। उसकी सिद्धि से गौरव मिलता है। एक कहावत है—'To aim is not enough, we must hit.' इसका भावार्थ एक उर्दू कवि के शब्दों में यह है—'निशाने पै जो लग जाये, उसी को तीर कहते है।' कार्य-सिद्धि ही पुरुषार्थी का ध्येय होना चाहिये। कवि विशाखदत्त ने लिखा है कि "अल्प बुद्धि वाले मनुष्य विघ्न के भय से कार्य आरम्भ नहीं करते, मध्यम बुद्धि के मनुष्य कार्य का आरम्भ करके विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर कार्य को छोड़ देते हैं, उत्तम लोग बारम्बार विघ्न होने पर भी आरम्भ किये हुये कार्य को नहीं छोड़ते"—

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
आरभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥"

—मुद्राराक्षस।

उत्तम मनुष्यों की यह कार्य-नीति सर्वसाधारण के लिये अनुकरणीय है। मनुष्य को तो देवताओं का आदर्श अपनाना चाहिये। देवताओं का आदर्श यह है—

"रत्नैर्महार्घैस्तुतुपुर्न देवा, न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं, न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः॥"

—भर्तृहरि।

अर्थात्—"अमूल्य रत्न पाकर देवता सन्तुष्ट होकर बैठ नहीं गये;

उन्होंने समुद्र-मन्थन वन्द नहीं किया। इसके बाद जब भयानक विष निकला, तो भी उससे भयभीत होकर वे उद्योग से नहीं चूके। उन्होंने बिना अमृत निकाले विश्राम नहीं लिया। इस से सिद्ध हुआ कि धीर लोग बिना अपने अर्थ को सिद्ध किये बीच में नहीं छोड बैठते।"

यही सच्ची कर्म-तत्परता है। इसी को कर्मवीरता, पौरुष-परायणता कहते है।

आत्म-बलिदान:—कर्मयोग की सिद्धि प्राय आत्म-बलिदान से ही होती है। मरे विना तो मनुष्य को स्वर्ग भी नही मिलता, स्वर्गीय सिद्धियां कैसे मिलेंगी? यहा मरने का अर्थ अपना भौतिक अस्तित्व मिटाना नहीं है। इसका अर्थ है—कर्म में अपने को खो देना, उसी में मग्न जाना, उसी के पीछे शारीरिक सुख-दु:ख को भूल जाना। एक विद्वान् ने इसी को कर्म-यज्ञ में शरीर की आहुति देना कहा है। कोई भी मनुष्य जब किसी प्रिय कार्य में तन्मय, तल्लीन हो जाता है तब वह अपने को उसी में देखने लगता है; उस अवस्था में उसे अपने भौतिक शरीर की परवाह नहीं रहती; वह काम की धुन में श्रम-कष्ट का अनुभव नहीं करता क्योंकि उसका प्राण उस कर्म में मग्न हो जाता है। तब उसे शरीर का मोह नही रहता, केवल कर्त्तव्य एवं कार्य के महत्व का ध्यान रहता है। इस प्रकार स्वार्थ का बलिदान, सुखासक्ति का परित्याग करके ही मनुष्य महत्वपूर्ण कार्य कर सकता है। नीति का एक श्लोक है—

"शरीरनिरपेक्षस्य दक्षस्य व्यवसायिनः।
बुद्धिप्रारब्धकार्यस्य नास्ति किंचन दुष्करम् ॥"

कार्य की महत्ता से ही किसी मनुष्य की महत्ता प्रकट होती है। इसलिये स्वामी रामतीर्थ का यह मत सर्वथा मान्य है कि तुम जो-कुछ भी करते हो उसमें पूर्ण रूप से दिखाई पड़ो, तन-मन-धन से जुट जाओ—'Be all you are in all you do' तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपने प्रत्येक कार्य पर अपने व्यक्तित्व की छाप, योग्यता की मुहर लगा देनी

चाहिये। उसके द्वारा उस की महिमा उसी प्रकार प्रकट होनी चाहिये, जैसे सृष्टि से ईश्वर की, कविता मे कवि की और वृक्ष से बीज की। सत्कर्म ही सत्पुरुष का स्मारक होना चाहिये। यही आत्म-बलिदान का प्रयोजन है।

आत्म-बलिदान को हम एक और भी अर्थ में लेते है। वह है अपने को दूसरो में मिला देना—एकता, सहोद्योग। कोई भी व्यक्ति अकेले सब-कुछ नही कर सकता। नीति का वचन है कि उँगलियों की एकता के बिना एक तिनका भी नही उठाया जा सकता—'तृणोऽपि नैव गृह्येत करांगुल्यैकतां विना'—पंचतंत्र। वायु की सहायता के बिना अग्नि एक तिनके को भी नहीं जला सकती। महत्कार्य की सिद्धि के लिये पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता होती है। यह तभी हो सकता है जब प्रत्येक मनुष्य अपने को भूलकर, अपने अहकार को त्यागकर, दूसरो के मन के साथ मन मिलाकर एक प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रयत्न करे। इससे उसका अस्तित्व नहीं मिटता। कई ध्वनियों के साथ मिल कर एक की ध्वनि और भी तीव्र और प्रभावशालिनी हो जाती है। एक-एक का मत मिल कर ही तो लोकमत बन जाता है। एकात्मता से किसी की आत्मा का पतन नहीं होता। उससे तो मनुष्य का आत्मप्रभाव बढ़ ही जाता है। मनुष्य तभी प्रभावशाली हो सकता है जब वह दूसरों के स्वार्थ को अपना स्वार्थ समझे। इसीको हम आत्म-बलिदान कहते है। इससे मनुष्य को लोक-प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और बड़ा-से-बड़ा काम भी उसके लिये सहजसाध्य हो जाता है। बीज मिट्टी में मिलकर ही उगता है और फल-फूलकर फैलता है।

नवजीवन कैसे प्राप्त होता है?—एक बार कोई बड़ा काम कर देने में अथवा जीवन-पर्यन्त किसी एक ही काम मे जुटे रहने में मानव-जीवन की सार्थकता नहीं है। महाकवि गेटे ने लिखा है कि स्वाधीनता और सजीवता केवल उसी को मिलती है जो दिन-प्रतिदिन उनका उपार्जन करता चलता है—

"Freedom alone he earns as well as life;
Who day-by-day must conquer them anew." —*Faust*.

दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि मनुष्य के लिये नित्य नव-जीवन प्राप्त करना आवश्यक है। नवजीवन प्राप्त करने का अर्थ है जीवन और उसके क्षेत्र को क्रमशः विकसित बनाना। एक पाश्चात्य दार्शनिक ने इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। उसने लिखा है—"होने का अर्थ है दूसरे पदार्थों के साथ सम्बन्ध रखना''''''एक चेतन पदार्थ जितनी अधिक चीजो के साथ सम्बन्ध रखता है, उतना ही अधिक वह सजीव है। खूब जीने का अर्थ अपने सम्बन्धो के क्षेत्र और प्रगाढ़ता को बढ़ाने के सिवा कुछ नहीं।''''''यदि आप अपने नियमित व्यवसाय में ही दिलचस्पी रखते है, तो आप केवल उसी सीमा तक जीते है," अन्य विषयों से मुर्दा है।... "नये मित्रों और नये सम्बन्धो से हम नया जीवन प्राप्त करते है"—('युगान्तर' मासिक से उद्धृत)। उक्त विद्वान् ने अपने मत को स्पष्ट करते हुये आगे कहा है कि जीवन-क्षेत्र को संकुचित और सीमित नहीं होने देना चाहिये, नित्य नये गुण सीखने चाहिये क्योकि उससे जीवन-शक्ति बढ़ जाती है, अपने सम्बन्धो को विस्तृत एवं प्रगाढ़ बनाना चाहिये। इस प्रकार जीवन नवीन और व्यापक होता जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने भी कहा है कि अपनी दुनिया को छोटी मत होने दो। उसकी संकीर्णता एवं लक्ष्यहीनता से जीवन नीरस एवं अस्तव्यस्त हो जाता है। उसके क्षेत्र को बढ़ाते रहने से जीवन में सरसता और नित्य नूतन स्फूर्ति उत्पन्न होती रहती है। यही नवजीवन है। मनुष्य को भूतकाल का भूत न बन कर भविष्य की ओर देखते हुये नित्य आगे बढ़ना चाहिये।

नवजीवन ही नहीं, अमरजीवन भी प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है—यश प्राप्त करना। सत्कृति से मनुष्य को जो सत्कीर्ति मिलती है, वह वस्तुतः उसका नवजीवन ही है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इस बात को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है। राजा दिलीप सिंह से कहते है—

"किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं, यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां, पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥"
—रघुवंश।

इसका भावार्थ यह है—हे सिंह, यदि तुम मुझ पर दया दिखाना चाहते हो तो इस हड्डा-मांस के नश्वर शरीर पर दया मत करो। मेरे जैसे व्यक्तियों को ऐसे शरीर का मोह नहीं होता। हम लोग तो अपने यश-रूपी शरीर को ही महत्त्व देते हैं। तुम मुझे बचाना चाहते हो तो मेरे यश को नष्ट होने से बचाओ; मुझे कोई ऐसा कार्य करने को न कहो जिससे मेरा यश मिट्टी में मिल जाय।

यशोपार्जन ही सच्चा जीवनोपार्जन है। प्रसिद्धि ही महासिद्धि है। महाकवि गेटे ने कहा है कि इस स्थूल शरीर के नाश के बाद भी युग-युगों तक जीवित रहने में ही गौरव है। यशस्वी पुरुष ही इस प्रकार का जीवन प्राप्त कर सकता है। मनुष्य अपने गुण और चरित्र से ही यशस्वी होता है। अतएव जिसको जीवन से सच्चा अनुराग है, उसे इस प्रकार अपने चिरस्थायी जीवन का निर्माण करना चाहिये। उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर ने कहा है—

"हँस के दुनिया में मरा कोई, कोई रो के मरा।
ज़िन्दगी पाई मगर उसने जो कुछ हो के मरा॥"

कुछ होकर मरने का अर्थ है—मरने के बाद भी जीवित रहना। यह कर्मोपार्जित सत्कीर्ति द्वारा ही संभव है। —'स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत्'—महाभारत। कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति ही सच्चा यश पा सकता है। लौकिक जीवन की यही सब से अलौकिक बात है। मिट्टी की चलती-फिरती मूर्ति मिट्टी में मिलने के पहिले इसी प्रकार अपने जीवन-तत्त्व को सुरक्षित एवं संवर्द्धित करके नवजीवन का निर्माण कर सकती है।

: २ :

जीवन-यात्रा

१—चलते रहो

वेद के मत से उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का लक्षण है—'आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽनम्'—अथर्ववेद। जीवन के लिये सबसे आवश्यक बात यह है कि उसको रुकना नहीं चाहिये। मनुष्य के हृदय की एक-एक धड़कन और प्रत्येक साँस से ईश्वर का यह सन्देश सुनाई पड़ता है कि चलते रहो—चलते रहना ही जीवन की प्रकृति या सद्गति है; रुक जाना ही उसकी विकृति या दुर्गति है। तत्त्वदर्शी मनीषियों ने मनुष्यमात्र को यही उपदेश दिया है कि चलते रहो—परिश्रम से थके बिना सौभाग्य की प्राप्ति नहीं होती; बैठे हुये आलसी को पाप घर दबाता है; ईश्वर उसी का सहायक है जो दिनरात चलता रहता है—इसलिये चलते रहो, चलते रहो—

"नाऽनाश्रान्ताय श्रीरस्ति.........
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा।
चरैवेति, चरैवेति॥"—ऐतरेय ब्राह्मण।

जो चलता है, उसकी जाँघें पुष्ट होती हैं; फल-प्राप्ति तक उद्योग करने वाला आत्मा पुरुषार्थी होता है; प्रयत्नशील व्यक्ति के पाप भव-मार्ग में ही नष्ट हो जाते हैं—इसलिये चलते रहो, चलते रहो—

"पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरे अस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति, चरैवेति॥"—ऐतरेय ब्राह्मण।

भगवान् बुद्ध ने भी अपने प्रधान शिष्य को जीवन की सार्थकता का यही मूलमंत्र बताया था—'आनन्द, किसी दूसरे की शरण में न जाकर, अपनी आत्मा का ही आश्रय लो; सत्य को दीपक की भांति पकड़े रहो और बिना रुके आगे बढ़ते जाओ।' महापुरुषों के वाक्यों से ही नहीं, उनके चरित्र से भी यही प्रमाणित होता है कि चलते रहने में ही जीवन की सफलता और सबलता है।

यह देखा गया है कि चलते रहने से जीवन-मार्ग सुगम हो जाता है, प्रतिकूल परिस्थितियां भी अनुकूल हो जाती है, और मनुष्य कही-से-कहीं पहुँच जाता है। चलने वाला स्वस्थ, स्वतन्त्र, स्वावलम्बी एवं शक्तिशाली होता है। उसे पद-पद पर शकुन मिलते है, दूर तक की दुनिया आँखो के आगे दिखाई देती है। ईश्वर भी सचमुच उसकी सहायता करता हुआ मिलता है। संसार भी अपने मार्ग पर चलने वाले की खोज-खबर लेता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन में आशा-उमंग की धारा प्रवाहित्र रहती है। वह आगे बढ़ता हुआ उन्नति करता हुआ दिखाई देता है।

इसके विपरीत—जो बैठा रहता है, वह जहाँ-का-तहाँ ही रह जाता है। जो आराम के लिये पड़ा रहता है, अथवा आ राम! चिल्लाते हुये भाग्य की प्रतीक्षा करता है, उसे न राम मिलता है और न आराम। ऐसे व्यक्ति को केवल मक्खियाँ ही पूछती है। गतिहीन प्राणी प्रायः मतिहीन हो ही जाता है। उसका संसार बहुत संकुचित, शून्य और अन्धकारमय बन जाता है। अपने ही हाथ-पैर उसके अपने काम नहीं आते, दूसरे के काम क्या आयेंगे! उसकी प्राकृतिक विभूतियाँ उसके मिट्टी के शरीर में कंजूस के धन की तरह व्यर्थ गड़ी रहती है; न उसके काम आती है और न अन्य किसी के। उसका विकार-ग्रस्त एवं भार-स्वरूप जीवन धीरे-धीरे नहीं, बड़ी शीघ्रता के साथ मिट्टी में मिलने लगता है। जीवन तो नदी की धारा के समान है; प्रवाह रुकते ही उसकी मिठास जाती रहती है और उसका अस्तित्व भी मिट जाता है।

एक अनुभवी विचारक ने बड़े और छोटे आदमियो में यही अन्तर

माना है कि एक तो प्रगतिशील होता है, दूसरा घुटने टेके पड़ा रहता है। उसका कथन है कि जिन्हें हम अपने से बड़ा मानते हैं, वे इसलिये बड़े हैं कि हम अपने घुटने टेके पड़े हैं; हमें उठ जाना चाहिये—'The great are great only because we are on our knees. Let us rise.'—*Stirner*.

उठ जाने का अर्थ है—चल पड़ना, आगे बढ़ना। चलते रहने से जीवन की उन्नति क्यों होती है, इसको समझने के लिये जीवन के यथार्थ रूप को देखना चाहिये। मानव-जीवन प्रकृति का एक अंग है। प्रकृति द्वारा उसका पोषण तभी तक हो सकता है, जब तक वह अपने प्राकृतिक गुण-धर्म को धारण किये रहेगा। अप्राकृतिक होने पर उसका विनाश निश्चित है। सम्पूर्ण सृष्टि के जो गुण-धर्म होंगे, वही उसके अंग-प्रत्यंग के भी होंगे—'ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति पिण्डमध्ये च ते स्थिताः।' अपने जीवन के आदर्श को समझने के लिये हमें जगत् को और उसकी प्रगति के रहस्य को समझना चाहिये। मानव-प्रकृति विश्व-प्रकृति से भिन्न नहीं हो सकती।

२—सृष्टि का आदर्श

संसार कर्मात्मक है। भव-चक्र चलता ही रहता है। जगत् का अर्थ ही है प्रगतिशील—आगे बढ़ने वाला। विश्वव्याप्त एक चेतनाशक्ति उसको चलाती है। कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कहा है—ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में रहकर माया से प्राणिमात्र को ऐसा घुमा रहा है, मानो सभी किसी यन्त्र पर चढ़ाये गये हों—

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"

सृष्टि के भिन्न-भिन्न अंगों में एक ही आध्यात्मिक प्राणशक्ति है। उसी की प्रेरणा से सम्पूर्ण प्रकृति अपनी अनन्त लोकशक्तियों के साथ एक

निश्चित योजना के अनुसार प्रत्येक क्षण नव जीवन का निर्माण करती हुई आगे बढ़ती दिखाई देती है। प्रकृति में कहीं आलस्य नहीं है, स्तब्धता और स्वच्छन्दता नहीं है। यह नित्य नवीन होती रहती है। प्रकृति के विकास-नियम में हस्तक्षेप नहीं हो सकता। भगवान् की यह कार्यकारिणी शक्ति न तो स्वयं बैठना जानती है और न अपने किसी अंग को बैठने देना चाहती है। यह ईश्वरीय विधान है, अतर्क्य और यथार्थ है। प्रकृति की इस आन्तरिक चेष्टा का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति स्वय कर सकता है। किसी की प्रतीक्षा में जब आपको बेकार बैठना पड़ता है अथवा चुपचाप खड़े रहना पड़ता है तब आप ऊबने लगते हैं, बेचैनी और भारीपन का अनुभव करने लगते हैं। उस समय उठकर इधर-उधर टहलने से या अँगड़ाइयाँ लेने से अथवा अंग-संचालन से मन हलका हो जाता है, शरीर को सुख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि अन्तःप्रकृति चाहती है कि जीवन में जड़ता न उत्पन्न हो। सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि सक्रियता ही जीवन है— 'Life is movement.'

प्रख्यात जर्मन महाकवि गेटे ने प्रकृति की इस मूल-प्रवृत्ति को लक्ष्य करके कहा है कि प्रकृति अपनी प्रगति और विकास-क्रम में रुकना नही जानती और प्रत्येक निष्क्रिय, निरर्थक वस्तु को हठपूर्वक नष्ट कर देती है—"Nature knows no pause in her progress and development and attaches her curse on all inaction"

प्रकृति चाहती है कि सब स्वयं चलें और उसके कार्यक्रम को निर्विघ्न चलने दें। एक दार्शनिक ने कहा है कि 'बढ़ो अथवा मिट्टी में मिलो'— यही प्रकृति का कर्म-सिद्धान्त है। पेड़ जब तक प्रकृति से संयुक्त होकर बढ़ता है, तब तक प्रकृति का एक-एक तत्त्व उसका पोषण करता है। जब उसका विकास रुक जाता है तो वही प्रकृति धीरे-धीरे उसे नष्ट कर देती है। मानव-जीवन का भी यही हाल है। जब तक उसमें आगे बढ़ने की क्षमता होती है, तब तक उसकी स्वाभाविक शक्तियों के साथ-साथ प्रकृति

की समस्त शक्तियाँ उसके विकास में सहयोग देती हैं। जब उसमें शिथिलता आ जाती है, तो प्रकृति संसार से उसका अस्तित्व मिटाने के लिये तुल जाती है। वह निश्चेष्ट और निर्जीव पर दया नहीं करती। किसी आलसी को स्वस्थता, प्रसन्नता और शान्ति नही मिलती। इनसे प्रकट होता है कि उत्तरोत्तर विकासशील होना ही प्राकृतिक जीवन का आदर्श है।

प्रकृति के साथ असहयोग करना, वास्तव में, आत्मद्रोह है। उसकी इच्छा के विरुद्ध अपने को बाँधकर कोई जीवन का सच्चा लाभ नही पा सकता। मनुष्य का कल्याण इसी में है कि वह लोक-प्रकृति के साथ अपनी अन्तःप्रकृति का सयोग स्थापित करे। यही योग है; यही नवजीवन-दायक और सर्वसिद्धिप्रदायक है। संयोग स्थापित करने का अर्थ है—चलते रहना। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी ने एप्रिल १९३६ में प्रगतिशील लेखक सम्मेलन मे भाषण करते हुए कहा था—

"प्रकृति से अपने जीवन का सुर मिलाकर रहने में हमे इसलिये आध्यात्मिक सुख मिलता है कि उससे हमारा जीवन विकसित और पुष्ट होता है। प्रकृति का विधान वृद्धि और विकास है और जिन भावों, अनुभूतियो और विचारो से हमें आनन्द मिलता है, वह इसी वृद्धि और विकास की सहायक है।"—हंस, जुलाई, १९३६।

प्रकृति के वृद्धि और विकास के नियम से परिचित होने पर किसी को यह समझने में कठिनाई नही होगी कि प्रगतिशीलता जीवन के लिये आवश्यक है। उसे जीवन का मुख्य धर्म ही मानना चाहिये।

३—मनुष्य एक यात्री है

चलते रहना मनुष्य का मुख्य जीवन-धर्म क्यों है, इस पर एक अन्य दृष्टि से भी विचार कीजिये। सांसारिक जीवन मनुष्य के लिये क्या है? एक उर्दू कवि के शब्दो में—'समझे अगर इन्सान तो दिनरात सफर

है।' इस अस्थिर और परिवर्तनशील जगत् मे मनुष्य एक निश्चित समय के लिये आता है और उसके उपरान्त चला जाता है। संसार में वह ठहरने के लिये नही आता। विश्व-विख्यात कर्मोद्योगी स्वर्गीय हेनरी फोर्ड ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है कि जहाँ तक मै समझता हूँ, जीवन कोई पड़ाव नही, बल्कि एक यात्रा है; जो व्यक्ति इस प्रकार का विश्वास करके सन्तोष कर लेता है कि अब मै ठीक-ठिकाने से जम गया हूँ, उसे किसी अच्छी स्थिति में नहीं मानना चाहिये; ऐसा व्यक्ति, संभवतः, अवनति की ओर जा रहा है......गतिशील होना ही जीवन का लक्षण है—"Life, as I see it, is not a location, but a journey. Even the man who most feels himself 'settled' is not settled—he is probably sagging back......life flows."—*My Life and Work.*

मनुष्य एक यात्री है। लोक-मार्ग में वह स्वेच्छा से खड़ा नहीं रह सकता। उसे या तो आगे बढ़ना चाहिये, अन्यथा पीछे हटना पड़ेगा। संसार मे उसके लिये कहीं ठहरने का स्थान नहीं है, कोई छुट्टी का दिन नहीं है, किसी मार्गदर्शक या सुयोग की प्रतीक्षा मे उसे अपनी लौकिक यात्रा को स्थगित करने का अधिकार नही है। यदि वह आत्मोन्नति करना चाहता है, कही पहुचना चाहता है तो उसे विघ्न-बाधाओ में भी चलना पड़ेगा। चलते रहना ही लोकपथिक के जीवन का मुख्य उद्देश्य है। वह जब उचित मार्ग पर चलता है तो उसे लोकशक्तियो का साहचर्य सहज रीति से प्राप्त हो जाता है। साधारण यात्रा में भी लोग एक दूसरे के साथ शीघ्र हिलमिल जाते है और एक-दूसरे की सहायता करते है क्योंकि सब स्वभाव से यात्री हैं। जीवनयात्री को भी सहायकों की कमी नही रहती। भूलने-भटकने वाले या पड़े रहने वाले संसार में कष्ट भोगते ही मिलते है। वे अपने लक्ष्य तक नही पहुँच पाते। चलने वाले ही आगे बढ़े हुये मिलते है।

४—मनुष्य एक सैनिक है

जीवन के स्वरूप को एक प्रकार से और देखिये। उससे भी स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य के लिये चलते रहना क्यो स्वाभाविक एवं आवश्यक है। बाहर और भीतर से भौतिक जीवन संघर्षमय है। उसकी उत्पत्ति ही संघर्ष से है। शरीर-विज्ञान के पंडित आपको बतायेंगे कि जन्मधारण के पूर्व दो करोड़ से लेकर बीस करोड़ तक जीवाणुओ में प्रतियोगिता होती है। उनमे जो सबसे प्रबल और शीघ्रगामी शुक्राणु होता है, वही विजयी होकर जीवन धारण करता है, शेष पिछड़ने वाले नष्ट हो जाते है। इससे सिद्ध होता है कि जीव स्वभाव से ही एक विजयाकांक्षी सैनिक है। सैनिक का काम खड़े रहना अथवा पीठ दिखाना नहीं है। उसे तो गमनशील होना ही चाहिये। प्रत्येक क्षेत्र में अग्रसर होने मे ही सजीवता और सफलता है।

व्यावहारिक जगत् मे सर्वत्र यही भावना कार्य करती है। विषम परिस्थितियो में संघर्षों के बीच से प्रतियोगिता करते हुये जो आगे बढ़ जाता है वही जीवन में स्वाधीन और विजयी होता है। भय या आलस्य वश जो अपनी जान बचाने के लिये जीवन-संग्राम से दूर रहता है, वह अपने स्थान पर भी सुरक्षित नहीं रहता। वह या तो लड़खड़ा कर गिर जाता है, अथवा पराधीन हो जाता है।

५—मनुष्य को कैसे चलना चाहिये

चलते रहना जीवन के लिये क्यों उपयोगी है, और उसका अभिप्राय क्या है—यह बहुत-कुछ ऊपर की बातों से स्पष्ट हो जायगा। यहाँ इस विषय को अधिक स्पष्ट कर लेना आवश्यक है।

चलने का आशय क्या है? चलने का अर्थ केवल टहलना, सैर-सपाटा अथवा आँख मूँदकर दौड़ना नहीं है। किसी आवारा या लकीर के फकीर को हम प्रगतिशील नहीं मानते। चलता तो तेली का बैल भी

बहुत है—'ज्यों तेली के बैल को घर ही कोस पचास'—कबीर। परन्तु उससे उसकी महिमा नहीं बढ़ती। मनुष्य का चलना भिन्न प्रकार से होता है। वह चरण से कम, किन्तु आचरण से अधिक आगे बढ़ता है; शरीर से भी अधिक विचारों से चलता है। इसीको व्यावहारिक भाषा में चालचलन कहते हैं।

मानव-जगत् में चलने का अर्थ है—विकासोन्मुख होना, उत्तरोत्तर उन्नति के लिये उद्योग करना, अभ्यासमय जीवन बिताना, अपनी शक्तियों का सदुपयोग करना। जीवन का विकास ही उसकी प्रगति है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—"मानव-जीवन का सारा रहस्य उसकी वृद्धि में है। उसे दिन-दिन बढ़ते, बड़ा होते रहना चाहिये।" यही जीवन की सद्गति है और सद्गति सत्कृति से मिलती है। तात्पर्य यह है कि कर्म मनुष्य का मुख्य जीवन-वाहन है। उसे कर्मचारी होना चाहिये। भगवान् कृष्ण ने कहा है कि यदि तू कर्म करना छोड़ दे तो तेरी शरीर-यात्रा भी नहीं चल सकती—'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः'—गीता। कर्म-भ्रष्ट होने से मनुष्य पथ-भ्रष्ट और पतित हो जाता है। इससे हमें मानना चाहिये कि मनुष्य के चलने और आगे बढ़ने का प्रधान आधार उसका कर्म है। कर्म के अनुसार ही उसकी गति निर्धारित होती है। क्रिया और गति परस्परावलम्बी हैं।

कर्ममय संसार में क्रिया से अधिक बलवती अन्य कुछ नहीं है। मनुष्य उसीकी सहायता से जीवन के लक्ष्य तक पहुँचता है। योगवासिष्ठ के निम्नलिखित श्लोक उसके प्रभाव को स्पष्ट करने में सहायक होंगे—

(क) "न च निस्पन्दता लोके दृष्टेह शवतां विना।
स्पन्दाच्च फलसंप्राप्तिस्तस्मात् दैवं निरर्थकम्॥"

('संसार में मृत शरीर के सिवाय सभी में क्रिया दिखाई पड़ती है और उचित क्रिया द्वारा ही फल-प्राप्ति होती है, इसलिये दैव की कल्पना निरर्थक है।')

(ख) "यो यो यथा प्रयतते स स तत्तत्फलैकभाक् ।
न तु तूष्णीं स्थिते नेह केनचित्प्राप्यते फलम् ॥"

('यहाँ पर चुपचाप बैठे रहने से कुछ प्राप्त नहीं होता, जो-जो जैसा यत्न करता है, वैसा-वैसा ही फल पाता है ।')

(ग) "यः फलावलयो येन संप्राप्ताः सिद्धिनामिकाः ।
तास्ते नाधिगता राम निजात्प्रयतनद्रुमात् ॥"

('जो-जो सिद्धि नामक फल जिसने प्राप्त किये है, वे सब उन्होंने अपने पुरुषार्थ (प्रयत्न) रूपी वृक्ष से प्राप्त किये है ।')

संक्षेप में, यही समझना चाहिये कि अविरत परिश्रम ही जीवन है । 'Your life is continuous work.'—*Henry Ford* कर्मण्यता ही जीवन की प्रकृति है । निष्क्रियता मनुष्य की अकालमृत्यु है । जगद्गुरु शंकराचार्य ने निरुद्यमी को जीवन्मृत माना है—'जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः ।' उद्योग ही मनुष्य, चेतन प्राणी, का लक्षण है—'उद्योगं पुरुष-लक्षणम्'—महाभारत । वही पुरुषार्थ है । जीवन को विकसित करने के लिये मनुष्य को इसीका आश्रय लेना चाहिये । इसीके द्वारा वह संसार के लिये और संसार उसके लिये उपयोगी बन सकता है ।

केवल शारीरिक श्रम और निरुद्देश्य कोई भी कार्य करने से कर्म का प्रयोजन सार्थक नहीं होता । उसका अर्थ है—सोद्देश्य मनुष्योचित कार्य करना—ऐसा कार्य जो निर्माणात्मक हो और जीवन की वृद्धि में सहायक हो । कर्म हृदय और बुद्धि से भी होता है और उनके सहयोग से शारीरिक अंगों द्वारा भी । यदि हृदय बैठ जाय, अथवा बुद्धि काम न करे तो मनुष्य का कोई भी कार्य सफल नहीं हो सकता । अतएव जीवन के सर्वतोमुख विकास के लिये उसके सभी अंगो में युक्तियुक्त सक्रियता चाहिये । अपने प्रत्येक अंग और प्रत्येक स्वाभाविक शक्ति को निश्चित दिशा में संचालित करना ही जीवन को आगे बढाना है । मनुष्य की ध्येयोन्मुख

गति को प्रगति कहते है। जीवन में जब चलना ही है तो अपने लक्ष्य को पहचान कर पूरी शक्ति के साथ उसकी ओर बढ़ना चाहिये।

६—किस ओर बढ़ना चाहिये

अब प्रश्न यह है कि मनुष्य को कर्म करते हुये आत्मोन्नति के लिये किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। महर्षि वसिष्ठ का कथन है कि 'जिस मार्ग से जिस मनुष्य की उन्नति होती है, उस मार्ग पर चले बिना उसकी गति न शोभा देती है, न सुख देती है, न उसके हित के लिये है और न शुभ फल वाली होती है।'—

"येनैवाभ्युदिता यस्य तस्य तेन विना गतिः।
न शोभते न सुखदा न हिताय न सत्फला॥"

—योगवासिष्ठ।

मनुष्यमात्र के अभ्युदय का मार्ग कौन-सा है? जीविकोपार्जन के लिये लोग भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन लेते है और प्रायः अपने प्रयोजन में सफल भी होते है। परन्तु जीविकोपार्जन ही तो मानव-जीवन का मुख्य ध्येय नहीं है। जीविकोपार्जन और सन्तानोत्पादन तो पशु और कीड़े-मकोड़े भी कर लेते है। अतएव हम इन्हीं कर्मों में मानव-जीवन की सार्थकता नहीं मान सकते। तब मानव-जीवन का आदर्श क्या है? दूसरे शब्दों में, किस ओर चलने से जीवन का स्वाभाविक विकास हो सकता है?

इसके उत्तर में किसी एक दिशा की ओर संकेत करके यह कहना कठिन है कि इसी ओर चलने में सम्पूर्ण जीवन का कल्याण है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष जीवन के लक्ष्य अवश्य है, परन्तु उनकी प्राप्ति के लिये भी भिन्न-भिन्न दिशाओं में प्रयत्न करना पड़ता है। सत्य यह है कि मनुष्य का शरीर तो एक ही दिशा में बढ़ सकता है, परन्तु उसका बहु-मुखी जीवन अनेक दिशाओं में बढ़ता है। जीवन का आकार शरीर से कहीं अधिक विशाल है। उसकी प्रगति का क्षेत्र भी विस्तृत है। एक

जीवनयात्री को जिन मार्गों पर एक साथ बढ़ना चाहिये, उनमें से कुछ का उल्लेख करना यहाँ आवश्यक है।

(क) *सत्य की ओर* :—महर्षि व्यास के मत से सत्य ही परम गति है—'सत्यं हि परमा गतिः।' विदुर के मुख से उन्होंने कहलाया है कि सत्य ही स्वर्ग की सीढ़ी है—'सत्यं स्वर्गस्य सोपानं'—महाभारत। वेद का भी निर्णय है कि सत्य का मार्ग सुगम है—'सुगा ऋतस्य पंथाः' —ऋग्वेद। वही जीवन का सीधा रास्ता है। सीधे रास्ते पर भूलने-भटकने का भय नहीं रहता, इसलिये उसीको पकड़ना चाहिये। वही लोक-यात्रा का उचित मार्ग है। इधर-उधर दौड़ने की अपेक्षा ठीक रास्ते पर चलने से मनुष्य अपने लक्ष्य तक शीघ्र और सुगमता से पहुँच जाता है। मिथ्या आडम्बर, मृग-मरीचिका और मिथ्या वासनाओं के पीछे दौड़ने वाले, चलते तो बहुत हैं परन्तु कहीं पहुँचते नहीं और अपने प्रयत्न में निष्फल हो जाते हैं। उन्नतिशील प्राणी को सत्य का आश्रय लेना चाहिये; वह साधना का सुपरीक्षित एवं सरल मार्ग है; लोक-व्यवहार उसी से चलता है। सत्य का मार्ग ही सन्मार्ग है।

(ख) *ज्ञान की ओर* :—वेद का आदेश है कि अन्धकार से निकल कर प्रकाश की ओर चलो—'आरोह तमसो ज्योतिः'—अथर्ववेद। अन्धकार क्या है? अन्धकार अज्ञान को कहते हैं। अँधेरे में मनुष्य की जो दशा होती है, वही अज्ञान में भी। उसे ठीक रास्ता नहीं सूझता, आगे बढ़ने का साहस नहीं होता और उसके सभी अंग शिथिल हो जाते हैं। अज्ञान और अन्धकार में पद-पद पर मनुष्य के हृदय में दुर्भावनायें जाग्रत होती हैं। विद्वानों का मत है कि अज्ञान तामसिक भाव है, अज्ञानी पुरुषों की प्रवृत्ति तामसिक कार्यों की ओर होती है—'अज्ञानं तामसो भावः कार्यारम्भप्रवृत्तयः'—विष्णुपुराण।

अज्ञान से निकल कर ज्ञान की ओर चलना ही प्रकाश की ओर बढ़ना है। इसी के द्वारा जीवन प्रकाशित होता है। ज्ञान के प्रकाश से

ही मनुष्य की भ्रान्ति, जड़ता, अकर्मण्यता नष्ट होती है, सात्विक वृत्तियाँ जगती हैं और यथार्थता का बोध होता है। सजगता ही जीवन की जाग्रति है। वेद का वचन है—'भूत्यै जागरणम्, अभूत्यै स्वपनम्'—यजुर्वेद। 'जागना ऐश्वर्यप्रद है और सोना ऐश्वर्यनाशक है।' इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। जागने का अर्थ है ज्ञानयुक्त होना और सोने का अर्थ है ज्ञानहीनता। ज्ञान का मार्ग वास्तव मे जीवन के जागरण का मार्ग है।

लोक-यात्रा में कर्मयोगी के लिये ज्ञान कितना उपयोगी है, इसे भगवान् कृष्ण के इस कथन से समझा जा सकता है—

"यथा च दीर्घमध्वानं पद्भ्यामेव प्रपद्यते।
अदृष्टं पूर्वं सहसा तत्त्वदर्शनवर्जितः॥
तमेव च यथाध्वानं रथेनेहाशुगामिना।
गच्छत्यश्वप्रयुक्तेन तथा बुद्धिमतां गतिः॥"

—अनुगीता।

अर्थात्—जिस प्रकार लम्बे मार्ग पर कोई मनुष्य बिना विचारे हठपूर्वक पैदल चले, उसी प्रकार उसकी गति जो बिना विचारे कर्म में प्रवृत्त होता है। उसी मार्ग पर यदि शीघ्रगामी अश्वयुक्त रथ में बैठ कर चले तो सुख से पहुँच जाता है। इसी प्रकार बुद्धिमान् की गति है।

बुद्धिप्रधान जीव को इसी पद्धति का अनुसरण करना चाहिये।

(ग) *नैतिकता की ओर* :—नैतिकता की ओर अथवा नीति की राह पर चलने का आदर्श मनुष्य को प्रकृति से ग्रहण करना चाहिये। प्रकृति में कहीं स्वच्छन्दता नही है, उसके सभी अंग एक सिद्धान्त के अनुसार कार्य करते हैं। यदि सब स्वेच्छाचारी अथवा अनाचारी हो जायँ तो परस्पर टकरा कर चूर हो सकते हैं। इस प्रकार लोक-जीवन का स्वाभाविक विकास नही हो सकता। यह प्रकृति-विरुद्ध है। मनुष्य को भी जीवन के निश्चित नियमों के अनुसार संयम और सदाचार का पालन

करना चाहिये। उसे यह समझ लेना चाहिये कि संसार एक के लिये नही, सब के लिये बना है, इसलिये किसी को स्वच्छन्द होने का, छल-कपट, चोरी, भ्रष्टाचार आदि से स्वार्थ सिद्ध करने का अधिकार नही है।

मानव-चरित्र की एक मर्यादा है। विद्वानो ने मर्यादा की परिभाषा यह की है—" मर्य्यैः मनुष्यैः अदीयते स्वीक्रियते या सा मर्यादा।"—"जो सब मनुष्यो द्वारा मिलकर निश्चित करके स्वसम्मति से स्वीकार की जाती है, उसे मर्यादा कहते है।" इस मर्यादा का उल्लंघन किसी के लिये हितकर नही हो सकता क्योंकि इसके मूल में सत्य, अहिंसा, न्याय आदि—जीवन के मौलिक सिद्धान्त है। इसी के आधार पर मानव सभ्यता का विकास होता है।

नैतिकता की ओर चलना, वास्तव मे, मनुष्यता की ओर चलना है। यही सज्जनो का सनातन मार्ग है। इस पर जो नैतिक मार्ग पर चलता है, उसके साथ सारा समाज चलता है क्योकि नैतिक आदर्शों के आधार पर ही समाज की स्थापना होती है।

(घ) *एकता की ओर* :—विविधता में एकता प्रकृति की एक विशेषता है। एकता मानव स्वभाव में है; तभी तो लोग एक-दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करके परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते है। लौकिक जीवन की पूर्णता के लिये एकता के मार्ग पर चलना आवश्यक है। वेद का ईश्वरीय आदेश है कि मिलकर चलो—'संगच्छध्व'—ऋग्वेद। अथर्ववेद में कहा है—

"ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः साधुराश्चरन्तः।
अन्योन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात समग्रास्थ सध्रीचिनान्॥"

अर्थात्—'श्रेष्ठता प्राप्त करते हुये सब लोग हृदय से मिल कर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरे को प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझ को खीच ले चलो। परस्पर मृदु संभाषण करते हुये चलो और अपने अनुरक्त जनो से सदा मिले हुये रहो।'

एकता की ओर चलने का अर्थ है कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन का विकास करना। यही नहीं, उसका आदर्श है—'वसुधैव कुटुम्बकम्।' एकता की ओर चलने वाले को भव-मार्ग मे अनेक सहयात्री मिल जाते है। जीवन के विकास में वे उतने ही सहायक होते है, जितने जीवन-निर्माण में शरीर के पंचतत्त्व। एकता के मार्ग पर जो जितना ही आगे बढ़ता है वह उतना ही शक्तिशाली और प्रभावशाली माना जाता है। वास्तव में, वह लोक के लिये उतना ही उपयोगी है। एक अँगरेजी के कवि ने कहा है कि किसी का जीवन संसार के लिये तब तक व्यर्थ नहीं कहा जा सकता जब तक उसे चाहने वाला एक भी मित्र है। 'No man is useless while he has a friend'—*Stevenson.*

(ङ) *स्वाधीनता की ओर* :—मुक्ति ही जीवन की परम गति है। व्यावहारिक जगत् में स्वाधीनता का मार्ग ही, वास्तव मे, मुक्ति का मार्ग है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में कहा था—"सारी उन्नति के लिए पहली आवश्यक बात स्वाधीनता है। स्वाधीनता जैसी आचार-विचार में चाहिए, वैसी ही वह खाने-पीने में चाहिए, कपड़े-लत्ते में चाहिए और विवाह-सम्बन्ध में भी उसी स्वतन्त्रता की आवश्यकता है।" तात्पर्य यह है कि केवल वाह्य वन्धनो से मुक्त होना अथवा राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेना ही जीवन की पूर्ण स्वाधीनता नही है। मनुष्य को जीवन के मानसिक, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रो में भी स्वाधीनता—आत्म-निर्भरता—चाहिए। सब प्रकार से निर्मुक्त, स्वाधीन, स्वावलम्वी और समर्थ बन कर ही वह जीवन के राजमार्ग पर आगे बढ़ सकता है। प्रकृति चाहती है कि सब अपने-अपने पैरो पर खड़े हो, अपने-अपने हाथो से काम करें, अपनी-अपनी दृष्टि से देखें और अपनी-अपनी बुद्धि से विचार कर अपने-अपने कर्त्तव्य कर्म को करें। इसी लिए सबको स्वतन्त्र अंग मिले है। सबको ही अपने अवलम्बन से अपने लक्ष्य की ओर चलना चाहिए। दूसरों के कन्धों पर चलना जीवनयात्री का नही, श्मशानयात्री—शव का

लक्षण है। मनुष्य का जीवन उसी अंश तक सजीव रहता है, जिस अंश तक वह स्वाधीन होता है।

स्वाधीनता की वृद्धि के लिए प्रत्येक व्यक्ति को यथासम्भव विषय-वासनाओं से तथा मानसिक पराधीनता से मुक्त होना चाहिए; अन्ध-विश्वास तथा अन्ध-अनुकरण त्यागकर स्वतन्त्र बुद्धि से कर्त्तव्य-कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए तथा परभाग्योपजीवी न बनकर स्वावलम्बी श्रम-जीवी बनना चाहिए। मनुष्य को ऐसे ही कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए जो उसे क्रमशः स्वतन्त्रता की ओर ले जायँ। विष्णुपुराण में कहा है—'तत्कर्म यन्न बन्धाय, सा विद्या या विमुक्तये'—कर्म वह है जो बन्धन के लिए न हो, और विद्या वह है जो बन्धन से मुक्त करे। मनु ने भी इसी मार्ग की ओर संकेत करते हुए कहा है—

"यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत्।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत् सेवेत यत्नतः॥"

—मनुस्मृति।

अर्थात्—जो-जो कार्य पराधीन हो उस-उस कर्म को यत्न करके छोड़ दे, और जो-जो कर्म अपने आधीन हो उसका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करे। नीति-निपुण शुक्राचार्य के इस अनुभवसिद्ध वाक्य को सर्वदा स्मरण रखना चाहिय—'पारतंत्र्यात्परं दुःखं न स्वातंत्र्यात्परं सुखम्'—पराधीनता से बड़ा न कोई दुःख है और न स्वाधीनता से बड़ा सुख। जीवन का सच्चा आनन्द स्वाधीनता के मार्ग पर चलने से ही मिलता है। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं'—तुलसी।

(च) वसुन्धरा की ओर :—महाभारत का एक श्लोक है—

"सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥"

—महाभारत।

अर्थात्—शूरवीर, विद्वान् और सेवा-कार्य में कुशल—ये तीन प्रकार

के पुरुष सुवर्ण से भरी हुई पृथ्वी को खोजते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहिये की सभी प्रकार के योग्य व्यक्ति वसुधा के वैभव की आकांक्षा करते हैं। भौतिक सम्पत्तियों का संग्रह सुख-भोग के लिये ही नहीं, जीवन-धारण के लिये भी आवश्यक है। जीविका न चले तो जीवन कैसे चलेगा ? प्रत्येक व्यापार, जीवन-व्यापार भी, धन के आश्रय से ही सुचारू रूप से चलता है।

इस सम्बन्ध में गुलिस्ताँ की एक छोटी-सी कथा का एक अंश उल्लेखनीय है। एक पहलवान किसी नदी के घाट पर पहुँचकर पार जाने के लिये नाव पर जा बैठा। नाव खोलने के पहले मल्लाह सब यात्रियों से अपने पैसे वसूलने लगा। जब वह पहलवान के पास पहुँचा तो उसने (पहलवान ने) कहा—भाई, मैं तो पहलवान हूँ, मेरे पास पैसा तो नहीं, दस मनुष्यों का बल अवश्य है। मल्लाह बोला—तुम्हारा दस मनुष्यों का बल यहाँ व्यर्थ है; यहाँ तो तुम एक आदमी की उतराई का पैसा देकर ही नदी के पार जा सकते हो। सचमुच उस समय दो पैसों से जो हो सकता था, वह पहलवानी से असंभव था। जब बिना पैसे के मनुष्य नदी नहीं पार कर सकता तो भवसागर को पार करना तो और भी कठिन है। स्वयं तैरकर पार पहुँचने की क्षमता थोड़े ही व्यक्तियों में होती है। सामान्य व्यक्ति तो पैसे से ही तरते हैं। धन जीवन की बड़ी भारी शक्ति है। भौतिक जीवन अर्थ से ही वस्तुतः सार्थक होता है।

इन बातों को ध्यान में रखकर मनुष्य को उस मार्ग को ग्रहण करना चाहिये जिस पर चलने से सुखपूर्वक जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक सम्पत्ति प्राप्त हो सके। बौद्ध जातक में कहा है कि "ग्राम या अरण्य में, जहाँ आदमी को सुख प्राप्त हो, वही बुद्धिमान् आदमी की जन्मभूमि है, वही पलने की जगह है। जहाँ रहकर जी सकता हो, वहीं जाये; घर में रहकर मरने वाला न बने।"—

"गामे वा यदि वा रञ्ञे सुखं यत्राधिगच्छति।
तं जनित्तं भवित्तं च पुरिसस्स पजानतो॥
यम्हि जीवो तम्हि गच्छे न निकेत हतो सिया॥"

मनुष्य को आलस्य और गृहमोह त्यागकर श्रीमार्ग पर चलना चाहिये। हताश अथवा थोड़े धन से सन्तुष्ट होकर बैठना कापुरुषता है। कौटिल्य का मत है कि धन से सन्तुष्ट होने वाले को लक्ष्मी त्याग देती है—'अर्थतोपिणं श्रीः परित्यजति।' सम्पदा-वृद्धि के लिये पुरुषार्थी को निरन्तर उद्योग करना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिस प्रकार भी हो, धन बटोरना ही कर्त्तव्य है। सुखदायक, कल्याणकारक धन वही है जो न्यायपूर्वक अपने परिश्रम से प्राप्त होता है। महामुनि व्यास का मत है कि क्रूरता से प्राप्त की हुई लक्ष्मी नाश कर देती है और मृदु उपाय से प्राप्त की हुई पुत्र-पौत्रों तक चलती है—'प्रध्वंसिनी क्रूर-समाहिता श्रीः मृदुप्रौढा गच्छति पुत्र-पौत्रान्'—महाभारत। अतएव, मनु के कथनानुसार, अन्य प्राणियों के द्रोह के विना अथवा अल्पद्रोह से जो वृत्ति हो सके, विद्वान् को उसीका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। पाप की कमाई जीवन के लिये आगे चलकर अभिशाप बन जाती है। उद्योगी को न्यायोपार्जित धन के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

(ङ) *स्वर्ग की ओर* :—पृथ्वी से उठकर स्वर्ग की ओर बढ़ना जीवधारी का स्वभाव ही नहीं, कर्त्तव्य भी है। गीता में कहा है—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।' श्मशान मनुष्य की जीवन-यात्रा का अन्तिम स्थान या लक्ष्य नहीं है। वह उसके भी आगे जा सकता है और उसे जाना भी चाहिये। आगे जाने के लिये देव-मार्ग खुला है।

देव-मार्ग पर चलने का अर्थ है—आध्यात्मिक पूर्णता, सामाजिक प्रतिष्ठा, प्रभुत्व-ऐश्वर्य और कीर्ति प्राप्त करना। इन सबसे जीवन में सुख-शान्ति और दिव्यता की स्थापना होती है, मनुष्य ऊँचे उठता है। ऊपर को उठना ही स्वर्ग की ओर चलना है। उच्च स्थान पर पहुँचने से मनुष्य देववत् वन्दनीय हो ही जाता है। कौटिल्य ने कहा है कि अपने-अपने स्थान पर पुरुषों की पूजा होती है—'स्थान एव नराः पूज्यन्ते।' जो जितने ऊँचे स्थान पर पहुँचेगा, उतने ही ऐश्वर्य का अधिकारी होगा। परम-पद तपस्या, सुयोग्यता और सदाचार से मिलता है।

स्वर्ग की ओर चलने का एक उपाय है—नूतन जीवन की सृष्टि करना। इसका अभिप्राय केवल पुत्र उत्पन्न करना नहीं है। नूतन जीवन की सृष्टि मौलिक एवं साहसिक कार्यों से—अर्थात् रचनात्मक कार्यों से—होती है। उन्हीं से मनुष्य की ईश्वरता प्रमाणित होती है। ऐश्वर्य से युक्त निर्माणक्षम मनुष्य जहाँ भी रहेगा, वही स्थान स्वर्ग हो जायगा।

स्वर्ग का सबसे सुन्दर मार्ग कीर्ति का मार्ग है। कीर्तिकर कर्मों को करता हुआ मनुष्य अमरता की ओर बढ़ सकता है। शुक्राचार्य का कथन है कि "जिसकी कीर्ति जब तक भूमि में टिकती है, तब तक वह स्वर्ग में रहता है; अपकीर्ति ही नरक है, दूसरा नरक परलोक में नहीं है।"—

"भूमौ यावद्यस्य कीर्तिस्तावत्स्वर्गे स तिष्ठति।
अकीर्तिरेव नरको नान्योऽस्ति नरको दिवि॥"
—शुक्रनीति।

इस रहस्य को समझ कर मनुष्य को स्वर्गगामी बनने का शुभ प्रयत्न करना चाहिये।

(ज) *शान्ति की ओर*:—जीवन में संघर्ष करते हुये भी मनुष्य को शान्ति की ओर ही बढ़ना उचित है—यही प्रकृति का आदर्श है। प्राकृतिक जीवन में चारों ओर परस्पर प्रतियोगिता है, परन्तु कहीं अशान्ति या विक्षुब्धता नहीं है। मनुष्य को भी नीति का अनुकरण करना चाहिये। इसका सबसे बड़ा शिक्षक तो उसका हृदय है जो निरन्तर चलते हुये भी अपने काम से अशान्त या विक्षुब्ध नहीं होता; बड़े-से-बड़े आघात को भी वह चुपचाप सहने का प्रयत्न करता है। महाक्रान्ति में भी मनुष्य हृदय से शान्त रह सकता है और शान्त रहने से ही उसकी आत्मशक्ति स्थिर रहती है।

हृदय की प्रेरणा एवं सम्मति से कार्य करते हुये ही मनुष्य शान्ति प्राप्त कर सकता है। वह कार्य चाहे युद्ध ही क्यों न हो, यदि हृदय उस का समर्थन करता है तो उसको करने से शान्ति अवश्य मिलेगी। इसके

प्रतिकूल, जिस कार्य का समर्थन हृदय नहीं करता, वह काम कितना भी लाभदायक क्यों न हो, उससे चित्त को शान्ति नहीं होगी। अतएव शान्ति का उपाय मनुष्य को अपने हृदय से पूछना चाहिये। वही ठीक दिशा की ओर संकेत कर सकता है।

चित्तसंयम या अन्य किसी भी उपाय से आत्मिक शान्ति प्राप्त कर लेना ही शान्ति की ओर अग्रसर होने का प्रमाण नहीं है। इसका उद्देश्य है अपने आस-पास भी शान्ति का वातावरण—विश्व-शान्ति उत्पन्न करना। यदि बाहर अशान्ति रहेगी तो उससे हमारी भीतर की शान्ति भी भंग हो सकती है। इस प्रकार का वातावरण पुलीस, पलटन या कानून की सहायता से नहीं उत्पन्न होगा। लोकजीवन में मंगलमयी शान्ति की स्थापना शिक्षा, सुमति, प्रेम, सहानुभूति और शुभ कर्म से ही हो सकती है। शान्ति-प्रेमियो को इस दिशा में इन्हीं के सहारे प्रयत्न करना चाहिये।

७—जीवन-पथ-प्रदर्शक

जीवन की विविध दिशाओं में मानव-चरित्र का विकास किस ढंग से होना चाहिये, इसका विस्तृत विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। सार रूप में यही समझना चाहिये कि जीवन के कुछ सिद्धान्त है, कुछ निश्चित मार्ग है। उनके अनुकूल चलने से जीवन का स्वाभाविक विकास होता है और मनुष्य को उन प्राकृतिक शक्तियो की सहायता मिलती है जो स्वयं उन्हीं दिशाओं में कार्य कर रही है। छोटे-मोटे अथवा उद्देश्यहीन कार्यों में अमूल्य जीवन का अपव्यय होता है।

कबीर का कथन है—'चलन-चलन सब कोइ कहै, पहुँचै बिरला कोइ।' सचमुच बिरले ही अपने लक्ष्य तक पहुँचते है। इसका कारण केवल यही नहीं है कि संसार का मार्ग दीर्घ और दुर्गम है। मुख्य कारण यह है कि साधारणतया लोग अपने कर्त्तव्य-मार्ग को नहीं पहचानते।—

"राह बिचारी क्या करै, पंथि न चलै बिचार।
अपना मारग छाँड़िके, फिरै उजार-उजार॥"—कबीर।

किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर मनुष्य लक्ष्य-च्युत हो ही जाता है। इसलिये प्रत्येक लोकयात्री को अपने कर्त्तव्य-कर्म का ज्ञान होना चाहिये। ऊपर जिन आदर्श पथों की ओर संकेत किया गया है, उनके अतिरिक्त भी अभ्युदय के अनेक मार्ग हैं। कोई मनुष्य केवल अपनी बुद्धि से उचित मार्ग, अर्थात् कर्त्तव्य, का निश्चय नहीं कर सकता। अतएव मार्ग-दर्शकों की सहायता लेनी आवश्यक है। एक विलायती कहावत है—'He goes astray who never asks.' अर्थात्—जो कभी पूछता नहीं, वह इधर-उधर भटक जाता है। मनुष्य के कुछ जीवन-पथ-प्रदर्शक हैं। वे ठीक रास्ते का पता बताते हैं। उनमें से दो-एक के सम्बन्ध में ऊपर यथास्थान कुछ लिखा जा चुका है। यहाँ कुछ प्रमुख मार्गदर्शकों का संक्षिप्त परिचय देना अप्रासंगिक न होगा।

(क) धर्म :—धर्म पुरुषार्थों का प्रमुख पथ-प्रदर्शक है। वेदव्यास का आदेश है—'धर्मे मतिर्भवतु वः सततोत्थितानां'—सर्वदा उन्नति चाहने वाले, तुम्हारी मति धर्म में लगी रहे।

धर्म के नाम से किसी को चौंकना नहीं चाहिये। जिस प्रकार सभी दिशायें एक ही आकाश में मिलती है, अनेक मार्ग एक चौरस्ते पर मिल जाते हैं, उसी प्रकार जीवन के समस्त सांस्कृतिक आदर्शों का समावेश धर्म में होता है। ऊपर जिन मार्गों का उल्लेख हुआ है उनका यदि एक नाम देना हो तो हम उन्हें धर्म-मार्ग कह सकते हैं। सभी कर्म-मार्ग उसीसे निकलते हैं। यहाँ पर धर्म की व्याख्या न करके हम व्यास के शब्दों में उसका सूक्ष्म परिचय देना ही पर्य्याप्त समझते है—

"प्रसवार्थाय भूतानां धर्मं प्रवचनं कृतम्।
यत्स्यात्प्रसवसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥"

—महाभारत।

('प्राणियों की अभिवृद्धि के लिये धर्म का प्रवचन किया गया है; अतः जो प्राणियों की अभिवृद्धि का कारण हो, वही धर्म है।')

"लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः ।
उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ॥"—महाभारत ।

('लोकयात्रा के निर्वाह के लिये धर्म का नियम किया गया है। यह धर्म इहलोक-परलोक (वर्तमान और भविष्य) में भी परिणाम में सुख-दायक होता है।')

जीवन के अभ्युदय का मार्ग कौन-सा है—इसका निर्देशक धर्म ही है। वही कर्म का प्रेरक—उसका प्राण—है। किसी भी कर्म को धर्म से संयुक्त करके साधना करना ही सदाचार कहलाता है। धर्मानुकूल आचरण ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। यह शास्त्रीय पद्धति है।

आधुनिकता के आवेश में धर्म-शास्त्र को प्राचीन कहकर त्याग देने में बुद्धिमानी नहीं है। जिस प्रकार जीवन कभी प्राचीन नहीं होता, उसी प्रकार सच्चा धर्म भी सर्वसामयिक होता है। उसका तात्त्विक ज्ञान कभी पुराना नहीं पड़ता। उसीको ग्रहण करना चाहिये। पुरातन आत्मा से ही नवजीवन का निर्माण होता है, पुराने बीजों से नई फसल तैयार हो जाती है। प्राचीन होने से ही किसी वस्तु की उपयोगिता नष्ट नहीं हो जाती। धर्म-शास्त्र से जीवन-सम्बन्धी तत्त्व की बातें लेकर समयानुसार उनका सदुपयोग और विकास करना चाहिये। अनेक महापुरुषों ने ऐसा ही किया है। वेद के तत्त्वों को लेकर दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की। धार्मिक सिद्धान्तों को ही व्यावहारिक रूप देकर गांधी ने नवभारत का निर्माण किया। धर्म का प्रयोजन इसी प्रकार सफल होता है। तात्त्विक ज्ञान को व्यावहारिक रूप देकर विकसित करना धार्मिक शिक्षा का उद्देश्य है।

बहुत-से लोग धर्म को प्रगति में बाधक मानते हैं। उनका कहना यह है कि उससे अन्ध-अनुकरण की प्रवृत्ति का पोषण होता है, मनुष्य आगे न देखकर पीछे की ओर देखता हुआ एक बँधे ढर्रे पर चलने लगता है। इटली के सुप्रसिद्ध देशभक्त मैज़िनी ने इस दोष को लक्ष्य करके ही कहा

है कि अपने पुरखो के डेरों में सोते मत पड़े रहो, दुनिया आगे बढ़ रही है, उसके साथ आगे बढ़ो—"Slumber not in the tents of your fathers. The world is advancing. Advance with it."

इसमे सन्देह नही कि यदि मनुष्य अतीत काल को ही लिये पड़ा रहेगा तो उसकी भविष्य की उन्नति रुक जायगी। इसलिये समय के साथ बढ़ना आवश्यक है। प्राचीन धर्म इसमे बाधक नहीं है। धर्म के साथ जो बहुसंख्यक रूढ़ियाँ, अन्ध-परम्परायें चल पड़ी है, वास्तव में, वे ही जीवन की बेड़ियाँ है। उनसे मुक्त होकर यदि मनुष्य स्वतंत्र बुद्धि से सविवेक धर्म की मूल भावनाओ को ग्रहण करे तो वह निश्चय ही भविष्य की ओर बढ़ेगा। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके है, पुरानी आत्मा को नया शरीर चाहिये। पुराने धर्म को नये विचारो से संयुक्त करना चाहिये। ऐसा होने से धर्म प्रगतिशील बना रहता है।

समय के साथ स्वतंत्र बुद्धि से आगे बढ़ने का जो उपदेश दिया जाता है, उसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य भड़ककर जीवन के निश्चित मार्ग का परित्याग कर दे। कुटिल गति से अनिश्चित मार्ग पर चलने की अपेक्षा, साधु गति से एक बँधे ढर्रे पर ही चलना अच्छा है। सत्य यह है कि असाधारण पुरुष यद्यपि अपने जीवन-मार्ग का निर्माण स्वयं करते हैं, परन्तु एक हद तक उन्हें भी पहले से बने-बनाये मार्ग पर चलना पड़ता है। जबतक कोई अपना घर नहीं बना लेता तबतक वह किराये के घर में भी गृहस्थी चलाता है। क्या कोई बुद्धिमान् यह सोचकर बैठा रहता है कि हम दूसरों की बनाई हुई सड़क पर नही चलेंगे, जब अपनी सड़क बना लेंगे तभी चलेंगे? जिस मार्ग से चलकर लोग सफलता प्राप्त कर चुके है, उसको अपनाने मे क्या हानि है? यदि वह टूटा-फूटा है तो उसे उसी प्रकार सुधार लेना चाहिये, जैसे हम अपनी सड़कों की मरम्मत करते रहते है। कम-से-कम नवीन यात्रियो के लिये सुपरिचित मार्ग से यात्रा का आरम्भ करना ही श्रेयस्कर है। मनु ने कहा है कि जिस मार्ग

से बाप-दादा चले हों, उस सत्पथ से आप भी चले। उस मार्ग से चलने से दोषभागी नहीं होना पड़ता—

"येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ।
तेन यायात्सतां मार्ग तेन गच्छन्न रिष्यते ।।"—मनुस्मृति।

धर्म किस प्रकार जीव-पथ-प्रदर्शक हो सकता है, यह इन बातों से बहुत-कुछ स्पष्ट हो जायगा। जीवन-यात्री को सावधानी के साथ उसके दिखाये हुये मार्ग को ग्रहण करना चाहिये। सावधानी की आवश्यकता इसलिये है कि सुपरिचित मार्ग भी सदा सुरक्षित नहीं रहता। इसलिये आँखें खोलकर, समझ-बूझ कर चलना चाहिये।

(ख) *साहित्य* :—साहित्य भी जीवन का श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक है। दर्शन-शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के साहित्य से भी कर्त्तव्य-निश्चय में सहायता मिलती है। काव्य, इतिहास, नीति-शास्त्र, जीवन-चरित—इन सबसे मनुष्य यह सीख सकता है कि किस परिस्थिति में उसे कैसा आचरण करना चाहिये। उदाहरणार्थ, रामायण को लीजिये। उससे पति, पुत्र, पिता, माता, भाई, पत्नी की चरित्र-मर्यादा का ज्ञान होता है, लोकादर्श का पता चलता है। साहित्य से जीवन का सत्य ही नहीं प्रकाशित होता, उससे आगे बढ़ने की स्फूर्ति भी मिलती है। यही नहीं, उससे जीवन की शुष्कता भी मिटती है। उसमे जनता का पथ-प्रदर्शन और मनोरंजन करने की कितनी क्षमता होती है, इसे हम रामचरितमानस का प्रभाव देखकर समझ सकते हैं। जिस प्रकार एक छोटी चाबी से कोई बहुत बड़ा खज़ाना खुल जाता है, उसी प्रकार एक सूक्ति से कभी-कभी ज्ञान-कोष खुल जाता है।

स्वर्गीय प्रेमचन्द ने अपने एक भाषण में एक बार कहा था—"साहित्य की जो सबसे अच्छी तारीफ़ की गई है, वह यह है कि वह अच्छे-से-अच्छे दिल और दिमाग के अच्छे-से-अच्छे भावों और विचारो का संग्रह है।" लोकयात्री को इससे लाभ लेना चाहिये। लाभ लेने का उपाय है—

अध्ययन। अध्ययन ध्यानपूर्वक पढ़ने, स्वतन्त्र चिन्तन करने और तत्व को धारण करने से सफल होता है। उच्च विचारों को ग्रहण करने के लिये स्वयं अपनी बुद्धि को उत्तेजित करना आवश्यक है।

(ग) *महापुरुष* :—महापुरुष भी कर्म का मार्ग बताने में बड़े सहायक होते हैं। ऋषियों का आदेश है—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'—कठोपनिषद्। अर्थात्—उठो, जागो और सत्पुरुषों के पास जा कर उनसे जीवन के रहस्य को समझो। महापुरुषों के उपदेशों से ही नहीं, मुख्यतः उनके चरित्र से बहुत-कुछ सीखा जा सकता है। संस्कृत का एक नीति-वाक्य है—'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' इसका आशय यह है कि महापुरुषों के मार्ग पर चलना चाहिये। उनके मार्ग पर चलने का अर्थ उनकी नकल करना अथवा उनके इशारों पर नाचना नहीं है। तत्व को ग्रहण कीजिये। तत्व की बात यह है कि बड़ों के अनुभव से लाभ लेना चाहिये, सुपरीक्षित आर्य-पद्धति—सज्जनों की प्रणाली—श्रेष्ठ पुरुषों के आदर्श को ग्रहण करना चाहिये। उनके चरित्र से एक बहुत बड़ी शिक्षा तो यही मिलती है कि जिस कार्य को मनुष्य करना चाहे, उसे वह कर सकता है; जैसा बनना चाहे, वैसा बन सकता है। एक विलायती कहावत है—'Where there is a cart ahead there is a track' अर्थात्—जहां आगे एक गाड़ी दिखाई पड़ती है वहां उसके पीछे रास्ता भी होगा। उस रास्ते से हमारा जीवन-शकट भी वहाँ तक पहुँच सकता है। पहुँचे हुये लोग इसी प्रकार मार्ग-प्रदर्शन करते हैं।

(घ) *देवदूत* :—मनुष्य का निकटतम पथ-प्रदर्शक एवं कार्य-संयोजक उसकी पुरी (देह) में ही रहता है। वह ईश्वर का राजदूत है। उसी का अनुभव करके ऋषियों ने कहा था—'केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'—मेरे भीतर किसी अज्ञात देवता का वास है; वह मुझ से जैसा करवाता है, मैं वैसा करता हूँ। वही आत्मा ज्ञान-विज्ञान का स्रोत है। प्राचीन ऋषि-मुनि, ईसा, बुद्ध, मुहम्मद आदि

कहीं के डॉक्टर या एम० ए० नहीं थे। उन्होने उसीसे लोकयात्रा-सम्बन्धी शुद्ध ज्ञान लेकर अपने-अपने जीवन-मार्ग का निर्माण किया था। गांधीजी आत्मा के अनुभव को ही ज्ञान मानते थे।

आत्मा का अनुभव तो कठोर तपस्या से होता है। सर्वसाधारण के लिये प्रत्येक स्थिति मे आत्मा का ध्यान रखना इसका सहज उपाय है। यह बुद्धि की अन्तर्मुखता से हो सकता है। मनु ने कहा है कि जिस कर्म को करने से अन्तरात्मा को सन्तोष हो, उसको यत्नपूर्वक करे; इसके विपरीत जो कर्म हो उसको न करे—

"यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥"

—मनुस्मृति।

इस प्रकार आत्मा का ध्यान रखने से मनुष्य कुमार्गगामी नहीं हो सकता। आत्मा दैवी विभूति है; माता की भाँति निर्दोष है। वह प्रत्येक अवस्था मे बुद्धि को कर्त्तव्य के लिये ही प्रेरित करेगी। भविष्य के अन्धकारमय मार्ग पर पैर रखने वाले लोकयात्री को इस ज्ञान-दीपक को यत्नपूर्वक पकड़ रखना चाहिये—'अन्धकारे प्रवेष्टव्यं दीपो यत्नेन धार्य्यताम्।'

(ड) *काल*:—जीवन के प्रवर्त्तक काल के गुण-धर्म को भी पहचानना आवश्यक है। कालात्मक संसार मे प्रत्येक वस्तु कालबद्ध होनी ही चाहिये। समय की उपेक्षा करके मनुष्य अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। कालोपयुक्त कर्म ही सफल होता है; काल-विरुद्ध प्रयत्न उपद्रव हो जाता है। समय के आदर्श मनुष्य के लिये किस प्रकार अनुकरणीय हैं, इस पर संक्षेप में विचार कीजिये।

मुख्य बात यह है कि समय परिवर्तनशील है, इसलिये जीवन को भी परिवर्तनशील—नित्य नवीन—होना चाहिये। इसी को सामयिकता कहते हैं। ऋतु-परिवर्त्तन के साथ लोग अपने रहन-सहन में आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन कर लेते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक युग के

आचार-विचार में समयानुकूल परिवर्तन होना चाहिये। यही बात परम बुद्धिमान् हनुमान् ने अपनी वृद्धावस्था में भीम से कही थी—'युगं समनुवर्त्तामि कालो हि दुरतिक्रमः'—वनपर्व। अर्थात्—मैं युग के अनुसार चलता हूँ क्योंकि कोई भी काल का उल्लंघन नहीं कर सकता।

समयानुसार चलने का अर्थ यह नहीं है कि यदि बरसात में पानी बरसता हो तो आप भी खड़े होकर अश्रुधारा बहाने लगें अथवा जाड़े में और भी ठंडे हो जायें। इसका अर्थ है समयोपयोगी प्रयत्न करना—समय को देखकर जैसी आवश्यकता हो वैसा उपाय करना। कालिदास ने कहा है कि समय पर बरती हुई नीति सफल होती है—'काले खलु समारब्धाः फलं बध्नन्ति नीतयः'—रघुवंश। इस उपाय से मनुष्य समय के चक्कर में नहीं पड़ता; समय ही उसके अनुकूल हो जाता है।

भविष्य की ओर दृष्टि रख कर क्रमशः आगे बढ़ना काल का स्वभाव है। वह पीछे नहीं लौटता। प्रगति का यही रहस्य है। मनुष्य को भी समय के साथ निरन्तर आगे बढ़ना चाहिये। समय के साथ ही नहीं, उसे दूरदर्शी होकर समय के थोड़ा आगे भी बढ़ना चाहिये। पिछड़ने से समय हाथ से निकल जाता है। उसको खो देने से जीवन का मूल्य घट जाता है क्योंकि समय संसार की सब से मूल्यवान् वस्तु है। समय पर और यथासंभव समय-पूर्व कार्य करना ही समय को साथ रखना है। 'समय चूकि पुनि का पछिताने'—तुलसी।

प्रत्येक मनुष्य को यह भलीभांति समझ लेना चाहिये कि उसके जीवन का सबसे सुन्दर काल वही है जिसमें वह काम करता रहता है। कर्म-अकर्म के अनुसार ही उसके युग का और उसके भविष्य का निर्माण होता है। मनु ने राजा के लिये जो कहा है, वही सबके सम्बन्ध में सत्य है।—

"कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगं।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् ॥"

—मनुस्मृति।

अर्थात्—जब वह सोता रहता है तब कलियुग, जब जगता है तब द्वापर, जब कर्मोद्यत होता है तब त्रेता और जब कर्मशील होता है तब सतयुग होता है।

८—सहायक कौन हैं ?

जीवनयात्रा में उपरोक्त पथ-प्रदर्शको से तो सहायता मिलती ही है, परन्तु मनुष्य को अन्य सहायको की भी आवश्यकता होती है। साधारण यात्रा में ही हम देखते हैं कि केवल मार्ग से परिचित होने से ही काम नहीं चलता है। बुद्धि और दृष्टि साथ न दें तो पैर रास्ते पर ठीक से नहीं चल सकते। लोक-यात्रा के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। यहां पर मनुष्य के कुछ सहज सहायको के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये।

(क) ईश्वर :—लोकपथिक का पहला साथी तो ईश्वर ही है। उसकी कृपा से कहा जाता है कि 'पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।' अपने दुर्गम-से-दुर्गम मार्ग को भी भगवान् के भरोसे लोग पार कर लेते है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि और शक्ति थक जाती है, वहाँ भगवान् की शक्ति ही काम देती है। तुलसी का एक दोहा है—

"तुलसी राम सुदीठि तें निबल होत बलवान।
बैर बालि सुग्रीव के कहा किये हनुमान॥"

—दोहावली

जिस उपाय से भी हो सके, मनुष्य के लिए अनुग्रह प्राप्त करना कल्याणकर है। श्रद्धा-भक्ति एवं ध्यान-उपासना से हृदय में उसकी अनुभूति होती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि काम-धाम छोड़कर राम-राम रटना चाहिये। श्रुति-निर्णय है कि परिश्रम के विना देवता सहायता नहीं करते—'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' —ऋग्वेद। भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है—

"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥"

—गीता ।

अर्थात्—"प्राणिमात्र की जिससे प्रवृत्ति हुई है और जिससे सब जगत् व्याप्त है, उसका अपने कर्मों के द्वारा पूजन करने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है ।"

वास्तव में, उसका ध्यान रखकर कर्त्तव्य करना ही उसकी उपासना है । जो श्रद्धापूर्वक उसका ध्यान रखकर काम करेगा वह पथ-भ्रष्ट कैसे होगा ? उसे तो बात-व्यवहार में भी इसका ध्यान रहेगा कि 'घट-घट में वह साँई रमता कटुक-वचन मत बोल रे'—कबीर । ईश्वर के सहयोग लाभ का यही रहस्य है ।

(ख) *आत्मसम्बल* :—ईश्वर के बाद मनुष्य का दूसरा प्रधान साथी है उसका आत्मसम्बल । क्रिया के लिये शक्ति चाहिये—शारीरिक शक्ति ही नहीं, मानसिक शक्ति भी । वीर्य-शौर्य से ही सिद्धि मिलती है । जो प्रबल होगा वही प्रगतिशील होगा । जिसमें दम नहीं होगा, वह तो चार कदम चलकर ही हाँफने लगेगा । हृदय, बुद्धि और मन तथा शरीर भी जब दृढ़, सशक्त होते हैं तभी मनुष्य कुछ कर सकता है । एक की भी निर्बलता से वह अपना पूर्ण पुरुषार्थ नहीं दिखा सकता ।

आत्मसम्बल अभ्यास से प्राप्त होता है । मनुष्य को सर्वप्रथम यह देखना चाहिये कि उसके पास किन-किन स्वाभाविक साधनों की कमी है, इसके बाद उनकी प्राप्ति के लिये उद्योग करना चाहिये । महात्मा गाँधी के शब्दों में—'अपनी अपूर्णता को महसूस करना प्रगति का पहला कदम है ।' सुयोग्य होने का यही उपाय है ।

मनुष्य को यह देखना चाहिये कि उसके पास पर्य्याप्त मनोबल—निर्भयता, आशा, उत्साह, साहस, धैर्य आदि—है कि नहीं । इनके बिना वह आगे नहीं बढ़ सकता । उसे यह देखना चाहिये कि उसकी बुद्धि में

जागरूकता, प्रगल्भता एवं विवेक और दूरदर्शिता आदि है कि नहीं। बुद्धि ही तो मानव का विलक्षण बल है—'प्रज्ञाना बलं ह्येव निष्प्रज्ञस्य बलेन किम्।' उसी दीपक से मनुष्य को संसार में सब कुछ दिखाई पड़ता है—'बुद्धिर्दीपकला लोके यया सर्वं प्रकाशते'—पंडितराज जगन्नाथ। अतएव यदि वही निर्बल, निष्क्रिय और मलिन होगी तो मनुष्य लक्ष्यच्युत हो ही जायगा। मन्दबुद्धि या दुष्टबुद्धि भी कहीं उन्नति करता है? जिसे सूझ-बूझ नहीं होती वह मतिहीन तो गतिहीन हो ही जाता है।

स्वभाव सब कामों में आगे रहता है। गन्दे स्वभाव से काम भी गन्दा होता है, कर्कश स्वभाव से व्यवहार में भी कर्कशता आ जाती है। स्वभाव में उदारता, निष्कपटता, निर्भीकता आदि गुण न होने से मनुष्य आचार-विचार से भी संकुचित, दूषित और भीरु हो जाता है। स्वभाव के अनुसार ही उसका दृष्टिकोण भी बन जाता है।

अपनी स्वाभाविक शक्तियों का निरीक्षण इसी ढंग से करके मनुष्य को आत्मनाशक विषय-वासनाओं से मुक्त होना चाहिये और उन सद्गुणों को संयमपूर्वक धारण करना चाहिये जिनसे अन्तःकरण बलवान् होता है। ये सद्गुण ही मनुष्य के सच्चे जीवन-संगी, प्राण-सखा होते हैं। शुक्राचार्य के मत से—विद्या, पराक्रम, दक्षता, बल और धैर्य—ये पाँच मनुष्य के सहज मित्र हैं क्योंकि बुद्धिमान् लोग इन्हीं के सहयोग से काम चलाते हैं।—

"विद्या शौर्यं च दाक्ष्यं च बलं धैर्यं च पंचमम्।
मित्राणि सहजान्याहुर्वर्तयन्ति हितैर्बुधाः॥"

बुद्धिमान् मनुष्य को ऐसे मित्रों का साथ नहीं छोड़ना चाहिये।

(ग) *विद्या और कला* :—विद्या और कला जीविका के लिये ही नहीं, सारे जीवन के लिये नितान्त उपयोगी है। शुक्राचार्य ने कहा है कि समस्त विद्या और कलाओं का अभ्यास न करना वृद्धावस्था का एक कारण होता है—'सर्वविद्यास्वनभ्यासो जराकारी कलासु च।' इनसे

जीवनी शक्ति बढ़ती है। विद्या और कला से युक्त पुरुष निर्धन भी हो कर समर्थ, सहृदय और कार्य-कुशल होता है। इन्हींके द्वारा वह काम का आदमी बनता है। अतएव इन्हें अन्तरग मित्र मानकर अपनाना चाहिये। एक उत्तम गुण भी मनुष्य को कहीं से कहीं पहुँचा देता है। 'न तत्र धनिनो यान्ति यत्र यान्ति बहुश्रुता:'—विद्वान् जहाँ जा सकता है, उतनी दूर तक धनी नहीं पहुँच सकता। कलाधर शिव के मस्तक पर भी सुशोभित होता है।

(घ) *संगीत*:—इस प्रसंग में संगीत का विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है क्योकि वह लोकयात्री का बड़ा ही सरस और प्रभाव-शाली जीवनसंगी, सद्भावनाओं का उत्तेजक, संयोजक और श्रम-निवारक है। संगीत जीवन-यात्रा के लिये कितना उपयोगी है, इसे कवि बच्चन की निम्नलिखित भावपूर्ण पंक्तियो से समझा जा सकता है—

"मैं गाता हूँ इसलिये जवानी मेरी है।
वे दुर्गम पथ का श्रम-संकट भी क्या जानें,
जो उस पर पाँव बढ़ाते गाते जाते हैं।
जिनके कंठों में गीत नहीं धीमे पड़ते,
वे फूल-सदृश पर्वत का बोझ उठाते हैं।
तुमने मुँह बाँधा, इससे ही तो पाँव बँधे,
ले कंठ खुला मैं आगे झपटा जाता हूँ।
मैं गाता हूँ इसलिये रवानी मेरी है,
मैं गाता हूँ इसलिये जवानी मेरी है॥"

—मिलन-यामिनी।

संगीत सचमुच जीवन को रसमय—प्रवाहमय बनाता है; और रस ही तो जीवन है। संसार के दुःखों को भी जो हँसते-हँसते सहने की शक्ति चाहते हैं, उन्हें गाते हुये आगे बढ़ना चाहिये। संगीत को साथ रखने से एक तो प्राण चैतन्य एवं प्रसन्न रहता है, दूसरे जीवन में सूनापन नह मालूम होता।

(ङ) *कुछ अन्य सहायकः*—जीवन के कुछ ऊपरी सहायक भी हैं जिनसे मनुष्य को चलते रहने का प्रोत्साहन मिलता है। ऐसे सहायकों में हम समाज, परिवार, मित्र, द्रव्य, शिक्षा, अनुभव और व्यवसाय आदि को ले सकते हैं। इनकी सहायता किस प्रकार उपयोगी होती है, इसका एक उदाहरण लीजिये। जिसके साथ परिवार होगा, उसे बाल-बच्चों के लिये ठीक से परिश्रम करके कमाना ही पड़ेगा। वह न तो बैठ सकता है, और न समय गँवा सकता है। इसके अतिरिक्त वह परिवार एवं कुल-मर्यादा का विचार करके अपने चरित्र को भी संयत रक्खेगा। वह अपनी गृहस्थी को सम्हालेगा और इसके बदले में गृहस्थी उसे सम्हालेगी। इसी प्रकार अन्य सहायको के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। किसी भी प्रकार की लौकिक योग्यता मनुष्य की व्यावहारिक सफलता के लिये उपयोगी होती है।

६—पथ-बाधक

साधारण यात्रा में जिस प्रकार चोर-ठगों से सावधान रहना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जीवनयात्रा में भी मनुष्य को अनेक गुप्त शत्रुओं से सतर्क रहना आवश्यक है। प्रकट शत्रुओ की अपेक्षा गुप्त शत्रु अधिक भयंकर होते हैं। यहाँ पर ऐसे पाँच-सात मुख्य पथ-बाधकों के सम्बन्ध में भी विचार कर लेना चाहिये।

(क) *आलस्य*:—आलस्य कर्मपथिक का प्रमुख पथ-बाधक है। महर्षि वसिष्ठ ने सत्य कहा है कि "यदि जगत् में आलस्य-रूपी अनर्थ न होता तो कौन धनी और विद्वान् न होता! आलस्य के कारण ही यह समुद्रपर्य्यन्त पृथ्वी निर्धन और मूर्ख (नरपशु) लोगो से भरी पड़ी है।"—

"आलस्यं यदि न भवेज्जगत्यनर्थः,
को न स्याद्बहुधनको बहुश्रुतो वा।
आलस्यादियमवनिः ससागरान्ता,
सम्पूर्णानरपशुभिश्च निर्धनैश्च॥"

—योगवासिष्ठ।

आलस्य का अर्थ है—इच्छाशक्ति की निष्क्रियता—कम काम और अधिक आराम की लालसा—कर्मद्वेष, सुखासक्ति। यह एक भयंकर मनोव्याधि एवं जड़ता की जननी है। आलस्य मनुष्य के जीवन को निरर्थक एवं भारस्वरूप भी बना देता है। नेपोलियन ने ठीक ही कहा है कि निरर्थक जीवन बड़ा भारी बोझ है—'An useless life is a heavy burden.' महाकवि गेटे ने निरर्थक जीवन को मनुष्य की अकालमृत्यु माना है। बेकारी में मनुष्य का नैतिक पतन स्वाभाविक है। चोरी आदि सामाजिक अपराधों का जन्म अकर्मण्यता से ही होता है। बेकारी ही में लोग लड़ते हैं। आलस्य अनेक प्रकार से बलवान् मनुष्य की उन्नति का मार्ग रोककर खड़ा हो जाता है। वह मन को काम में नहीं लगने देता और मन जब काम मे नही लगता तो विषय-वासनाओं में फँस ही जाता है।

(ख) *अन्धता* :—अन्धता भी मनुष्य की प्रगति में बहुत बाधक होती है। अन्धे को रास्ता नही सूझता। अन्धता का अर्थ केवल दृष्टिहीनता नहीं है। उसके अनेक भेद है और हर प्रकार की अन्धता, चाहे वह धर्मान्धता ही क्यों न हो, मनुष्य को पथ-भ्रष्ट बना देती है। इसके कुछ उदाहरण लीजिये। अन्धधी होने पर लोग स्वबुद्धि से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन नहीं कर पाते, यथार्थदर्शी और दूरदर्शी न होकर वे मनोरथों के पीछे मारे-मारे घूमते है। स्वार्थान्ध होने पर वे अपने अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं देख सकते; परिणामतः दूसरों से टकरा कर गिर जाते हैं। कामान्धता का दुष्परिणाम सर्वविदित है। मदान्ध होने से मनुष्य बहक जाता है और धनान्धधी होने पर तो उसे पैसे के सिवा कुछ सूझता ही नहीं। वासनाओ की प्रबलता से जब मनुष्य की अन्तर्दृष्टि मलिन हो जाती है तब वह विवेकहीन और पतनोन्मुख होकर अन्धे का सा आचरण करने लगता है। 'विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः'—भर्तृहरि।

अज्ञान के अतिरिक्त अविवेक का एक मुख्य कारण है असंयम। मन

जब इन्द्रियों के वश में हो जाता है तब उसे उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं होता क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अंधी हैं। वे अपने-अपने तामसिक विषयों की ओर अचेत होकर उसी प्रकार दौड़ती हैं जैसे चुम्बक की ओर लोहा। इस दशा में मनुष्य अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर कैसे चलेगा! अहंकार भी अन्धता का एक प्रधान कारण है। उस पर हम आगे विचार करेंगे।

(ग) अहंकार :—अहंकार को व्यावहारिक भाषा में मिथ्या अभिमान कहते हैं—अर्थात् जो वस्तु अपने पास नहीं है उसका अभिमान करना। थोड़ा-बहुत बड़प्पन पाकर जब मनुष्य अपने को बहुत बड़ा और दूसरों को तुच्छ मानने लगता है तब उससे उसका अहंकार ही प्रकट होता है। यह अनेक प्रकार से मनुष्य की उन्नति में बाधक है।

जो लोग स्वभाव से अहंकारी होते हैं या हो जाते हैं, उनका जीवन-क्षेत्र बहुत संकुचित होता है। उसी संकीर्ण क्षेत्र में वे अपना कल्पित रूप बनाकर मिथ्या गौरव का स्वप्न देखते रहते हैं, बड़प्पन के मोह या मानापमान के भय से आगे नहीं बढ़ते। किसी विलायती विचारक ने अहंकारी की उपमा 'पिन' से दी है। जिस प्रकार पिन का सिर उसे कागज के छेद के पार नहीं जाने देता, उसी प्रकार अहंकार से फूले हुये मनुष्य का सिर उसे दुनिया में आगे नहीं बढ़ने देता—'A prudent man is like a pin, his head prevents him from going too far.'

अहंकार इस प्रकार की जडता ही नहीं, भयंकर उत्तेजना भी उत्पन्न करता है। दर्पदग्ध व्यक्ति अपनी असमर्थता का विचार न करके शक्ति से अधिक पराक्रम दिखाने की चेष्टा करता है।—'बीछू मंत्र न जानहीं साँप पिटारे हाथ।' ऐसे दुस्साहस—उछल-कूद का परिणाम अनर्थकारी होता है। विद्या-बुद्धि, धन या पद का अहंकार मनुष्य को भड़का कर पतन के गड्ढे में गिरा देता है। मचलने से या ऐंठते हुये चलने से किसी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अँगरेजी में एक कहावत है—'Gaze at the moon and fall into a ditch.' इसका भावार्थ यह है कि यदि तुम चन्द्रमा की ओर—बहुत ऊपर की ओर दृष्टि करके चलोगे तो किसी-न-

किसी गड्ढे में गिर पड़ोगे। अहंकार में यही होता है, मनुष्य का दिमाग़ आसमान पर चढ़ जाता है, वह वास्तविक स्थिति को देखकर नहीं चलता। ऐसी दशा में नीचे से फिसलने पर सिर टूटने का भय तो सदा रहता ही है।

(घ) *भय* :—भय भी जीवन-यात्री का बड़ा भारी बन्धन है। उससे गति स्तब्ध हो जाती है—पैर की ही नहीं, हृदय और बुद्धि की भी। भयभीत व्यक्ति किसी काम में या तो आगे बढ़ता ही नहीं और बढ़ता भी है तो लड़खड़ाता हुआ। भय से रक्खा हुआ चरण हमेशा गलत रास्ते पर पड़ता है। प्रायः हर प्रकार का भय—चाहे वह मृत्यु का हो या सांसारिक कष्टों का, शत्रु का हो या कार्य की कठिनाइयों का, विफलता का हो अथवा दूसरों के उपहास का—मनुष्य की उन्नति में बाधक होता है। विमूढ़ता, व्यसन, स्वार्थ-परायणता, आत्म-दुर्बलता और नैतिक कायरता भय के कुछ मुख्य कारण है।

(ङ) *लोभ* :—लोभ, चाहे वह पैसे का हो या मान-प्रतिष्ठा का, भोजन का हो या किसी भी वस्तु का, मनुष्य को फँसाकर कर्महीन बना देता है। नाना प्रकार के प्रलोभनों में फँसकर ही मनुष्य अपने स्वास्थ्य, चरित्र और सुख, शांति एवं कीर्ति की हानि करता है। भ्रष्टाचार के मूल में पैसे की प्रबल तृष्णा ही तो रहती है। भगभक्त (पैसे का पुजारी) भगवान् को भी नहीं पूछता; वह तो पैसों की माया मे ही उलझा रहता है।

लोभ किस प्रकार मनुष्य को कर्त्तव्य-विमुख बनाता है, इसका एक सुन्दर दृष्टान्त हमें याद आता है। प्राचीन ग्रन्थो में वत्स के राजा उदयन और अवन्ती की राजकन्या वासवदत्ता के सम्बन्ध में एक कथा मिलती है। अवन्ती-नरेश प्रद्योत की इच्छा के विरुद्ध वत्सराज उदयन उसकी कन्या को एक हाथी पर लेकर राजधानी से भाग निकला। भागने के पहले उसने हाथी पर स्वर्णमुद्राओं से भरे हुये कई थैले रख लिये थे। प्रद्योत के

सैनिको ने उसका पीछा किया। उदयन ने उन्हे अपने निकट पहुँचते देख कर तीर-तलवार से नहीं, स्वर्ण-मुद्राओ से उनका सामना किया। मुद्राओ की वर्षा से शत्रुओं की प्रगति रुक गई। सब शत्रु सैनिक उसका पीछा करना छोड़कर धन बटोरने लगे। सामने पड़ी हुई मुद्राओ का लोभ कौन त्यागता? इस बीच में उदयन को और दूर निकल जाने का अवसर मिल गया। इधर अवन्ती के लोभी सैनिक एक-एक मुद्रा बीनकर फिर अपने शिकार के पीछे दौड़े। उन्हें आते देखकर उदयन ने पुनः स्वर्ण-वर्षा की। सब जहाँ के तहाँ रुक गये और आपस में ही सोने के टुकड़ों के लिये वैसे ही लड़ने लगे, जैसे हड्डी के लिये कुत्ते लड़ते है। इस उपाय से आक्रमण-कारियो को बारम्बार पराजित करता हुआ उदयन अवन्ती की सीमा के बाहर निकल गया।

ऐसी ही एक घटना इन दिनो आगरे में हुई है जिसका वृत्तान्त १९ सितम्बर १९५१ के 'लीडर' (इलाहाबाद का सुप्रसिद्ध अँगरेजी दैनिक पत्र) में छपा है। कपड़े की एक बहुत बड़ी दूकान पर, जो दोमंजिले पर थी, सशस्त्र डाकुओ ने दिनदहाड़े हमला किया। लूट में उन्हे २९०००) मिले। उनके निकल भागने के पूर्व ही दूकान वालों का हल्ला-गुल्ला सुन कर कोठी के बाहर हजारों आदमी जमा होगये थे। डाकुओं के निकलने का कोई रास्ता नहीं था। उनके सरदार ने तुरन्त दस हजार रुपये के नोट भीड की ओर फेंककर कहा—भाइयो, लीजिये—आप ही लोगों के लिये हमने इसे लूटा है। सब का ध्यान इधर-उधर उड़ते हुये नोटों की ओर चला गया। 'लूट सकै सो लूट' की भावना से प्रेरित होकर लोग एक-दूसरे को ठेलते हुये नोटो पर टूट पड़े। डाकुओ का रास्ता खुल गया। वे भीड के बीच से होते हुये निकल भागे।

इस प्रकार की घटनायें नित्य होती है। एक-न-एक प्रलोभन में फँस कर लोग अपने कर्त्तव्य को भूल जाते है, और कुत्तो का सा आचरण करने लगते है। अँगरेजी के प्रख्यात उपन्यासकार सर वाल्टर स्काट ने सत्य कहा है कि अबतक नंगी तलवार मानव-देहो की हत्या उतनी संख्या

में नहीं कर सका है, जितना संख्या में आत्माओं का वध चांदी के सिक्के ने किया है—"The silver penny slew more souls than the naked sword slew bodies."

(च) *आतुरता* :—मनुष्य के बहुत-से काम उसके चित्त की आतुरता के कारण बिगड़ जाते हैं। जातक में लिखा है कि जो आदमी बिना विचारे उतावली में काम करता है, उसके वह काम ही उसे उसी प्रकार तपाते हैं जैसे मुख में डाला हुआ गरम भोजन—

"असमेक्खितकम्मन्तं तुरिताभिनिपातिनं।
सानि कम्मानि तप्पेन्ति उण्हं वज्झोहितं मुखे॥"

फ्रांस के सुप्रसिद्ध प्रहसन-लेखक मोलियर ने कहा है कि जल्दबाजी गलती की सीधी सड़क है—'Unreasonable haste is the direct road to error.' उतावली में मनुष्य छटपटा कर ठीक रास्ते को त्याग देता है। प्रायः यह देखा जाता है कि बहुत-से लोग सफलता के लिये व्यग्र होकर एक काम को अधूरा छोड़कर दूसरा काम आरम्भ कर देते हैं अथवा घंटे भर का काम पांच मिनट में निपटाने के लिये चंचल हो जाते हैं। परिणाम क्या होता है ?—'आधी छोड़ सारी को धावे, आधी रहे न सारी पावे।' आतुरता से मनुष्य आगे न बढ़ कर, जहां रहता उससे भी पीछे चला जाता है।

(छ) *दीर्घसूत्रता* :—दीर्घसूत्रता भी एक बड़ा बन्धन है। 'क्या करें, क्या न करें' की विचिकित्सा के कारण मनुष्य समय पर कुछ नहीं कर पाता। इसीलिये महाभारत में कहा है कि दीर्घसूत्री विनष्ट, अर्थात् कार्य में असफल, हो जाता है—'दीर्घसूत्री विनश्यति।' बुद्धि की निष्क्रियता, अन्तर्द्वन्द्व—अनिश्चितता के कारण मनुष्य जब कर्त्तव्य का निश्चय नहीं कर पाता तो वह समय पर अपना कर्त्तव्य कैसे करेगा ! बड़े-बड़े ज्ञानी भी अपनी दीर्घसूत्रता के कारण अपने ज्ञान का सदुपयोग नहीं कर पाते। गुलिस्तां के यशस्वी लेखक शेख़सादी को एक बार अपने मित्रों के

साथ एक आवश्यक काम से एक जंगली रास्ते से होकर जाना था। उस रास्ते में लुटेरो का बड़ा भय था। इसलिये उन्होंने अपने दल में एक नामी तीरन्दाज को भी ले लिया। रास्ते में डाकुओं ने यात्री दल को घेर लिया। शेख़सादी ने लक्ष्य-वेधक से आक्रमणकारियो का सामना करने को कहा। वह धनुष पर तीर चढ़ाकर बड़ी देर तक निशाना ही साधता रहा, इस बीच में डाकू लोग सबको लूट-पाट कर चले गये। शेख़सादी उस नामी आदमी को निकम्मा कहकर धिक्कारने लगे। तब उसने कहा—मैं क्या करूँ, कोई ठीक निशाने पर आता ही नही था; इस विचार-संकट में पड़ गया कि इनमें से किसको पहले मारूँ और किधर से ऐसा मारूँ कि वार ख़ाली न जाय; निशाना चूकने से मुझे लज्जित होना पड़ता, इसलिये मैंने नहीं मारा।

दीर्घसूत्रता से कर्म-घात इसी प्रकार होता है।

(ज) *व्यसन* :—व्यसन भी मनुष्य को जकड़ने वाली बेड़ियाँ हैं। किसी भी दुर्व्यसन में आसक्त व्यक्ति की दशा वैसी ही हो जाती है जैसे—'चूहा बिल न समात है, पूँछ बाँधिये छाज'—वृन्द। वह जीवन के लिये एक अनावश्यक बोझ हो जाता है।

इस प्रसंग में मनुष्य की कुछ अन्य स्वाभाविक दुर्बलताओं का उल्लेख भी किया जा सकता है, परन्तु इन्हीं से पाठको को यह विदित हो जायगा कि वास्तव में जीवन-यात्री के प्रमुख पथ-बाधक बाहर नहीं, उसके अन्त-र्जगत् में रहते हैं। शत्रु, दुर्भाग्य या कुअवसर से उसको उतनी बाधा नहीं होती जितनी अपने विकारो के बन्धन से होती है। भीतरी बन्धनो से मुक्त होकर ही वह बाहरी विघ्नबाधाओ को जीतता हुआ आगे बढ़ सकता है। महर्षि वसिष्ठ ने बन्धन-मुक्ति का रहस्य यह बताया है—

"मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि।
बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि॥"

—योगवासिष्ठ।

अर्थात्—जो बुद्धि से मुक्त है वही वास्तव में मुक्त है, चाहे वह कर्मेन्द्रियो से बंधा ही क्यो न हो; और जो बुद्धि से बँधा है—पराधीन है, वह सचमुच बन्धनग्रस्त है, चाहे वह शरीर से मुक्त ही क्यो न हो।

बाहरी विवशता को दोष देने के पूर्व अपनी मानसिक असमर्थता की ओर ध्यान देना चाहिये। निर्धनता का बहाना करने के पहले यह देखना चाहिये कि कहीं हम अपनी बुद्धि-रंकता के कारण तो दीन-हीन नहीं बन गये हैं! आन्तरिक निर्बलता से सहज कार्य भी कठिन प्रतीत होता है, साधारण भार भी पहाड़ जैसा लगता है। समर्थता-असमर्थता का निर्णय मनुष्य की आत्मशक्ति के अनुसार होता है। अतएव बाहर की प्रतिकूल परिस्थितियो में भी आगे बढ़ने के लिये मनुष्य को भीतर से स्वाधीन, शक्तिसम्पन्न एवं उद्योगशील होना चाहिये।

१०—साधना

जीवन का मार्ग आदि से अन्त तक कठिनाइयो का मार्ग है। उस पर पद-पद पर विघ्न मिलते हैं। सारा जगत् ही प्रपंचपूर्ण है। उसमे परस्पर विरोधी शक्तियो में प्रतिक्षण प्रतियोगिता होती रहती है। इसीको जीवन-संघर्ष कहते हैं। संसार का एक भी मार्ग ऐसा नही है जिसे हम पूर्णतया आपदाशून्य कह सकें। स्वर्ग के मार्ग में भी वैतरणी मिलती है। अपने जिन लौकिक मार्गों को हम बहुत उत्तम एवं सुखदायक समझते हैं वे और भी अधिक कंटकाकीर्ण होते हैं। स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' के शब्दो में—

"पथिक प्रेम की राह अनोखी, सम्हल-सम्हल कर चलना है।
घनी छाँह है यदि ऊपर तो, नीचे काँटे बिछे हुये॥"
—प्रेम-पथिक।

लोकयात्री को निर्विघ्न मार्ग एक भी नहीं मिलेगा। इसलिये उसे विघ्न-बाधाओं की परवाह न करके पूरी तैयारी के साथ अपने कर्त्तव्य-पथ पर अग्रसर होना चाहिये। जीवन में चढ़ाव-उतार, उलट-फेर होते

ही रहते हैं। उनसे घबड़ा कर बैठ जाना या इधर-उधर भागना पुरुषार्थी का धर्म नहीं है। उसे तो चोट खाते हुये भी, एक सैनिक की भांति, जीवन-संग्राम में निरन्तर आगे ही बढ़ना चाहिये। यही प्रगति का रहस्य है—यही जीवन की साधना है।

"जहँवा गैल सिलहिली, चढ़ौं गिरि-गिरि परौं।
उठौं सम्हारि-सम्हारि, चरन आगे धरौं॥"

—कबीर।

विघ्नबाधाओं को पद-दलित करने का यही उपाय है। गिरने पर पुनः उठने का और उद्योग करते हुये आगे बढ़ने का उत्साह होना चाहिये। काम तो लगन से ही होता है। वसिष्ठ का मत है कि "जो जिस पदार्थ के पाने की इच्छा करता है और उसको पाने के लिये क्रमशः यत्न करता है, वह उसको अवश्य प्राप्त कर लेता है, यदि बीच में प्रयत्न को न छोड़ दे।"—

"यो यमर्थं प्रार्थयते तदर्थं चेहते क्रमात्।
अवश्यं स तमाप्नोति चेदर्धान्न निवर्तते॥"

—योगवासिष्ठ।

विपत्ति में पड़कर छटपटाने की अपेक्षा उसको दूर करने का उपाय करना चाहिये, उलझनों को सुलझाना चाहिये।

सम्पत्ति से मोहित होकर कर्म का परित्याग करना भी उचित नहीं है। कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—'फूल चुनने के लिये ठहरो मत, आगे बढ़े चलो, तुम्हारे मार्ग में निरन्तर पुष्प खिलते रहेंगे।' मनुष्य को वायु का सहधर्मी होना चाहिये। वायु किसी कुंज में जाकर भोग-विश्राम नहीं करता; इसी भांति वह दुर्गन्धित स्थान में जाकर भी निर्लिप्त ही रहता है। सुख-दुःख में मनुष्य को ऐसा आचरण करना चाहिये जिससे उसकी उन्नति का क्रम न खंडित हो।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक भाषण में कहा था—"हमारे पीछे कोई आता है या नहीं, यह विचार भी न लाओ। बराबर आगे-आगे-आगे बढ़ो।" कर्मयोगी को न तो अकेलेपन से डरना चाहिये और न निन्दा-स्तुति से विचलित होना चाहिये। उसे अपने ध्येय की ओर दृढ़ता के साथ अकेले ही बढ़ना चाहिये।

जीवन के रण-क्षेत्र में पीठ दिखाने से किसी को वीरवाञ्छित गति नहीं मिलती। पुरुषार्थी को मस्तक ऊँचा करके प्रत्येक दशा में आगे बढ़ना चाहिये। फ्रांस के विश्वविख्यात क्रान्तिकारी साहित्यिक विक्टर ह्यूगो ने एक स्थान पर लिखा है कि यदि ईश्वर ने मनुष्य को पीछे की ओर चलने के इरादे से बनाया होता तो वह उसकी आँखों को आगे न बनाकर सिर के पीछे बनाता—"If God had intended man to go behind He would have given him eyes in the back of his head."

मनुष्य तो आगे बढ़ने के लिये ही बना है; उसे रुकना नहीं चाहिये, पिछड़ना भी नहीं चाहिये। निरन्तर अग्रसर होने के लिये अविश्रान्त उद्योग करना, तन-मन से जीवनोपयोगी कार्य में जुटे रहना, शीघ्रता और दृढ़ता के साथ—(आशुर्भव, स्थिरो भव–शुक्ल यजुर्वेद)—प्रयत्नशील होना ही उसके लिये श्रेयस्कर है। उसे अपने हृदय की भाँति जीवन के प्रत्येक अंग को चैतन्य करते हुये, उसमें नवीन रस पहुँचाते हुये अविरत परिश्रम करना चाहिये। जीवन की रक्षा और वृद्धि इसी प्रकार हो सकती है। साधना से ही सिद्धि मिलती है।

स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद' की निम्नलिखित पक्तियों से प्रत्येक जीवन-यात्री के लिये एक सुन्दर सन्देश है—

"हिमाद्रि तुंग-शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती।
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती॥
अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़प्रतिज्ञ सोच लो।
प्रशस्त पुण्य-पंथ है, चढ़े चलो, बढ़े चलो॥"

जीवन के मंगलमय मार्ग पर चलते रहिये। जिस कर्त्तव्य-मार्ग पर चलने से जीवन का विकास होता है, उस पर चलिये। उस मार्ग में पाप का भय नहीं रहता, अपने विनाश की शंका नही होती। वही पुण्य-पंथ है, सौभाग्य का पथ है।

: ३ :

मनुष्यता का महत्व

१—अजातशत्रु की अमानुषिकता

इतिहास-प्रसिद्ध महाराजा अजातशत्रु के जीवन की एक उल्लेखनीय घटना है। युवावस्था में उसने अपने दुष्ट मित्र देवदत्त के भड़काने से अपने वृद्ध पिता मगधराज बिम्बिसार के विरुद्ध हत्या का षड्यन्त्र किया। बिम्बिसार को जब इसका पता चला तो उसने पुत्र की वासनाओ को शान्त करने के लिये उसे चम्पा प्रदेश का शासक नियुक्त कर दिया। अजातशत्रु राजा बनकर देवदत्त के साथ प्रजा को लूटने लगा। जनता में हाहाकार मच गया; लोग रोते-चिल्लाते बिम्बिसार के पास पहुँचे। बिम्बिसार ने यह सोचकर कि संभवतः बड़ा राज्य पाकर अजातशत्रु को लूटपाट करने की आवश्यकता न पड़ेगी, उसे अपनी राजधानी राजगृह के अतिरिक्त सम्पूर्ण मगध राज्य का स्वामी बना दिया। इतने पर भी अजातशत्रु का अत्याचार कम नहीं हुआ। तब पुत्रमोही महाराजा ने उसे राजगृह भी सौंप दिया, परन्तु राजकोष पर अपना ही अधिकार रक्खा।

इसपर भी अजातशत्रु को सन्तोष नही हुआ। देवदत्त ने उसे सुझाया कि जिसके हाथ में राज-कोष रहता है, वास्तव में, वही राज्य का सर्व-समर्थ स्वामी होता है—अतएव राज्य-लक्ष्मी को अपने हाथ में रखना चाहिये। बिम्बिसार ने देखा कि अर्थ के पीछे अनर्थ होने वाला है, इस लिये उसने अपना सर्वस्व अजातशत्रु को देकर उसे भविष्य में देवदत्त से दूर रहने को कहा। अजातशत्रु ने अपना मार्ग निष्कटक बनाने के लिये पूर्ण अधिकार पाकर अपने वृद्ध पिता को भूखो मरने के लिये बन्दी-गृह

में डलवा दिया। उसका अन्न-पानी बन्द कर दिया गया। एकमात्र उसकी महारानी वैदेही उससे दिन में केवल एक बार मिल सकती थी।

वैदेही प्रतिदिन अपने स्वामी से मिलती और उसको एक कटोरे में चुपके से कुछ भोजन-सामग्री और पानी दे जाती। अजातशत्रु को इसका पता चला तो उसने अपनी माता को बुलाकर डराया-धमकाया और सिपाहियों को कठोर आदेश दिया कि किसी भी प्रकार का आहार बिम्बि-सार के पास न जाने पाये। अब वैदेही ने दूसरी युक्ति से काम लिया। प्रतिदिन पति के पास जाने के पूर्व वह अपने शरीर में एक पोषक चूर्ण मलकर ले जाती और गहनों के भीतर पानी। इस प्रकार उसने बन्दी महाराजा को कुछ दिन और जीवित रक्खा। एक दिन यह रहस्य भी खुल गया। राजाज्ञा से उसका मिलना बन्द हो गया। जीर्णशीर्ण बिम्बि-सार भूख-प्यास से तड़प-तड़प कर मरने के लिये एक कोठरी में बन्द कर दिया गया। इस कोठरी की एक खिड़की से वह प्रतिदिन गृद्धकूट पर टिके हुये भगवान् बुद्ध के दर्शन करके धैर्य और शान्ति प्राप्त कर लेता था। अजातशत्रु को जब इसका पता चला तो उसने उस खिड़की को भी बन्द करवा दिया।

उन्हीं दिनो अजातशत्रु के बच्चे की उँगली में एक फोड़ा निकल आया। एक दिन अजातशत्रु बच्चे को कष्ट से बहुत व्याकुल देखकर उसकी उस उँगली को मुँह में लेकर धीरे-धीरे चूसने लगा। इससे फोड़ा फूट गया और उसकी व्यथा शान्त होगई। वैदेही यह सब देख रही थी। उसने अजातशत्रु से कहा—एक दिन जब तुम भी इतने ही बड़े थे तो तुम्हारी उँगली में भी ऐसा ही फोड़ा निकल आया था। उस समय तुम्हारे स्नेही पिता ने भी ऐसा ही किया था।

इस मर्मस्पर्शी वाक्य से अजातशत्रु की सोई हुई ममता जग गई, उसके हृदय की सद्भावनायें एकसाथ उमड़ पड़ीं। कोई उसके अन्तस्तल में पुकार-पुकार कहने लगा—जिसने तुम्हें जीवन दिया, अपना सर्वस्व दिया, अपने से भी अधिक माना, अपने हृदय से लगाया, उसी उपकारी के साथ

तुम अपकार कर रहे हो, अपने बनाने वाले को ही बिगाड़ रहे हो। हृदय की एक-एक धड़कन उसको धिक्कारने लगी। उसे अपने कर्त्तव्य का ध्यान आया। जिसे वह निर्दयतापूर्वक नष्ट करना चाहता था, उसीकी प्राण-रक्षा के लिये व्याकुल होकर वह बन्दीगृह की ओर यह चिल्लाता हुआ दौड़ा—ओह, मेरे पिता कहाँ है, कोई यदि आज यह बता दे कि वह अभी तक जीवित है तो मै उसे अपना सारा राज्य दे दूँगा। पिता-पिता पुकारता हुआ वह अपराधी बन्दीगृह के द्वार पर पहुँचा। जल्दी-जल्दी ताले खोले जाने लगे।

इधर बिम्बिसार मृत्यु की घड़ियां गिन रहा था। बाहर हल्ला-गुल्ला सुनकर उसे शंका हुई कि संभवतः अजातशत्रु ने उसके लिये किसी नई यातना की व्यवस्था की है। भावी कष्ट की आशंका से वह दुर्बल जीव समय से पहले ही मर गया। अजातशत्रु ने आकर अपने पाप का प्रत्यक्ष परिणाम देखा। पिता मुक्त होकर परमपिता के पास जा चुका था। अजातशत्रु का हृदय जीते-जी पश्चात्ताप की चिता में जलने लगा। पिता से उसे जो सुख मिला था, वही उसके दुःख का कारण बन गया। राजगृह उसके लिये प्रेत-कानन हो गया; दिशायें उसे खाने दौड़ती थीं। मानसिक व्यथा से मुक्ति पाने के लिये उसने राजधानी बदल दी, परन्तु कहीं भी वह शान्ति नहीं पा सका।

२—एक पौराणिक कथा

मनुष्य होकर भी अजातशत्रु ने मनुष्योचित व्यवहार क्यों नहीं किया? इसका रहस्य एक पौराणिक कथा से भलीभाँति स्पष्ट हो जायगा; इस लिये हम उसे यहाँ संक्षेप में देते है।

एक बार त्रिलोक-विख्यात भ्रमण-प्रिय देवर्षि नारद अपने शिष्य तुम्बुरु गन्धर्व के साथ पृथ्वी-पर्यटन के लिये निकले। घूमते-घामते दोनो एक नगर के किसी बनिये की दूकान के पास आकर खड़े होगये। सामने से एक कसाई बकरों का झुंड लिये आ रहा था। उसमें से एक बकरा लपक

कर वनिये की दूकान में घुस गया और कुछ खाने लगा। वनिया क्रोध से तिलमिला कर उठा और उसकी गर्दन पकड़ कर उसे कसाई को देता हुआ बोला—देखो जी, मैं आज इसी दुष्ट का मास खाऊँगा ; इसे तुम आज ही मारकर इसका मास मेरे हाथ वेच जाना।

नारद इस दृश्य को देखकर हँसने लगे। तुम्बुरु ने गुरुजी से अकारण हँसने का कारण पूछा। नारद ने कहा—आज यह वनिया जिस जीव का मांस खाकर अपने क्रोध को शान्त करना चाहता है, वह पूर्व जन्म में इसका पिता था। यह उसीकी खोली हुई दूकान है। यह उसीका प्राण-प्रिय पुत्र है जिसे उसने अनेक व्रत-अनुष्ठान के वाद अपने हृदय का सार देकर पाया था और वडी-वड़ी शुभ कामनाओं के साथ पाल-पोस कर वड़ा किया था। पूर्ववासना से प्रेरित होकर वह अपनी ही वस्तु का उपभोग करना चाहता था, लेकिन उसका वेटा उसे मुट्ठी भर अन्न भी नहीं लेने देता और उसका प्राण-ग्राहक वन गया है। यदि उसे यह भेद ज्ञात होता तो वह ऐसा कठोर कर्म कदापि न करता। मुझे अहंकारी मनुष्य के अज्ञान पर हँसी आ रही है।

३—अमानुषिकता का कारण

इस कथा के भाव को ग्रहण कीजिये। लोग जव अपने को किसी भी कारण से भूल जाते है तव वे ऐसे अस्वाभाविक कर्म करने लगते है जिन्हें हम अमानुषिकता या नीचता अथवा पशुता कहते हैं। अनर्थ का कारण है—आत्म-विस्मृति। अजातशत्रु अपने पिता के साथ दुर्व्यवहार क्यों कर रहा था ? क्योंकि वह भूल गया था कि मैं मनुष्य पहले हूँ और राजा या और कुछ-वाद को। उसकी महत्त्वाकांक्षा, अधिकार-लोलुपता ने उसे अन्धा वना दिया था। वह न अपने आप को पहचानता था, न अपने वाप को। ऐसी दशा में वह मनुष्योचित आचरण कैसे करता ? राज्य-वैभव के आगे उसे अपनी मनुष्यता का ध्यान ही कहाँ था ? जिस समय उसे आत्म-ज्ञान हुआ, उसकी मनुष्यता भी जग गई। उसी समय

उसके हृदय में अपने पिता के प्रति आत्मीयता भी उत्पन्न हुई और उसे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान भी स्वतः होगया।

वास्तव में, अपने को—अपने स्वभाव-धर्म को भूलकर ही लोग पाशविक या पैशाचिक कर्म करते हैं। क्रोध, अहंकार, उन्माद या किसी वासना की प्रबलता तथा मद की तीव्रता में आत्म-विस्मरण ही तो होता है जिसके कारण मनुष्य उच्छृंखल हो जाता है। भय में जब किसी के होश-हवास उड़ जाते है, तब वह भीगी बिल्ली बन जाता है। घोर दरिद्रता में जब लोग अपनापन खोकर टुकड़ो के लिये लालायित होते है, तो वे कुत्तों-जैसा आचरण करते हैं—'भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वा श्वानवद् गुर्ग़ुरायते।' इसी प्रकार कभी लोग गधे की भांति मूढ़ हो जाते है, कभी भेड़िये की तरह क्रूर और कभी शृगाल-जैसे भीरु। उल्लू तो कितने ही बनते और बनाये जाते है। उस समय उनमें मनुष्यत्व कहां रहता है! शरीर से मनुष्य होकर भी वे स्वभाव-चरित्र से मनुष्य नहीं प्रतीत होते। वे पशु की भाँति या उससे भी अधिक निरंकुश एवं पतित हो जाते है। स्वर्गीय श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर कहा है—'मनुष्य जिस समय पशु-तुल्य आचरण करता है, उस समय पशुओ से भी गिर जाता है।' सचमुच जब लोगों को अपने मनुष्यत्व का ज्ञान नही रहता, तब वे पशुओं से भी अधिक नीच हो जाते है। जब ज्ञान समाकुल हो जाता है, तब बुद्धिपूर्ण कृत्य नहीं हो सकते—'समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत्'—महाभारत। जो अपने को नहीं पहचानेगा, वह दूसरों को कैसे पहचानेगा और उनके साथ सद्व्यवहार कैसे करेगा? भगवान् कृष्ण ने सत्य ही कहा है कि जो अपने आप को नहीं पहचानता वह स्वयं अपने साथ शत्रु का व्यवहार करता है—'अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्'—गीता।

आजकल साधारणतया लोग मनुष्यता की ओर ध्यान नहीं देते, अथवा यह कहिये कि जीवन को मानवीय दृष्टिकोण से नहीं देखते। आपको देशभक्त, सोशलिस्ट, कम्यूनिस्ट मिल जायँगे; वकील, डाक्टर,

पदाधिकारी मिल जायेंगे; लेकिन सच्चे मनुष्य कम मिलेंगे। अर्थात्, ऐसे लोग कम मिलेंगे जो अपनी मनुष्यता का ध्यान रखते हों और उसको महत्त्व भी देते हों। देश, जाति, सम्प्रदाय और व्यवसाय आदि के अनुसार ही प्रायः लोग अपना परिचय देते हैं और उन्हीं को स्मरण रखते हैं। देश-प्रेम, जाति-प्रेम, जीविका और राजनीतिक समस्याओं के आगे जीवन को कौन पूछता है? देशभक्त होने का जो महत्त्व है वह मातृ-पितृ-भक्त या ईश्वर-भक्त होने का नहीं है। लोग इस बात को भूलते जा रहे हैं कि मनुष्य की उत्पत्ति सभी सम्प्रदायो, राजनीतिक दलों और व्यवसायों से पहले हुई है। उन्हे अपनी संस्थाओ के उद्देश्य एवं नियमों का ध्यान रहता है और वे बड़ी तत्परता के साथ उनका पालन भी करते है, परन्तु जीवन के उद्देश्य और उसकी नियमावली का पता नहीं रहता। राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों को तो लोग समझने-बूझते और अपनाते हैं, लेकिन जीवन के मौलिक सिद्धान्तो को जानने की भी चेष्टा नहीं करते; मानना तो दूर रहा।

इसी बात को दूसरी तरह से समझिये। एक व्यक्ति वकालत पास करता है। इसके बाद उसका कर्तव्य इतना ही है कि जिससे फीस मिले उसकी पैरवी करे। दूसरा व्यक्ति डॉक्टर हो जाता है। उसका काम इतना ही है कि जिससे फीस मिले उसकी चिकित्सा कर दे। यदि कोई कष्ट-पीड़ित व्यक्ति फ़ीस नहीं दे सकता तो उसके लिये डॉक्टर के चित्त में मानवोचित सहानुभूति नहीं होगी। किसी अन्याय-पीड़ित को देखकर वकील स्वयं न्याय के लिये लड़ने को तैयार नही होगा। यही हाल भिन्न-भिन्न श्रेणी, सम्प्रदाय और वर्ग के लोगो का है। एक प्रकार की कृत्रिम सभ्यता चल पडी है, जिसमें मनुष्य राष्ट्र या समाज के ढांचे का एक पुर्जा माना जाता है। यन्त्र-युग का मनुष्य स्वयं एक यंत्र बन गया है। उसे एक ढर्रे पर आंख मूंद कर अपना ही काम करना चाहिये। बहुसंख्यक शिक्षितो में यही भावना फैली हुई है। वे अपने को काम करने की एक मशीन समझते है और मशीन की तरह ही काम करते है। काम के आगे

उन्हें मनुष्यता का ध्यान स्वप्न में भी नहीं आता। एक-दूसरे के प्रति उन्हें इसका ही अनुभव होता है कि 'पास बैठे हैं, मगर दूर नजर आते हैं।' यह कहना चाहिये कि इस प्रकार के लोगों का हृदय पत्थर का हो जाता है; समय पर उनकी मनुष्यता नहीं जगती; उनकी मानवीय सद्वृत्तियां निष्क्रिय हो जाती हैं। यही तो आत्म-विस्मृति है।

इनके और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। उन बहुसंख्यक पद-प्रभुत्वानुरागियों को देखिये जो दूसरों को कुचल कर सत्ता-महत्ता स्थापित करना चाहते हैं। उनके दिमाग तो हमेशा आसमान पर रहते हैं, इस लिये वे यह नहीं देखते कि उनके चरण कहाँ पड़ रहे हैं। क्षणिक सफलता के लिये वे नैतिकता का बलिदान आसानी से कर देते हैं। ऐसे अहंकारियों और अधिकार-प्रमत्त अत्याचारियों की कमी नहीं है जो शक्ति के उन्माद में अपने को कुछ-का-कुछ और अपने से निर्बलों को तृणवत् या कुत्ते-जैसा मानते हैं। दूसरों के हितों की हिंसा करते समय उनका हृदय दया से द्रवित नहीं होता। इसी प्रकार उन अर्थपिशाचों को देखिये जो गरीबों का रक्त चूसते समय यह भूल जाते हैं कि हम मनुष्य हैं और जिसके साथ हम निर्दयता का व्यवहार कर रहे हैं, वह भी हमारे-जैसा ही प्राणी है। मनुष्यता से भी अधिक उन्हें पैसा प्रिय होता है। गाँधी जी के शब्दों में सत्य यह है कि 'पश्चिम से हमारे देश में ज़बर्दस्त बवंडर की लहर आई है; इस बवण्डर का नाम है—जड़वाद अथवा पैसे को परमेश्वर कहने वाला वाद।' साधारण लोग पैसे और परमेश्वर की प्रतियोगिता में पैसे को ही श्रेष्ठता प्रदान कर रहे हैं। उसको परमात्मा का स्थान देकर यदि वे अपनी आत्मा को दो कौड़ी की समझें तो आश्चर्य क्या है! पैसे को परमपिता मानने वाले असली परमपिता के चरण-चिन्हों पर कैसे चलेंगे? 'मालिक को गोत गोत होत है गुलाम को'—तुलसी। वे तो मनुष्यता त्याग कर द्रव्यदेव का अनुकरण करेंगे ही। यही हो रहा है। पैसे के पीछे बहुत-से लोग पागल होकर न सज्जनता की

परवाह करते हैं, न पुत्र की, न मित्र की। अपने को भूलकर ही तो वे स्वभाव-विरुद्ध आचरण करते हैं।

यदि लोक में मनुष्यता की सचमुच प्रतिष्ठा होती तो गत युद्ध में, और इस समय भी, कूटनीतिज्ञों का नरमेध यज्ञ न होता। उस अवस्था में भी संभवतः लोग लड़ते, लेकिन पशुओं की भाँति नहीं, मनुष्यों की भांति। तब मनुष्य मनुष्य को फाड़ खाने न दौड़ता। उस समय जीवन इतना सस्ता न होता जितना कि इस महँगी के ज़माने में भी होगया है। आज तो साधारण स्वार्थ-वश भी लोग एक-दूसरे की जान आसानी से ले लेते हैं। तब देश-समाज में प्रबल नर-पशुओं और नर-पिशाचों का मान न होता। उस समय मनुष्यता का मोल पैसों से नहीं हो सकता था। तब हम बहादुरी को बदमाशी कदापि न मानते। सामाजिक जीवन में तब शिक्षित शठों की अधिकता और प्रधानता कदापि न होती। आजकल राजनीतिक और व्यावसायिक क्षेत्रों में एक-दूसरे को उल्लू बनाने का जो व्यापार धूमधाम से चल रहा है, उस समय वह न चलता, क्योंकि मनुष्य का काम मनुष्य बनाना या पैदा करना ही है। कोई व्यक्ति पहले जब स्वयं पशु हो जाता है, तभी वह दूसरों के साथ दुर्व्यवहार करके उन्हें पशु बनाता है। दूसरों की मनुष्यता का तिरस्कार करने वाले पहले अपनी ही मनुष्यता खोते हैं।

इन बातों पर विचार करते हुये हमें यह मानना चाहिये कि इस समय समाज में जो विग्रह, कुचक्र, प्रमाद और भ्रष्टाचार बढ़ रहा है उसका प्रधान कारण है—सर्वसाधारण में मनुष्यता का अभाव। मानवीय भावों की उपेक्षा करके केवल भौतिक ज्ञान-विज्ञान के उत्कर्ष या बल-प्रयोग से सुख, शान्ति, न्याय, एकता का स्वप्न देखना मूर्खता है। यह तो वैसा ही है, जैसे—'पात-पात को सींचिबो बरी-बरी को लोन'—तुलसी। मूल को नष्ट करके फल-फूल की आशा करना व्यर्थ है।

आज से बहुत-बहुत पहले यूनान के एक तत्त्वदर्शी महापुरुष ने कहा

था—"When men are retaliating upon others they are reckless of the future and do not hesitate to annul those common laws of humanity to which every individual trusts for his own hope of deliverance, should he ever be overtaken by calamity : they forget that in their own hour of need they will look for the help of those laws in vain."

—*Thucydides* ('Our Debt of Greece and Rome' से उद्धृत)

इसका भावार्थ यह है कि प्रतिहिंसात्मक कार्यों में प्रवृत्त होने पर लोगों को भावी परिणाम का ध्यान नहीं रहता। उत्तेजितावस्था में वे बिना सोचे-विचारे मनुष्यता के उन मौलिक सिद्धान्तों—मानवीय गुणों—को नष्ट कर देते हैं जिनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को संकटकाल में अपने उद्धार का भरोसा रहता है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि कभी जब वे स्वयं विपत्ति-ग्रस्त होकर मनुष्यता की दुहाई देंगे, तब उन्हें निराश होना पड़ेगा—उन्हें दूसरों से दया, कृपा, सहानुभूति आदि नहीं मिलेगी।

आज यही परिस्थिति है और उसका परिणाम भी हमारे सामने है।

४—आत्म-ज्ञान की आवश्यकता

आत्मविस्मृति, वास्तव में, अपने ही प्रति विश्वासघात है क्योंकि उसके कारण मनुष्य कर्त्तव्य-भ्रष्ट होकर मनुष्यता के अधिकार से वंचित हो जाता है। मनुष्य को उचित है कि वह अपने वास्तविक रूप को पहचाने, मानवीय भावों को जागृत करके मनुष्यता अर्थात् आत्मपूर्णता प्राप्त करे। स्वस्थ और सचेत रहने में जीवन की सार्थकता है। इसीको मनुष्य बनना कहते हैं।

युग-पुरुष गांधी ने सत्य ही कहा है कि 'हमारा मनुष्य बनना पहली पढ़ाई है।' सच्ची शिक्षा का यही उद्देश्य है। उसके द्वारा जीवन के शुद्ध, सम्पूर्ण और व्यापक रूप का ज्ञान और सहज सद्गुणों का विकास होना चाहिये। एक सुप्रसिद्ध विलायती विचारक ने कहा है कि शिक्षा का

प्रयोजन बालकों को किसी व्यवसाय के उपयुक्त या व्यवसाय-प्रेमी बनाना नहीं, बल्कि व्यवसाय-विमुख बनाना है।—"It is the purpose of education not to prepare children for their occupations, but to prepare them against their occupations."—*G. Sampson.*

इसका भावार्थ यह है कि विद्यार्थियों को जीविका के लिये नहीं, जीवन के लिये—व्यवसाय के लिये नहीं, कर्म के लिये तैयार करना शिक्षा का उद्देश्य है। व्यावसायिक सफलता ही तो जीवन की सच्ची सफलता नहीं है। उसको इतना महत्त्व नही देना चाहिये कि उसके पीछे लोग अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दें और जिस तरह भी हो पैसा कमाना और पेट पालना ही अपना ध्येय बना लें। गाँधीजी ने भी कहा है—"शिक्षा को जीविका का साधन बनाना मेरे विचार से तुच्छ वृत्ति है। जीविका-उपार्जन का साधन शरीर है, फिर आत्मा पर यह बोझ क्यों लादा जाय?"

आजकल अधिकतर लोग जीविका के लिये शिक्षित होते है। वे ऐसे ही गुणों का संग्रह करना चाहते है, जिनका बाजार में मूल्य मिल सके। इस का परिणाम है—कूपमंडूकता। वे जीवन को खंडित रूप में ग्रहण करते हैं। अथवा यह कहिये कि जीवन के विषय में उनका दृष्टिकोण संकुचित हो जाता है। वकील वकालत को ही अपना जीवन समझ लेता है। उसकी दुनिया कचहरी से बड़ी नहीं होती। इसी प्रकार दफ्तर का बाबू नौकरी को जीवन और दफ्तर को अपनी दुनिया मानता है, दारोगा अपने सरकारी काम को ही जीवन का लक्ष्य और अपने थाने को ही विश्व समझता है। यही आत्म-विस्मृति है। इससे मनुष्य का व्यक्तित्व छोटा हो जाता है, उसकी आत्मा और बुद्धि उसके पेट से दब जाती है। मनुष्य भला आदमी न बनकर बाजारू आदमी या एक कामचलाऊ चीज़ बन जाता है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जीवन जीविका से और संसार बाजार से अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतएव हमारे लिये वह ज्ञान उपयोगी होगा जिससे हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास हो—

हमारी आत्मोन्नति हो। हमें मनुष्यता का ज्ञान-ध्यान होना चाहिये। दूसरे शब्दों में यह कहिये कि जीवन के सत्य स्वरूप से परिचित होना चाहिये। इसके लिये आत्म-ज्ञान आवश्यक है। निम्नलिखित श्लोक से यह विषय स्पष्ट हो जायगा—

"देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥"

—अध्यात्म-रामायण।

अर्थात्—'मैं देह हूँ' इस बुद्धि का नाम ही अविद्या है, और 'मैं देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ' इसी को विद्या कहते हैं।

'मैं देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ'—यही, संक्षेप में, मनुष्य का जीवन-विज्ञान है। ऋषियो ने इसीको आत्मदर्शन कहा है। यही परम पुरुषार्थ है। शास्त्रकारो ने इसकी विशद व्याख्या करके कहा है कि उस एक को जानो, जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है। मनुष्य को अपना स्वरूप अपनी आत्मा में देखना चाहिये। उसमें अपना ही नहीं, अपने परमात्मा का भी दर्शन होता है। अपने उस परम तत्त्व को महत्त्व देना चाहिये जो यदि इस शरीर से पृथक् हो जाय तो इसको कुत्ते और पक्षी खा जायँ। उसके निकल जाने से देह मिट्टी हो जाती है। मनुष्य अपने जिन गुणों के कारण मनुष्य कहलाता है, वे उसकी आत्मा की ही विभूतियाँ हैं। आत्मिक गुणों के उत्कर्ष से ही वह महात्मा या देवता-स्वरूप बनता है। दया, उदारता, प्रेम, शान्ति, सत्य, विवेक आदि सात्त्विक गुण ही मानवता के परिचायक हैं। अपनी आत्मा को जानना ही अपने सत्य रूप को जानना है। उसीसे मनुष्यता जगती है।

मनुष्य से भूल वहाँ होती है, जहाँ वह अपने स्वान्तस्थ रूप से अपरिचित होने के कारण अपने शरीर और मन को अपना स्वरूप मान लेता है। इससे उसकी मनुष्यता सोती रहती है और पशुता प्रबल हो जाती है। पशु की एक पहचान यह है कि वह देह को सर्वस्व मानकर

उसी की रक्षा और उपासना में लगा रहता है। उसे आत्मा की अनुभूति नहीं होती, इसलिये वह सहज वासनाओं के वश में रहता है। मनुष्य को भी जब तक स्वात्मानुभूति नहीं होती, तबतक वह पशुवत् आचरण करता है। उसे जब आत्मा का ज्ञान होता है तभी वह मनुष्योचित आचरण करता है। इसके अभाव में तो वह शिक्षित होकर भी क्रूर, कापुरुष पशु ही बना रहता है। शारीरिक सुख और वासनाओं की तृप्ति के लिये वह स्वभाव-विरुद्ध कर्म करने लगता है। यही आत्म-विस्मृति और यही मनुष्य के नैतिक पतन का कारण है। इसी के निवारण के लिये सच्ची शिक्षा और अभ्यास की आवश्यकता होती है। आत्मा की शक्तियों को जगाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। उनके जगने पर मनुष्य मनुष्य बनता है।

५—मानव-चरित्र की कुछ विशेषतायें

अब मानव-चरित्र की कुछ विशेषताओं पर विचार कीजिये। इनसे मनुष्यता का थोड़ा-बहुत आभास मिल जायगा और यह भी स्पष्ट हो जायगा कि व्यक्तिगत और सामुदायिक जीवन की उन्नति के लिये इन सद्‌गुणों की परम्परा को जीवित रखना क्यों और कितना आवश्यक है।

(क) *स्वात्माभिमान* :—स्वात्माभिमान मनुष्य का एक विशेष गुण है। अन्य किसी प्राणी में यह सम्भवतः नहीं मिलता। इसके सम्बन्ध में ऊपर कुछ संकेत किया जा चुका है। मनुष्य को स्वात्माभिमानी होना ही चाहिये क्योंकि वह अपनी आत्मा का अनुभव कर सकता है। स्वात्माभिमानी होने का अर्थ है सत्त्वशाली होकर अपने व्यक्तित्व का सम्मान करना, अपने आत्मगौरव की रक्षा करना। शरीर देकर भी अपने को पतित और पराधीन होने से बचाना मनुष्यता और आत्मवीरता का परिचायक है। इसी से स्वाभिमान सार्थक होता है। स्वात्माभिमान होने पर मनुष्य नीच कर्मों में प्रवृत्त नहीं होता क्योंकि उससे आत्म-पतन का भय रहता है—'केहरि तृण नहि चरि सकै जो व्रत करै पचास।' वह न तो

दूसरों के आत्म-सम्मान पर आघात करता है और न स्वयं किसी के अत्याचार को सहता है। यह पुरुषार्थ को उद्दीप्त करने वाली भावना है।

(ख) *सहृदयता* :—सहृदयता मनुष्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है। ऊपर हम कह चुके है कि मनुष्य का वास्तविक रूप उसके हृदय (आत्मा) में रहता है। जिसके पास मनुष्य का हृदय होता है, वही तो मनुष्य माना जाता है। उसके न रहने पर तो मनुष्य के पास कुछ बचता ही नहीं। हृदयहीन व्यक्ति या तो प्रेत हो जाता है अथवा पशु। सहृदय ही सजीव मनुष्य हो सकता है। अथवा यह कहिये कि सहृदयता ही मनुष्यता है।

पशु और मनुष्य में एक बड़ा अन्तर यह है कि पशु या नृपशु अपने ही स्वार्थ और तात्कालिक सुख-दुःख का ध्यान रखता है। अधिक-से-अधिक वह अपने बच्चों के प्रति ही आत्मीयता का भाव रख सकता है। दूसरो के प्रति वह स्वभाव से निर्दय या उदासीन होता है, किसी की पीड़ा, हानि, आर्त्त-पुकार से प्रभावित नहीं होता। सबल पशु अकारण भी निर्बल की हिंसा करता है, वह हृदयहीन होता है। इसके विपरीत—मनुष्य की विशेषता यह है कि वह अपनी सुविधा के साथ दूसरों की सुविधा का भी ध्यान रखता है, दूसरों की पीड़ा से वह स्वयं भी व्यथित हो जाता है, हृदय-विदारक वाक्य और कार्य उसे स्वभाव से अप्रिय लगते है, दूसरों के काम आने में ही उसे सुख मिलता है। उसके हृदय में दूसरों के प्रति दया, प्रेम, करुणा, उदारता और सहानुभूति रहती है। वह हृदय से किसी का अपकार नहीं करना चाहता। दूसरों को प्रसन्न रखने में उसे स्वयं प्रसन्नता होती है। इसीलिये बुद्ध ने कहा था—'जिसे मेरी सेवा करनी हो वह पीडितो की सेवा करे।' इसीलिये रन्तिदेव ने कहा था—'मैं भगवान् से अष्टसिद्धि या मोक्ष तक की कामना नहीं करता। मेरी यही एक प्रार्थना है कि समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित होकर मैं ही उनके समस्त दुःखो को सहूँ।'—

"न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्त्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥"

—श्रीमद्भागवत ।

इसीलिये ऋषियो ने यह कामना की थी कि हे भगवान्, सब सुखी हों, सब नीरोग हो, सब कल्याण का साक्षात्कार करें, दुःख का अंश किसी को न प्राप्त हो ।—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥"

यही सहृदयता है, यही मनुष्यता और यही सज्जनता है । मनुष्य के हृदय में इस प्रकार की कोमल भावनायें रहती है । जब वह सहृदय होता है, अर्थात् शान्तचित्त होकर शुद्ध हृदय की सम्मति से कार्य करता है, तो सब के सुख में अपना सुख मानता है, सब को अपने-जैसा मानता है, सब के प्रति समवेदना रखता है । सजातीयता के कारण एक हृदय दूसरे हृदय की ओर स्वभावतः आकर्षित होता है । सज्जनों में सात पैर साथ-साथ चलने से ही मैत्री हो जाती है—'सतां सप्तपदी मैत्री'—क्योंकि वे सहृदय होते है । अपनी सहृदयता के कारण वे परस्पर सुहृद् हो जाते है । हृदय से ही हृदय को जीता जाता है । सहृदयता से पशु और अबोध बच्चे भी रीझ उठते है । तर्क-वितर्क से वे प्रभावित नही होते । बड़े-बड़े अत्याचारियो में भी जब किसी बात से सहृदयता उत्पन्न हो जाती है तो उनके स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है । उनकी सद्भावनाये जग जाती है । वे सीधे रास्ते पर आ जाते हैं ।

इन बातों से यह समझा जा सकता है कि सहृदय होना मनुष्य के लिये कितना आवश्यक और स्वाभाविक है । यदि वह हृदय से पूछकर कार्य करे तो अपराधो से बचा रहेगा । अजातशत्रु यदि एक क्षण के लिये भी अपने हृदय से पूछता तो उसका हृदय कभी उसे निर्दयतापूर्ण व्यवहार के लिये सलाह न देता । उसमें अपनापन नहीं रह गया था,

इसीलिये तो वह प्रमादी होगया था । जब दिमाग हृदय से दूर रहता है, अथवा केवल पेट की चिन्ता, भोग-विलास में फँसा रहता है, तब मनुष्य हृदय-रहित—प्रेत या पशु-तुल्य हो जाता है । दिमाग का वहुत बढ़ना हृदय-हीनता का एक कारण है । स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है—'केवल बुद्धि की वृद्धि होने से मनुष्य बहुधा हृदय-शून्य हो जाता है । दया, प्रेम, शान्ति आदि हृदय के सात्त्विक गुण हैं । वे बुद्धि के प्रखर तेज से झुलस सकते हैं ।' इस वैज्ञानिक युग में, जबकि लोग गृहस्थ होने की अपेक्षा ग्रहस्थ होने की चिन्ता मे है, इसके लिये प्रमाण ढूंढने की आवश्यकता नहीं है । हम नित्य ही देखते है कि श्रीमान्, धीमान् होते ही किस प्रकार लोग हृदयहीन हो जाते हैं । शरीर और मन की चिन्ता में लगे रहने के कारण प्रायः लोगों को हृदय का ध्यान भी नहीं आता । वे अपने ही हृदय की वात नहीं समझते, तब दूसरो के हृदय पर जो बीतती है उसे कैसे समझेंगे ! वर्तमान जीवन की कर्कशता, अशान्ति और विषमता का यह मुख्य कारण है । सहृदयता के बिना जीवन में स्वाभाविकता नहीं आ सकती ।

(ग) *सुमति* :—मनुष्य की एक अन्य विलक्षणता है—उसकी बुद्धिमत्ता । मनन करना, सत्-असत् का विवेचन और शुद्ध ज्ञान को धारण करना उसका स्वभाव है । पशु और मनुष्य का एक बड़ा भेद यह है कि पशुकी बुद्धि का विकास नहीं होता; उसके जीवन मे बुद्धि का कोई स्थान नहीं है । इसके विपरीत मनुष्य अध्ययन-चिन्तन-विवेक से अपने बुद्धि-तत्त्व का विकास कर लेता है—ज्ञानी हो जाता है । बुद्धिमान् होना मनुष्य होने का प्रमाण है । बुद्धिहीनता पशुता है । जिस मनुष्य की बुद्धि का विकास नहीं होता अथवा जो बुद्धि-द्रोही या अविवेकी होता है, वह मनुष्यता से गिर जाता है—'बुद्धिहीनः पिशाचतुल्यः'—कौटिल्य । हमें यह मानना चाहिए कि मनुष्यता बुद्धिमानी से मिलती है ।

केवल बाहरी ज्ञान के संग्रह में बुद्धिमानी नही है । बुद्धि के उपयोग में भी बुद्धिमानी चाहिये । वास्तव में, सद्विचारयुक्त और प्रज्ञा-नियंत्रित

होने में बुद्धिमानी है। मनुष्य की बुद्धिमत्ता मुख्यतः उसकी सात्त्विकता और सक्रियता से प्रमाणित होती है। इसके लिए सहृदयतापूर्वक विचार करना आवश्यक है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने मनन की परिभाषा यह की है—'Thinking is the talking of soul with itself.' आत्मा का अपने साथ बातचीत करना ही मनन है। इसको शास्त्रीय भाषा में आत्म-चिन्तन और व्यावहारिक भाषा में हृदय से सोचना भी कहते हैं। इस ढंग से विचार करना ही बुद्धि का काम है। इस उपाय से मनन करने से मानवीय भावों का प्रस्फुरण होता है और जीवन पर आत्मा का प्रभाव पड़ता है। बुद्धि का सदुपयोग इसी प्रकार होता है।

मनुष्य में दुर्बुद्धि नहीं, सद्बुद्धि होनी चाहिये। विलायती लोग बुद्धि को भले ही मन की मानिनी मानें, भारतीय विचारकों के मत से तो वह आत्मजा (बुद्धि) है। अपनी मनुष्यता की लाज रखने के लिये अपनी आत्मजा को पथ-भ्रष्ट नहीं होने देना चाहिये। ब्राह्मणी (बुद्धि) की पवित्रता संरक्षणीय है। ब्रह्म से संयुक्त होने पर वह मनुष्योचित रचनात्मक कार्यों में प्रवृत्त होती है। मन के साथ बहक कर तो वह उच्छृंखल हो जाती है और उसके द्वारा ऐसे विनाशात्मक कार्य होने लगते हैं जिनसे मनुष्यत्व की हानि होती है।

सुमति ही मनुष्य की शोभा है।

(घ) *सच्चरित्रता* :—मनुष्य की एक और विशेषता है—उसकी सच्चरित्रता। पशु अपनी वासनाओं को स्वेच्छा से नहीं दबा सकता। भावोत्तेजना में वह अपने को सम्हाल नहीं पाता। उसे हाँककर ही रास्ते पर लगाया जा सकता है। परन्तु मनुष्य स्वेच्छया अपने अनुशासन में रहता है। इस सम्बन्ध में गाँधीजी ने अपनी आत्म-कथा में लिखा है—"पशु स्वभावतः निरंकुश है, परन्तु मनुष्यत्व इस बात में है कि वह स्वेच्छा से अपने को अंकुश में रक्खे।" साधारण जीव स्वार्थान्ध होकर कार्य करते हैं, परन्तु मनुष्य अपनी स्वार्थ-जन्य प्रवृत्तियों का दमन करके एक निश्चित

धर्म के अनुसार आचरण करता है। कोई जब ऐसा नहीं करता तो वह मनुष्यत्व से वंचित हो जाता है। कामान्ध में मनुष्यता कहाँ मिलती है ? वह तो पशुधर्म में अनुरक्त होकर वासनापूर्ति के लिये कोई भी असानुषिक कृत्य कर सकता है। इसी प्रकार लोभी में मनुष्यता कहाँ रहती है ? उसका तो अपना भी अपना नहीं रह जाता—'लुब्धस्य न स्वः स्वजनोऽपि जन्तोः'—अवदानकल्पलता। क्रोधी के स्वेच्छाचार के आगे मनुष्यता कैसे टिकेगी ? किसी भी प्रकार की संयम-हीनता या चारित्रिक दुर्बलता से मनुष्यत्व का ह्रास होता है।

वास्तव में, चरित्र मानवता का मापदण्ड है, पैसा या प्रभुत्व नहीं। चरित्रवान् निर्धन भी महापुरुष और नर-देव माना जाता है और चरित्र-हीन धनी अर्थपिशाच। संयमी-सदाचारी मनुष्यत्व के ही नहीं देवत्व के भी अधिकारी होते हैं। वही सज्जन—मानवता के प्रतीक—माने जाते हैं।

(ङ) *सहिष्णुता* :—मनुष्य का एक अन्य विशेष गुण है—सहिष्णुता। पशु स्वभाव से ही असहनशील होते हैं। अपने आगे उन्हे दूसरो के हित अहित की चिन्ता नहीं रहती। मनुष्य भी जब पशु हो जाता है, तो उसमें यही बात मिलती है। साधारण मतभेद से भी क्षुब्ध होकर वह दूसरों की हानि करने को तैयार हो जाता है। दूसरो का उत्कर्ष उसे अकारण असह्य होता है। जिसके द्वारा उसका मनोरथ नहीं सिद्ध होता, उसे वह अपना बैरी मानने लगता है।

सत्पुरुष के स्वभाव में सहिष्णुता होती है। वह इसका अनुभव करता है कि संसार में विचरने वाले सब प्राणियो को समान अधिकार है—'समानो अध्वा प्रवता मनुष्ये'—ऋग्वेद। वह इस बात के लिए प्रयत्न नहीं करता कि सब उसी के मतावलम्बी होकर अपना अस्तित्व खो दें। वह यथासंभव दूसरों की भूलो को क्षमा करता चलता है। भूल तो किस मनुष्य से नहीं होती ? भूलों को क्षमा करने में मनुष्य का देवतापन

है।—"To err is human, to forgive divine" इसीको सहिष्णुता कहते हैं। यह एक दैवी गुण है, जो तुच्छ जीवों और नीच मनुष्यों में नहीं मिलता।

इस प्रसंग में ईसाइयों की एक पौराणिक कथा उल्लेखनीय है। एक दिन जाड़े की रात मे इब्राहीम भूले-भटके यात्रियों की प्रतीक्षा में बैठा था। एक थका-माँदा अतिवृद्ध पुरुष उसके द्वार पर आया। इब्राहीम ने उसका स्वागत करके उसे घर के भीतर ले जाकर बैठाया और जो-कुछ खाने को था उसके सामने रख दिया। बुड्ढे ने इस कृपा के लिए बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। जब वह खाने लगा तो इब्राहीम ने पूछा—बाबा, तुम इसी प्रकार भगवान् के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करते हो कि नहीं? वृद्ध ने कहा—मैं तो अग्नि के अतिरिक्त किसी अन्य को अपना देवता मानता ही नहीं। इसको सुनते ही इब्राहीम ने तत्काल अपने अतिथि को घर के बाहर ढकेलते हुए कहा—मैं ऐसे ईश्वर-द्रोही को अपने घर में स्थान नहीं दे सकता। बुड्ढा लड़खड़ाता हुआ उस अँधेरी रात मे एक ओर को चला गया। थोड़ी देर बाद ईश्वर स्वयं उसको खोजता हुआ वहाँ आया। इब्राहीम ने उसको सारा हाल सुनाकर अपनी प्रभु-भक्ति का विज्ञापन किया। ईश्वर ने कहा—वह वृद्ध १०० वर्ष से मेरी उपेक्षा करता आ रहा है, परन्तु मैं सब-कुछ सहता जाता हूँ, तुम एक दिन भी नहीं सह सके। उसने तो न तुम्हारा अपमान किया था, न तुम्हें किसी प्रकार का दुःख दिया था; तुमने उसके साथ अभद्रोचित व्यवहार क्यों किया? यह कह कर भगवान् उस दीन-हीन प्राणी की खोज-खबर लेने वहाँ से चल पड़ा।

यही सहिष्णुता का आदर्श है। ईश्वरपुत्र में इस ईश्वरीय गुण का होना आवश्यक है। इससे मनुष्य की क्षमता प्रकट होती है।

(च) *समता और सहयोग* :—मानवीय गुणों में समता और सहयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पशु और नृपशु में समता की भावना

नहीं होती। एक तो वे अपने समान किसी अन्य को नहीं मानते; दूसरे, ऊपरी आकार-प्रकार की भिन्नता के कारण दूसरों को अपने से सर्वथा भिन्न समझते हैं। महापशु बलपूर्वक दुर्बल पशु की हिंसा करता है। एक पशु न तो दूसरे के अधिकार का सम्मान करता है और न उसके साथ सहयोग।

मानवी आदर्श इसके विपरीत है। मनुष्य बाहरी बड़ाई-छोटाई या अमीरी-ग़रीबी को महत्त्व नहीं देता। वह जीवन को आत्मा की दृष्टि से देखता है। आत्मा की दृष्टि से देखने पर उसे सभी प्राणियों में सर्वभूतान्तरात्मा का दर्शन होता है। वह अनुभव करता है कि जो मुझ मे है, वही सब में है। उस दशा में वह किसी को अपने से भिन्न या तुच्छ क्यों समझेगा ? सबको अपने जैसा मानने पर वह किसी का अहित या तिरस्कार क्यों करेगा ? तुलसी के शब्दों में वह तो यही कहेगा—'बन्दउँ सबहिं राम के नाते।' यही मनुष्य की समदर्शिता है। आत्मज्ञानी प्राणी सब में आत्मा का ही दर्शन करता है। आत्मा में धनी-रंक, सबल-निर्बल, सुरूप-कुरूप का भेद-भाव नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर मनुष्य को, महर्षि वसिष्ठ के शब्दो में, यही मानना पड़ता है—

"सर्वा एव हि ते भूतजातयो राम बान्धव।
अत्यन्तासंयुता एतास्तव राम न काश्चनः॥"

—योगवासिष्ठ।

अर्थात्—हे राम, ससार के सभी प्राणीगण तेरे बन्धु हैं, क्योंकि ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो तुझसे बिल्कुल सम्बन्ध न रखता हो।

इस प्रकार की एकात्मता की भावना मनुष्यो को परस्पर सहयोग के लिये प्रेरित करती है। मानवीय सहयोग स्वार्थ-बुद्धि से नही, कर्त्तव्य-बुद्धि से होता है। यही सामाजिकता का आधार है। सामाजिक जीव होना मनुष्य की विशेषता है। समता और सहयोग से मानव-सभ्यता का विकास होता है। मनुष्य-मात्र के लिये ईश्वरीय आदेश है कि तुमसे कोई बड़ा नही है, न कोई छोटा है; भाइयों की तरह मिलकर सौभाग्य के लिए

आगे बढ़ो; तुम्हारा रक्षक और पिता परमेश्वर है और अनेक प्रकार के धन-धान्य देने वाली पृथ्वी तुम्हारी माता है।—

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृथिवी सुदिना मरुद्भ्यः ॥"
—ऋग्वेद।

जीवन को व्यापक और प्रभावशाली बनाने के लिये इस दैवी आदेश का पालन करना प्रत्येक मनुष्य का धर्म है। मानव-जगत् में भेद-भाव के लिये तो कहीं स्थान ही नहीं है। वैज्ञानिको ने भिन्न-भिन्न जाति के मानवों की रक्त-परीक्षा करके देखा है कि उनमें कुछ भी भेद नहीं है। सबकी नसो में एक ही प्रकार का खून बहता है। अतएव रक्त-सम्बन्ध के कारण भी सब में समता और सहयोग का भाव होना चाहिये।

६—'अन्तर के पट खोल रे'

ये सब सात्त्विक हृदय के गुण है। इस प्रकार के सद्गुण ही मनुष्यत्व के परिचायक माने जाते है। इसी प्रकार के आचार-विचार से मानव-सभ्यता का निर्माण हो सकता है। शास्त्र का वचन है कि प्रतिक्षण हमको यह देखना चाहिये कि हमारा जीवन पशुओ के समान है या सत्पुरुषों के समान—

"प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत जनश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरिव ॥"

जीवन को पुलीस, वकील, बाबू या बुद्धि-व्यवसायी आदि की दृष्टि से देखना आत्म-वंचना है। उसे मानवीय दृष्टिकोण से देखना और मानवता की कसौटी पर परखना चाहिये। जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके है, भौतिकता मानव-जीवन की विशेषता नहीं है। उससे धोखा होता है। जिस प्रकार हाथ रखते हुए भी सभी कार्य-कुशल नहीं होते, जीवधारी होने से ही सब पूर्णतया सजीव और सहृदय नहीं होते, तथा वसुन्धरा पर जन्म

लेने से ही सब धनी नहीं हो जाते, ठीक उसी प्रकार मानव-शरीर पाने से ही सब वास्तविक अर्थ में मनुष्य नहीं होते। केवल शरीरधारी के रूप में तो मनुष्य एक पशु ही है। मनुष्यता का सम्बन्ध हृदय, अर्थात् आत्मा, से है। पुरुष अन्तःकरण में रहता है। वहीं अपने सत्य-रूप को खोजना चाहिये। कबीर के शब्दो में हम कह सकते है कि 'अन्तर के पट खोल रे तोहि पीव मिलेंगे' अथवा 'बाहर के पट देइ के अन्तर के पट खोल'। आत्मरूप का यथार्थ ज्ञान इसी उपाय से होगा। आत्म-स्थित होना मनुष्य के लिये उतना ही आवश्यक है जितना सूर्य के लिये गगनस्थित होना। उसे अपने हृदय से पूछना चाहिय कि मैं कौन हूं, मेरे लिये ईश्वर का क्या सन्देश है। हृदय में जीवन को प्रकाशित करने की शक्ति है।

आजकल हृदय-परीक्षा का काम केवल डाक्टर ही करते है। उस ढंग की ऊपरी परीक्षा से अपने विषय में किसी को पूरी जानकारी नहीं हो सकती। स्वयं ध्यान से अपने हृदय की परीक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। अपने दिमाग को आसमान से उतारकर अपने अन्तःकरण में ले जाना चाहिये। वहां देखना चाहिये कि हम अपने घर में है या भव-कानन में कहीं भूल-भटक तो नहीं गये है, अर्थात्, हमारा हृदय स्वाभाविक स्थिति में है कि नहीं, वह ठीक काम करता है या सो तो नहीं गया है। इसका पता लगाना चाहिये कि हमारा जीवन-दायक तत्त्व निर्बल तो नहीं हो रहा है, हमारे जीवन-तरु के मूल में क्षय के कीड़े तो नहीं लगे है। उसे खोजना चाहिये, जगाना चाहिये, स्वस्थ और सचेत बनाना चाहिये। उसका लाभ ही मनुष्य का जीवन-लाभ है और उसकी हानि ही जीवन-हानि है। उसके क्षीण होने से मनुष्य एक कृत्रिम प्राणी या आदमी का पुतला-मात्र रह जाता है, मनुष्यत्व का निश्चित ह्रास हो जाता है। शारीरिक सुख या भौतिक आकांक्षाओ की पूर्ति के लिये आत्म-हानि करने में मनुष्य का कल्याण नही है। प्रत्येक अवस्था में उसका ध्यान रखना चाहिये।

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह आत्म-रूप से परिचित होकर उन सद्गुणों को धारण करे जिनसे अन्तःकरण की रक्षा और पुष्टि होती है। जीवन की पूर्णता, सरसता और सफलता के लिये शरीरधारी को हृदय से समृद्ध, हृदय से विशाल और हृदय से बलवान् होना चाहिये। यही विश्व-कवि की प्रार्थना है—

"अन्तर मम विकसित करो, अन्तर-तर हे।
निर्मल करो, जाग्रत करो, उद्यत करो हे॥"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

यही सर्वसाधारण के जीवन का ध्येय होना चाहिये। जिन सात्त्विक भावनाओं से जीवन का आन्तरिक विकास होता है, उन्हें अपनाना मनुष्य का धर्म है। उचित भावनाओं से औषधि की ही नहीं, जीवन की भी शक्ति और उपयोगिता बढ़ जाती है।

मानव-सभ्यता, विश्वशान्ति और सार्वभौम मैत्री की स्थापना बुद्धि और जिह्वा के दांवपेच अथवा राजनीतिक, वैज्ञानिक या आर्थिक उन्नति से नहीं, जन-समाज में मानवीय भावनाओं की प्रतिष्ठा से होगी। जबतक लोग मनुष्यता के स्वरूप और महत्त्व को नहीं जानेंगे तबतक न तो जीवन का पूर्ण विकास हो सकता है और न समाज में समता, शान्ति तथा एकता होगी। इसलिये यह आवश्यक है कि हम राष्ट्रीयता आदि की अपेक्षा मनुष्यता को अधिक महत्त्व दें, पहले स्वभाव एवं चरित्र से मनुष्य बनें, पीछे और कुछ। हमें अपने आध्यात्मिक स्तर को ऊंचा उठाना चाहिये। मानव-जाति का कल्याण मन और बुद्धि के नहीं, आत्मा के अनुशासन में रहने में है।

आत्मा का राज्य ही मनुष्य का सच्चा स्वराज्य होगा।

: ४ :

दीर्घ-जीवन का रहस्य

१—मनुष्य का आयुर्बल

तत्त्वज्ञ मनीषियो ने मनुष्य की आयु सौ वर्ष निर्धारित की है—'शतायुर्वै पुरुषः'—श्रुति। मनुष्यमात्र के लिये उनका यह सन्देश है—हे मनुष्य, तू बुढापे के पहले मत मर—'मा पुरा जरसो मृथा'—अथर्ववेद। प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक दिन जीना चाहता है। एक वार संसार में जन्म पाकर कोई सौ वर्ष के वाद भी मरना नहीं चाहता। आचार्य कौटिल्य ने सत्य ही कहा है कि मनुष्य अपना शरीर त्याग कर इन्द्र-पद भी नहीं चाहता—'देही देहं त्यक्त्वा ऐन्द्रपदं न वाञ्छति।' वह संसार में ही अमर होकर रहना चाहता है। वेदकाल के मनुष्य ने भी इसी सत्य की घोषणा की थी—'न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन'—ऋग्वेद। अर्थात्, मैं मरने के लिये कदापि नहीं पैदा हुआ हूँ। अमृतपुत्र की यह कामना स्वाभाविक है। परन्तु प्रायः यह देखा जाता है कि शतायु एवं शतवीर्य हो कर जन्मने पर भी लोगों की अकालमृत्यु होती है, उनके जीवन का पूर्ण विकास नहीं होता। दीर्घ-जीवन सर्वसाधारण को दुर्लभ है। आजकल साधारणतया लोग निश्चित अवधि के बहुत पहले ही मर जाते हैं अथवा जीते-जी अधमरे हो जाते हैं। इसके लिये मृत्यु और मृत्युभृत्य (बीमारी) को दोषी माना जाता है। परन्तु सत्य क्या है? सत्य यह है कि मौत या बीमारी अकारण किसी के आयुर्बल का अपहरण नहीं करती। मनुष्य अपनी ही दुर्बलता का दंड भोगता है।—'देवो दुर्बलघातकः।' इस सम्बन्ध में महर्षि वसिष्ठ का यह मत उल्लेखनीय है।—

"मृत्यो, न किंचिच्छक्यस्त्वमेको मारयितुं बलात् ।
मारणीयस्य कर्माणि तत्कर्तृणीति नेतरत् ॥"

—योगवासिष्ठ ।

अर्थात्—हे मृत्यु, तू स्वयं अपनी शक्ति से किसी मनुष्य को नहीं मार सकती; मनुष्य किसी दूसरे कारण से नहीं, अपने ही कर्मों से मारा जाता है। दूसरे शब्दों में, असामयिक मृत्यु वस्तुतः आत्मघात है। मनुष्य चाहे तो मृत्यु और व्याधि का निवारण करके आयुष्मान् हो सकता है। इसी में जीवन की सार्थकता है।

दीर्घजीवी होने का उपाय क्या है? इसके उत्तर में कुछ लोग यह कह सकते है कि पौष्टिक आहार—घी, दूध, मेवा, मलाई आदि—खाने और आराम का जीवन बिताने से स्वास्थ्य स्थिर होता है। इस कथन में सत्य का अंश कितना है, इसे हम उन अल्पजीवी रईसों की दशा देख कर समझ सकते है जिनके पास भोग-साधनो की कमी नहीं होती। कम और रूखा-सूखा खाकर असमय में मरने वालों की संख्या उतनी नहीं है जितनी अत्यधिक मात्रा में स्वादिष्ट भोजन एवं नित्य रसायन सेवन करने वालो की है। इसी भाँति असाधिक्य से लोगों की शक्ति का उतना ह्रास नहीं होता जितना आलस्य और शारीरिक सुखासक्ति से। भोजन, विश्राम और बाह्य उपचार एक अंश तक ही जीवन-रक्षा में सहायक होते हैं। अच्छे-से-अच्छे टानिको से भी स्वास्थ्य का बीमा नहीं हो सकता। सम्पूर्ण जीवन के विकास का रहस्य कुछ और है।

२—जातक की एक कथा

जातक में एक कथा है, जिससे इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। काशी में धर्मपाल नामक एक सदाचारी गृहस्थ रहता था। उसके घर के स्त्री-बच्चे, नौकर-चाकर तक सदाचार का पालन करते थे। धर्मपाल का पुत्र जब उच्च शिक्षा के योग्य हुआ तो उसने उसे तक्षशिला के विश्व-विद्यालय में भेज दिया।

तक्षशिला में उन दिनो ५०० युवक विद्याध्ययन करते थे। एक दिन उनमें से एक मर गया। सहपाठी की मृत्यु से शोक-कातर होकर विद्यार्थीगण परस्पर कहने लगे—क्रूर काल ने ऐसे होनहार व्यक्ति को युवावस्था में ही मार डाला।

यह बात धर्मपाल के युवा पुत्र के कान में भी पड़ी। उसने अपने साथियो से कहा—तुम लोग क्या कहते हो ? युवाकाल में तो किसी की मृत्यु हो ही नहीं सकती।

साथियों ने कहा—विप्रकुमार, प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण की क्या आवश्यकता ! क्या तुम्हारे कुल में कोई नहीं मरता ?

विप्रकुमार बोला—मरता क्यों नहीं, परन्तु बाल्यावस्था या युवावस्था मे कोई नही मरता। मृत्यु तो बुढ़ापे में ही होती है—यही हमारे कुल की सनातन परम्परा है।

इस उत्तर से अन्य विद्यार्थियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपने आचार्य से इसका ज़िक्र किया। आचार्य को भी कौतूहल हुआ। उसके कथन की सत्यता की जाँच के लिये वे एक दिन स्वयं काशी की ओर चल पड़े। रास्ते में किसी जीव की हड्डियाँ बिखरी हुई मिलीं। उन्हें यत्नपूर्वक एक कपड़े में लपेट कर आचार्य आगे बढ़े और शीघ्र ही काशी पहुँच गये। वहाँ उन्होने हड्डियों को धर्मपाल के आगे रखकर करुण स्वर में कहा—विप्रवर, आपका होनहार कुमार तो अकाल में ही काल के गाल में चला गया; मैं उसी का फूल लेकर आया हूँ।

एकाएक अपने सुपुत्र का मृत्यु-समाचार सुनकर और प्रमाण-स्वरूप अस्थियों को सामने देखकर भी ब्राह्मण खिन्न नहीं हुआ। वह हँसता हुआ बोला—पंडितजी, आपको भ्रम हुआ है, कोई और मरा होगा; हमारे कुल में तो सात पीढ़ियों से अकालमृत्यु हुई ही नहीं; यह कुत्ते-बकरी का फूल होगा, मेरे पुत्र का नहीं हो सकता।

आचार्य ने मन-ही-मन समझ लिया कि ब्राह्मणपुत्र का अभिमान सत्य था। उन्होंने धर्मपाल से अपने आने का सच्चा प्रयोजन बताकर पूछा—विप्रदेव, आप मृत्यु से इस प्रकार निश्चिन्त कैसे रहते है ? क्या आपके कुल में इसके लिये किसी विशेष व्रत का अनुष्ठान अथवा मृत्युञ्जय योग सिद्ध किया जाता है ? मैं आप लोगो के दीर्घजीवी होने का रहस्य जानना चाहता हूँ।

धर्मपाल ने सहज रीति से कहा—आचार्य, सुनिये। हम यथाशक्ति धर्म का पालन करते है, दुष्कर्म में प्रवृत्त नहीं होते। दुर्जनो से दूर रहते है, सज्जनों को सेवा से सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करते है, दीनों को नित्य दान देकर प्रसन्नचित्त रहते हैं, हम एकपत्नीव्रती है। हमारे घर की स्त्रियाँ पतिव्रता एवं सुशीला होती है। सतियो से उत्पन्न हमारे पुत्र स्वभाव से ही निर्दोष, मेधावी, तेजस्वी और चरित्रवान् होते है। हमारे घर में सब अपने कर्त्तव्य का पालन करते है, दास-दासी तक सदाचार-परायण है। इस प्रकार मर्यादाबद्ध जीवन व्यतीत करने के कारण हमें अपने विनाश का भय नहीं सताता। वर्षा में छाते की भांति धर्म आपत्तियों में हमारा रक्षक है। 'धर्म धर्मचारी की रक्षा करता है, आचरण किया हुआ धर्म मनुष्य के लिये सुखदाई होता है, यह धर्म का प्रभाव है कि धर्मचारी की कभी दुर्गति नहीं होती।'—

"धम्मो हवे रक्खति धम्मचारिम्,
धम्मो सुचिण्णो सुखमावहाति।
एसा निसंसो धम्मे सुचिण्णो,
न दुग्गति गच्छति धम्मचारी॥"

धर्मपाल से दीर्घजीवन का यह अनुभूत योग पाकर तक्षशिला के कुलपति परम कृतार्थ हुये और उस गृहस्थ से सत्कृत होकर कुछ समय बाद अपने स्थान को लौट गये।

३—धर्म ही जीवन-रक्षक है

उपरोक्त कथा का सारांश यह है कि धर्मपूर्वक कर्त्तव्य-पालन से ही मानव-जीवन की रक्षा और वृद्धि होती है। मृत्यु भी धर्मनिष्ठ प्राणी की रक्षा करती है—'मृत्युरपि धर्मिष्ठं रक्षति'—कौटिल्य। यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्म शुभाचार से सिद्ध होता है। 'आचारश्च सतां धर्मः'—महाभारत। मनु महाराज ने कहा है कि आचार से दीर्घ आयु मिलती है, आचार से अभिमत सन्तानें प्राप्त होती है, आचार से अनन्त धन-लाभ होता है, आचार से अशुभ लक्षणों का नाश होता है।—

"आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥"

—मनुस्मृति।

जीवन के लिये शुभाचार की उपयोगिता को लक्ष्य करके ही यह कहा गया है—'यद्वै किंचिन्मनुरवदत्तत् भेषजम्'—अर्थात् मनु ने जो-कुछ भी कहा है वह औषधि है। महाभारत के अनुशासन पर्व में ज्ञानवृद्ध भीष्म ने भी, मनुष्य कैसे आयुष्मान् और अल्पायु होता है—इसपर अपना मत प्रकट करते हुये कहा है कि शुद्धाचार से ही पुरुष की आयु बढ़ती है। ऋग्वेद में भी कहा है कि देवताओं के नियम को तोड़कर कोई सौ वर्ष नहीं जी सकता—'न देवानामतिव्रतं शतात्मा च न जीवति।' देवताओं का नियम क्या है?—धर्म, ब्रह्मचर्य, संयम-सदाचार, दैवी सम्पदाओं का संग्रह-सदुपयोग, ज्ञान-कर्म।

योगवासिष्ठ का एक संवाद भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। महर्षि वसिष्ठ ने काकभुशुण्डि से पूछा कि आप इतने दीर्घकाल से इस प्रकार स्वस्थ और युवा कैसे बने रहते है ?

इस पर काकभुशुण्डि ने कहा—मै सदा आत्मभाव में स्थित रहता हूं; मनोरथों के पीछे शक्ति का अपव्यय नहीं करता; अकारण चिन्ता-विषाद में नहीं फंसता; जरा-मृत्यु के भय से मुक्त रहता हूं; हर्ष-शोक, सुख-दुःख

से विचलित नहीं होता; सबको अपने समान मानता हूँ; मोह-प्रमाद से दूर रहता हूँ, समर्थ होने पर भी दूसरो पर प्रहार नहीं करता; दूसरो से दुःख पाने पर भी खिन्न नहीं होता; निर्धन होने पर भी लोभ नहीं करता; बीती हुई बातो को लेकर शोकग्रस्त नहीं होता; दूसरो को सुखी देखकर सुखी और दुःखी देखकर दुःखित हो जाता हूँ; प्राणिमात्र का सुहृद् और सहायक हूँ; विपत्ति में धैर्ययुक्त और सम्पत्ति में सरल व्यवहारयुक्त रहता हूँ।

मन, वचन, कर्म से धर्म का पालन करना मनुष्य के लिये आयुष्कर है—यही हमारे अनुभवी जीवनशास्त्रियो का मत है। जीवन-धारण ही धर्म का उद्देश्य है। हम प्रत्यक्ष देखते है कि जो लोग नियम-संयम से रहते है वे स्वस्थचित्त, शरीर से हृष्ट-पुष्ट, तेजस्वी और नित्य अभ्युदय-शील होते है। सदाचार से जीवनी-शक्ति और दीर्घायु की प्राप्ति तो होती ही है, मनुष्य को कीर्ति, लोकप्रतिष्ठा, लोकप्रियता भी मिलती है। कौटिल्य के शब्दो में 'आचारादायुर्वर्धते कीर्तिश्च'—आचार से आयु बढती है और कीर्ति भी। कुंडल-कवच दान करने के पूर्व महामनस्वी कर्ण ने सूर्य से कहा था—इस लोक में सत्कीर्ति आयु बढ़ाती है—'इह लोके विशुद्धाच कीर्तिरायुर्विवर्द्धिनी'—वनपर्व। सत्कीर्ति सत्कृति से ही मिलती है। इसके विपरीत लोक-जीवन में अधार्मिकता, भोग-परायणता, चरित्र-हीनता से आयुर्बल, यश आदि का प्रत्यक्ष विनाश देखने को मिलता है। अधर्मी और दुराचारी तो विना मारे ही मरे रहते है। रामराज्य की एक विशेषता यह भी मानी जाती है कि उस राज्य में, अर्थात् उस समय, किसी की अकालमृत्यु नही होती थी; वृद्धो को बालको की प्रेत-क्रिया नहीं करनी पड़ती थी; सब स्वस्थ, व्याधि-रहित, प्रसन्न थे क्योकि देश-समाज में सर्वसाधारण द्वारा सदाचार का पालन होता था। कलियुग के लिये त्रिकालज्ञ व्यास ने हज़ारो वर्ष पहले भविष्य-वाणी कर दी थी कि शील का नाश होने से सबकी आयु घट जायगी, साधारणतया लोग तीस वर्ष तक ही जियेंगे, ज्यों-ज्यो अनाचार बढ़ेगा मनुष्य निर्बल और अल्पायु

होते जायँगे। इन बातों से हम समझ सकते हैं कि जीवन की पूर्णता के लिये धर्मानुकूल आचरण कितना आवश्यक है। पारलौकिक जीवन में उससे लाभ हो या न हो, लौकिक जीवन में उसका अलौकिक प्रभाव स्पष्ट है। आचार और आरोग्य के घनिष्ट सम्बन्ध को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।

४—धर्माचार का रासायनिक प्रभाव

धर्म जीवन के लिये क्यों परम रसायन है—इसपर भी, संक्षेप में, विचार करना आवश्यक है। ऊपर के विवरण से पाठको को यह स्पष्ट होगया होगा कि धर्म का प्रयोजन केवल पूजा-पाठ या महन्थी नहीं है। जीवन के स्वाभाविक विकास के लिये जिन-जिन सद्गुणो और सद्वृत्तियों की आवश्यकता होती है, उन सबका संग्रह धर्म में मिलता है। सृष्टि की कोई भी वस्तु असर्यादित और विकारग्रस्त होकर सुरक्षित नही रह सकती। मानव-जीवन को भी सुव्यवस्थित एवं विकारमुक्त होना चाहिये। धर्म या मनुष्योचित कर्म से जीवन मर्यादित और सुसंस्कृत होकर विकसित होता है। प्रकृति उसका पोषण करने लगती है। ऐसे ही जीवन को हम योगमय जीवन कह सकते है। योग क्या है?—प्रकृति के साथ संयोग ही तो योग है। अपनी चित्तवृत्तियों को रोककर नियम-संयम का अभ्यास योग कहा जाता है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—पतंजलि। उपनिषद् का कथन है कि योगाग्निमय शरीर वाले को रोग, बुढापा, मृत्यु का भय नहीं रहता—'न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः, प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्'—श्वेत०। प्रकृतिस्थ होकर ही मनुष्य स्वस्थ रह सकता है। सात्त्विक आहार-विहार, आचार-विचार जीवन की प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं। उनसे अनेकमुखी जीवन का सर्वांगीण विकास होता है, कोई अंग निर्जीव नहीं होने पाता।

(क) अमानुषिक अथवा अस्वाभाविक कर्मों से, कृत्रिम उपायों से प्रकृति विकृत हो जाती है, मानवी शक्तियो का प्रस्फुरण नहीं होता। जीवन-

शक्ति का संचय और सद्व्यय कैसे होना चाहिये, इसका नियामक धर्म ही है। उचित रीति से संचय और सद्व्यय से जैसे धन बढ़ता है, वैसे ही जीवन भी। धर्म मनुष्य को ईश्वरीय व्यापार में साझीदार बना कर सम्पन्न बनाता है।

(ख) धर्म से जीवन का आध्यात्मिक पक्ष प्रबल होता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि मानवजीवन का आध्यात्मिक पक्ष उसके भौतिक पक्ष से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक पाश्चात्य दार्शनिक के मत से—'इस जीवन में क्या रक्खा है? निर्जीव शव को आत्मा ढोती फिरती है।' आत्मतुष्टि' के बिना पिंडपुष्टि निरर्थक है। इसलिये शास्त्रकारो ने मनुष्य के लिये प्राकृत भोजन के साथ परम भोजन की व्यवस्था की है। प्राकृत भोजन तो वह है जो शरीर के प्राकृतिक तत्त्वों का पोषण करता है। परम भोजन वह है जिससे आत्मा को बल मिलता है। परम कहते हैं आत्मा को। नाना प्रकार के धर्मो का श्रवण—सुनना, ध्यान देना, मनन करना, उनके अनुकूल आचरण करना—उसका आहार है। इस आहार से आत्मा की तुष्टि-पुष्टि होती है। आत्मिक बल के उत्कर्ष से ही स्वस्थता और सजीवता की प्राप्ति होती है। धर्म से सत्य, न्याय, दया, करुणा, त्याग, उदारता, आशा, उत्साह, धैर्य, विश्वास, प्रेम आदि उन सहज वृत्तियों का पोषण होता है जिनसे आत्मबल बढ़ता है। साथ ही उन आत्मनाशक वृत्तियों का संस्कार होता है जो प्राण को निर्बल बनाती है। वह प्राणदायक रसायन है।

(ग) धर्म से हृदय का भार हलका होता है। जब मनुष्य अकर्त्तव्य कर्म, अन्याय, अत्याचार करता है तो उसका हृदय भय, चिन्ता, विषाद, ग्लानि से पीड़ित होकर भीतर-ही-भीतर जर्जर होने लगता है—'बाहर घाव न दीसई भीतर चकनाचूर।' इन दुर्भावनाओं का कुप्रभाव हृदय, स्नायुमंडल, रक्त पर निश्चित रूप से पड़ता है। इनसे प्राणशक्ति घट जाती है, शरीर की स्वाभाविक क्रियायें गड़बड़ा जाती है। घृणा, क्रोध लोभ आदि रोग के बाहरी कीटाणुओ से अधिक भयंकर होते है। घृणा

से रक्त विषाक्त होता है, क्रोध से मनुष्य जल-भुनकर खाक हो ही जाता है और लोभ तो रोगों का बाप ही है। अशान्ति, अन्तर्द्वन्द्व से स्वास्थ्य-नाश अनिवार्य है। धर्मानुसार शुद्ध भाव से कर्त्तव्य करने से हृदय इन मनोव्याधियों से मुक्त रहता है और मनुष्य को निश्चिन्तता एवं कृतकृत्यता की स्वानुभूति होती है। 'न कृतार्थानां मरणभयम्'—कौटिल्य; जो कर्त्तव्य करके कृतार्थ हो जाता है, उसे मृत्यु का भय नही रहता। चित्त के शुद्ध हो जाने से शरीर में आनन्द का संचार होता है—'आनन्दं वर्धते देहे शुद्धे चेतसि राघव'—योगवासिष्ठ। यही प्रसन्नता जीवनशक्तिदायिनी है। महाकवि शेक्सपीयर ने भी कहा है—'A light heart lives long'

(घ) धर्म से मनोबल दृढ़ होता है। मनोबल मनुष्य का मुख्य बल है—'मन के जीते जीत है, मन के हारे हार।' उसकी दृढ़ता से सम्पूर्ण जीवन में दृढ़ता आना स्वाभाविक है। महर्षि वसिष्ठ ने ठीक कहा है कि मन सर्वस्व है, मन की अपने भीतर चिकित्सा करने से सारा संसार ठीक हो जाता है।—

"मनः सर्वमिदं राम, तस्मिन्नन्तश्चिकित्सिते।
चिकित्सितो वै सकलो जगज्जालमयो भवेत् ॥"

—योगवासिष्ठ।

स्वास्थ्य का अपव्यय रोकने का उपाय मनोनिग्रह ही है। शारीरिक अपराध तभी होते है, जब मन मलिन, निर्बल और चंचल होता है। मानसी चिकित्सा धार्मिक सिद्धान्तो के अनुशीलन से होती है।

(ङ) धर्म-निर्धारित आचार-व्यवहार से शरीर की सुरक्षा होती है, इसे कौन नहीं मानेगा। ब्रह्मचर्य-पालन, गार्हस्थ्य-जीवन की व्यवस्था आदि धर्म के ही अंग है। धर्म में ब्रह्मचर्य पर विशेष रूप से जोर दिया जाता है। ब्रह्मचर्य ही मृत्युञ्जय योग है। व्यास के मत से ब्रह्मचर्य ही अमृत है—'अमृतं ब्रह्मचर्यम्'—महाभारत। शिव ने कहा है कि बिन्दुपात ही मृत्यु और बिन्दु-धारण ही जीवन है—'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु-

धारणात्'—शिवसंहिता। वास्तव में, प्राण-प्रतिष्ठा का सर्वोत्तम साधन ब्रह्मचर्य ही है। वही अमृतत्वदायक है। धर्म उसी मार्ग की ओर संकेत करता है। 'परनारी महामारी' की भावना का संचार करके धर्म ही तो शरीर को रोगदोष से बचाता है। वही समाज में दुराचारों का प्रतिबन्धक है।

(च) यथाधर्म सत्कर्म करने से मनुष्य की आयु एक प्रकार से और बढ़ती है। मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जिसकी आयु उसके कर्मों के अनुसार नापी जाती है। एक अँगरेज विचारक ने लिखा है कि उसी व्यक्ति को पूर्ण रूप से जीवित माना जाता है जो सद्विचार, सद्भावना और सत्कर्म से युक्त होता है—"He most lives who thinks most, feels the noblest and acts the best."—*James Bailey.*

चलते-फिरते श्मशान का कोई महत्त्व नहीं है। थोड़े समय में भी मनुष्य अधिक काम करके अपने जीवन-काल को बढ़ा सकता है।

(छ) मानव-धर्म को समझ कर उसके अनुसार जीवन की शक्तियों का सदुपयोग करने से मनुष्य का कितना उपकार होता है, इस पर स्थानाभाव के कारण यहाँ अधिक लिखना संभव नहीं है। एक मुख्य बात की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करके हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। वह यह है कि सदाचार से सामाजिकता बढ़ती है—सहानुभूति, सहयोग, सद्व्यवहार का प्रचार होता है। सामाजिक वातावरण में नैतिकता की प्रतिष्ठा और शान्ति एवं पवित्रता होने से सर्वसाधारण के स्वास्थ्य पर उसका चुपचाप प्रभाव पड़ता है। दूषित वातावरण में जीवन के किसी अंग का स्वाभाविक विकास नहीं हो सकता। धार्मिक आचरण से जो लोककल्याण होता है, उसका लाभ प्रत्येक सामाजिक प्राणी को मिलता है। अपने लिये ही नहीं, दूसरों के लिये भी—उस समाज के लिये जिसके हम एक अंग हैं—सदाचार का पालन करना हमारा जीवन-धर्म है। जीवन इसी प्रकार सुरक्षित रह सकता है।

इस क्षणभंगुर संसार में जो व्यक्ति सचमुच दीर्घजीवी होना चाहता है, उसे इस धर्म-नीति का पालन सावधानी से करना चाहिये—

"वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमायाति याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥"

अर्थात्, चारित्र्य की रक्षा यत्न से करनी चाहिये; धन तो आता-जाता ही रहता है। धन से क्षीण क्षीण नही कहलाता, परन्तु सदाचार से भ्रष्ट को तो मरा ही समझना चाहिये।

ऋषियों के इस अनुभूत सत्य को सर्वदा स्मरण रखना चाहिये कि नष्ट हुआ धर्म ही नाश करता है और रक्षित किया धर्म ही रक्षा करता है—'धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः'—मनु। इसके सहारे मनुष्य मर कर भी अमर रहता है; जीवन के वाद भी उसकी जीवनी रहती है।

: ५ :

कर्तव्य और अधिकार



आजकल लोगों में अधिकार-लोलुपता बढ़ गई है। चारो ओर अधिकारों की माँग है—कोई नागरिकता का अधिकार चाहता है, कोई शासन का; पति पत्नी पर अधिकार चाहता है और पत्नी पति पर चाहती है। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसके लिये परस्पर स्पर्द्धा, छीना-झपटी चल रही है। न्यायपूर्वक किसी को कोई अधिकार कैसे मिलता है, इस सम्बन्ध में एक पौराणिक कथा उल्लेखनीय है।

१—एक पौराणिक कथा

एक बार वरुण देवता के शाप से राजा हरिश्चन्द्र को असाध्य जलोदर रोग होगया। महर्षि वसिष्ठ ने उन्हें शाप से छुटकारा पाने के लिये एक पुत्र खरीद कर नरमेध-यज्ञ करने की सम्मति दी। राजा की आज्ञा से उनका मन्त्री बलिपुत्र की खोज में निकला। उसने अनेक देश, नगर, ग्राम छान डाले, परन्तु कही सफलता नहीं मिली। कोई शतपुत्रवान् या कुपुत्रवान् भी किसी मूल्य पर अपने आत्मज का अहित करने को तैयार नहीं था।

सब ओर से निराश होकर राजमन्त्री अपने राज्य में लौट आया। वहां पर किसी ग्राम में अजीगर्त्त नामक एक महादरिद्र और लोभी ब्राह्मण रहता था। उसके तीन पुत्र थे। राजमन्त्री स्वर्णमुद्राओं की थैलियाँ लिये हुए उसके पास जाकर बोला—भूदेव, आप जीते जी प्रेतयोनि में क्यों पड़े हैं? इन तीनों में से एक भी पुत्र आपका उद्धार कर सकता है।

अजीगर्त्त ने कहा—मंत्रिवर, इनमें से एक भी मेरे काम का नहीं है। मेरा उद्धार तो वही भगवती कर सकती है, जो इस समय आपकी मुट्ठी में है।

चतुर मंत्री बोला—मेरे पास जो कुछ भी है, उसे आप न्यायपूर्वक ले सकते हैं। न्याय यह है कि यदि आप मुझसे धन लेते हैं तो उसके बदले मुझे भी कोई वस्तु प्रदान करें। इस समय आपके पास आवश्यकता से अधिक पुत्र हैं। वे आपके लिये व्यर्थ और भार-स्वरूप हैं। मुझे महाराजा हरिश्चन्द्र के लिये एक क्रीतपुत्र की आवश्यकता है। धर्मयज्ञ में उसे बलि देकर महाराज वरुणदेव को सन्तुष्ट करना चाहते हैं। आप इनमें से एक को भी मेरे हाथ बेच दें तो मैं आपको यथेच्छ धन दूंगा। इस युक्ति से आपके उस बलिदान होने वाले सुपुत्र को तो स्वर्गलाभ होगा ही, आप स्वयं धन-वैभव-सम्पन्न होकर सपरिवार शेष जीवन सुख और सम्मान से बिता सकेंगे। यदि आप ऐसा नहीं करते तो शीघ्र ही बाल-बच्चों के साथ भूखों मर जायँगे। वसुन्धरा में वसुकीट (दरिद्र) होकर रहना घोर कष्टकर और अपमानजनक है।

धन-लोलुप अजीगर्त्त का मन उस समय मंत्री की थैलियों में समा गया था। उसका प्राण अपने पुत्रों में नहीं, पराये पैसों में था। मंत्री का मंत्र काम कर गया। ब्राह्मण ने यथेष्ट द्रव्य लेकर एक पुत्र को बेचना स्वीकार कर लिया। अब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि बलिदान के लिए किस पुत्र को बेचा जाय। पिता ने कहा कि मैं ज्येष्ठ पुत्र को नहीं बेचूँगा, क्योंकि उसके बिना मुझ मरने पर पिण्ड-दान कौन देगा? माँ ने कहा—मुझे सबसे छोटा पुत्र प्राणों से भी अधिक प्रिय है, मैं उसे जीते-जी अलग नहीं होने दूंगी। अब बचा मँझला लड़का। अजीगर्त्त ने उसी को घर का बोझ समझ कर अच्छे मूल्य पर सहर्ष बेच दिया। उसका नाम था शुनःशेप।

राजमंत्री शुनःशेप को लेकर राजा हरिश्चन्द्र के पास पहुँचा। व्याधि-पीड़ित राजा ने ऋषि-मुनियों के सहयोग से यथाशीघ्र यज्ञ प्रारम्भ कर

दिया। उसमें अन्य पीड़ितों के साथ अजीगर्त्त भी दक्षिणा के लोभ से आया। सबके सामने बालक शुनःशेप बलिदान के लिये यूपकाष्ठ में बाँध दिया गया। जब उसे ज्ञात हुआ कि अभी मैं मार डाला जाऊँगा तो वह भयभीत होकर चिल्लाने लगा। उसका करुण-क्रन्दन सुनकर कठोर कर्म-काण्डी भी दया-द्रवित होगये। सिद्धहस्त शमिता (यज्ञ में बलि चढ़ाने वाला) ने अस्त्र फेंककर कहा—मैं भी मनुष्य का हृदय रखता हूँ, वेतन के लोभ से ऐसा असानुषिक कर्म नहीं कर सकता।

शुनःशेप का आर्त्तनाद सुनकर कोई भी उसका वध करने को तैयार नहीं हुआ। राजा को चिन्तित देखकर हृदयहीन अजीगर्त्त उठकर बोला—महाराज, यज्ञ तो निर्विघ्न समाप्त होना ही चाहिये; आपने मुझे जितना धन दिया है उसका दोगुना और दें तो मैं अभी इस बलि-पशु का वध करके आपका मनोरथ सिद्ध कर दूँगा।

हरिश्चन्द्र ने दूना धन देना स्वीकार कर लिया। अजीगर्त्त तत्काल हाथ में अस्त्र लेकर शुनःशेप का सिर काटने के लिये तैयार होगया। सदस्यों के हाहाकार और धिक्कार से यज्ञ-मंडप गूँज उठा। महर्षि विश्वा-मित्र से यह निष्ठुर कार्य नहीं देखा गया। वे उठकर राजा से बोले—राजन्, यह दीन बालक दया का पात्र है, इसे मुक्त कर दो। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ कि इस शुभ कर्म से तुम्हारा अनुष्ठान पूर्ण हो जायगा; तुम अपने पुण्य-प्रभाव से रोग-शोक से मुक्त हो जाओगे। अमानुषिक रीति से धर्म-कार्य सफल नही होता।

हरिश्चन्द्र ने महर्षि की बातो पर ध्यान नहीं दिया। उन्होंने बाल-बलि से वरुणदेव को प्रसन्न करके स्वास्थ्य-लाभ करने में ही अपना परम स्वार्थ समझा। राजा की निर्दयता से भी विश्वामित्र हताश नहीं हुए। उन्होंने स्वयं स्नेहपूर्वक निस्सहाय शुनःशेप के पास जाकर उसे धैर्य दिया और सिद्ध वरुण-मन्त्र बता कर कहा—वत्स, तुम श्रद्धा-विश्वास के साथ इस मन्त्र से वरुण देवता का आह्वान करो, वे तुम्हारी रक्षा करेंगे।

शुनःशेप ने रोना-चिल्लाना छोड़ कर भक्ति-भाव से वरुण-मंत्र जपना

प्रारम्भ किया। इधर से निर्मम अजीगर्त्त उसका सिर काटने के लिए आगे बढ़ा, उधर से आपदोद्धारक के रूप में वरुण आगये। उन्होंने हरिश्चन्द्र से कहा—राजन्, इस कातर प्राणी ने संकट-काल में मन्त्र-द्वारा मेरी स्तुति की है; अब मुझे इसका हित करना चाहिये; तुम इसे बन्धनमुक्त कर दो; मैं तुम्हें शाप से मुक्त करता हूँ।

राजा ने वरुण के आदेश से बालक को मुक्त कर दिया। उनका जलोदर रोग भी शाप के साथ शान्त होगया। इस प्रकार अहिंसात्मक रीति से यज्ञ के सम्पन्न होने के उपरान्त शुनःशेप ने उपस्थित मनीषियों को सम्बोधन करके कहा—सज्जनो, जिस प्रयोजन से राजा ने मुझे अपना पुत्र बनाया था, वह अब समाप्त होगया। इस समय आप लोग धर्मपूर्वक निर्णय कर दें कि मेरा पिता कौन है, जिससे मैं उसका अनुगमन कर सकूं।

इस प्रश्न पर ऋषि-मुनियो में परस्पर तर्क-वितर्क होने लगा। तब वसिष्ठ ने कहा—अजीगर्त्त शुनःशेप का जन्मदाता अवश्य है, परन्तु अब वह पुत्र-विक्रेता अपनी निर्ममता के कारण इसका पिता होने का अधिकारी नहीं है। राजा हरिश्चन्द्र को भी इस समय हम इस बालक का पिता नहीं मान सकते। उन्होंने इसको अपना क्रीतपुत्र बनाकर इसके बलिदान से अपना स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न किया—यह पिता का धर्म नहीं है। वरुण को भी हम शुनःशेप का पिता नहीं मानेंगे, क्योंकि उन्होंने इसका जो कुछ उपकार किया है, इसकी स्तुति पर प्रसन्न होकर ही किया है। पिता तो वह है जो स्वाभाविक स्नेह से बालक का रक्षण-पोषण करे। मेरी दृष्टि में एकमात्र महर्षि विश्वामित्र ने इस बालक के प्रति पिता-जैसा आचरण किया है। उन्होने स्वेच्छया निःस्वार्थ भाव से इसे प्रभावशाली मंत्र प्रदान किया जिससे इसकी जीवन-रक्षा हुई। उन्हीं की दया और सहज प्रीति से इसे एक प्रकार से पुनर्जन्म मिला है। अतएव विश्वामित्र ही इसके पिता होने के योग्य है।

समाज के सभी नेताओं ने गुरुवर वसिष्ठ के मत का समर्थन किया।

शुनःशेप ने विश्वामित्र को सहर्ष अपना पिता स्वीकार कर लिया। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि लोक की रीति-नीति के अनुसार हित करने वाला पराया व्यक्ति भी अपना बन्धु है और अहित करने वाला अपना बन्धु भी पराया हो जाता है। देहोत्पन्न व्याधि अहितकर होने के कारण अप्रिय और हितकर वनौषधि भी मनुष्य को प्रिय लगती है।

२—गुण-चरित्र का महत्व

उपरोक्त कथा में आजकल के बहुसंख्यक अधिकार-प्रेमियों के लिये एक उपयोगी शिक्षा है। वह यह कि सभ्य समाज में पद-प्रतिष्ठा, ज्येष्ठता-श्रेष्ठता का निर्णय मनुष्य के गुण और चरित्र के आधार पर होता है। बालक को जन्म देने मात्र से किसी व्यक्ति को पिता के समस्त अधिकार नहीं मिल जाते। पितापन भी गुण-चरित्र की योग्यता—कर्त्तव्यपरायणता से मिलता है। किसी भी प्रकार का सच्चा अधिकार पाने का यही उपाय है। इटली के सुप्रसिद्ध राष्ट्र-निर्माता मैज़िनी ने सत्य ही कहा है कि कर्त्तव्य-पालन के बिना किसी के अधिकार सुरक्षित नहीं रह सकते—"Rights cannot exist except as a consequence of duties fulfilled."—*The Duties of Man.*

प्राचीन भारतीय समाज में ब्राह्मण-क्षत्रियों को जो विशेषाधिकार प्राप्त था उसका कारण यह नही था कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से और क्षत्रिय उनकी भुजा से उत्पन्न हुये थे। न तो ब्राह्मण हैजे के कीड़े थे और न क्षत्रिय वृद्ध ब्रह्मा के पुराने कपड़ो के चीलर। ब्राह्मणत्व वाणीबल से और क्षत्रियत्व बाहुबल से प्रमाणित होता था। उनकी प्रधानता के पीछे उनकी गुणवत्ता और सदाचार-परायणता थी। महाभारत में कहा है—जो शूद्र दम, सत्य और धर्म में परायण है, उसे मैं ब्राह्मण मानता हूँ क्योंकि सदाचार से ही द्विज बनता है।—

"यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः॥" —वनपर्व।

गुरुता भी ज्ञान और कर्म के आधार पर मिलती थी। मनु ने कहा है—"अज्ञो भवति वै बालः, पिता भवति मन्त्रदः।" अर्थात्, ज्ञानहीन व्यक्ति (चाहे वह वृद्ध ही क्यों न हो) बालक है और शिक्षक (चाहे वह अल्पवयस्क ही हो) पिता है। अंगिरा ऋषि अपने चचाओं को पढ़ाते समय उन्हें 'पुत्रो' कहकर सम्बोधित करते थे। महाभारत में बारह वर्ष के विद्वान् अष्टावक्र ने अधिकारपूर्वक कहा है कि कोई सिर के बाल श्वेत होने से वृद्ध नहीं होता है। बालक होकर भी यदि कोई ज्ञान-सम्पन्न है तो वह वृद्ध माना जाता है।—

"न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः।
बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः॥"

—वनपर्व।

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः' के और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे—नारी को शक्ति एवं माता की पदवी उसके विशिष्ट गुणों के कारण प्राप्य थी। स्कन्दपुराण के शब्दों में 'शिशोः शुश्रूषणाच्छक्तिर्माता स्यान्माननाच्च सा।' अर्थात्, शिशु की शुश्रूषा करने से वह शक्ति कही गई है, तथा सदा सम्मान देने के कारण उसे माता कहते हैं। देवता भी अपने दिव्य गुण-कर्म के कारण परम पद के अधिकारी माने गये हैं।

प्रभुत्व का रहस्य बताते हुये भगवान् कृष्ण ने स्वयं कहा है कि 'यद्यपि लोग उसे ऐश्वर्य या प्रभुत्व कहते है, परन्तु मैं जो-कुछ करता हूँ वह अपनी जाति के लोगों का दासत्व है'—'दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां वै करोम्यहम्'—शान्तिपर्व। सुप्रसिद्ध रूसी सन्त साहित्यकार टालस्टाय ने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ में इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—
" .. ..Power over others—which in its real meaning is only the greatest dependence on others." —*War and peace*.

अर्थात्, दूसरों पर अधिकार प्राप्त करने का अर्थ है—दूसरों पर

अधिक से अधिक अवलम्बित रहना, उनका अनुग्रह प्राप्त करना, उन्हें सेवा से सन्तुष्ट रखना।

इन उदाहरणों से यह समझा जा सकता है कि किसी भी प्रकार का स्थायी अधिकार अपनी सुपात्रता और कर्त्तव्य-परायणता से ही मिल सकता है। अधिकारों के पीछे दौड़ने से सच्चा अधिकार नहीं मिलता। संख्याबल के प्रभाव से उच्चासन प्राप्त कर लेने से भी वह नहीं मिलता। मिथ्या आडम्बर से, वोट लेकर या अधिकारों की भीख माँगकर भी कोई सच्चा अधिकारी नहीं बन सकता। अधिकार तो कर्त्तव्य से ही प्राप्त होता है और कर्त्तव्य करने के लिये क्षमता—आत्मसामर्थ्य—चरित्रबल—व्यवहार-दक्षता—चाहिये, क्योंकि प्रत्येक अधिकार के साथ उत्तरदायित्व लेना पड़ता है। शृगाल या शृगाल-बुद्धि सिंहासन का अधिकारी कैसे होगा? पद या पदवी से मनुष्य का गौरव नहीं बढ़ता। मनुष्य के कर्म ही किसी पद को गौरवपूर्ण बनाते हैं—'The place is dignified by the doer's deed'—*Shakespeare.*

आजकल अधिकार तो प्रायः सब चाहते हैं, परन्तु सभी उसके लिए कर्त्तव्य नहीं करना चाहते। ऐसे लोग अपनी असफलता और अप्रतिष्ठा के लिए स्वयं दोषी हैं। बहुत-से ऐसे लोग हैं जो छद्मसाधुता के बल पर अपने को पुजवाना चाहते हैं। उन्हें सफलता भी मिलती है, परन्तु क्षणिक। वे गिरने के लिये ही उठते हैं। अन्त में मायावियों की दुर्गति ही होती है। इसीको लक्ष्य करके तुलसीदास ने कहा है—

"सारदूल को स्वांग करि, कूकर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिये, कीरति विजय विभूति॥"

कितने ही ऐसे हैं जो जाति-कुल या किसी स्वजन के बड़प्पन का लाभ लेकर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करना चाहते हैं। "हँसिके लोढ़ा करै लड़ाई। हम संभुनाथ के भाई।"—यह कहावत ऐसे ही लोगों के लिये है। दूसरों के बल पर गर्व करने वाले को कोई बलवान् नहीं मानता।

उधार लेकर काम चलाने वाला सम्पन्न नहीं माना जाता। पत्थर का टुकड़ा यह कहकर किसी का रास्ता नहीं रोक सकता कि हम हिमालय के भतीजे हैं। उसे लोग तोड़ डालेंगे या फेंक देंगे। मिथ्या प्रदर्शन, ऊपरी ठाठ-बाठ का वही परिणाम होता है जो इस कहावत में वर्णित है—'होने चले बाबू भइया, होगये भिखारी।' मिथ्या व्यक्तित्व टिकाऊ नहीं होता।

इस समय ऐसे आदमियों की कमी नहीं है जो अवसर का लाभ लेकर, दूसरों की आंखों में धूल झोंककर, अनधिकार चेष्टा से अधिकारी बन बैठते हैं; परन्तु हम देखते हैं कि उनकी सत्ता-महत्ता अस्थायी होती है। बिहारी के शब्दों में हम ऐसे लोगों का अस्थिर वैभव देखकर कह सकते हैं—

"दिन दस आदर पाय के, करिले आपु बखान।
जो लौं काग, सराध-पख, तो लौं तो सनमान॥"

अयोग्य और कर्त्तव्य-च्युत प्राणी अन्त में अधिकार-च्युत हो ही जाता है। कुर्सी की पीठ अपनी पीठ नहीं हो सकती।

कुछ लोग अनुचित बल-प्रयोग से अधिकारी बनने का प्रयत्न करते हैं और बन भी जाते हैं। ऐसे लोगों का पराभव ही देखा जाता है। स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक भाषण में कहा था—"That which is forced is never forcible.' इसका तात्पर्य यह है कि अत्याचार प्रभावशाली नहीं होता। लोकदृष्टि में, दूसरों को बलपूर्वक दबा रखने वाला अधिकारी नहीं, अत्याचारी माना जाता है। ऐसे व्यक्ति का उत्थान लोक-प्रकृति को असह्य है—"गुणः खल्वनुरागस्य कारणं न बलात्कारः।" प्रसिद्ध योद्धा नेपोलियन ने भी स्वीकार किया है कि पशुबल पर सदाचार की सर्वत्र विजय होती है—"In all places brute force yields to moral qualities."

इस प्रसंग में उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि अकबर का यह शेर उल्लेखनीय है—

"जो ख़िरदमन्द[1] हैं वह ख़ूब समझते हैं यह बात।
ख़ैर-तवाही वह नहीं है जो हो डर से पैदा॥"

दूसरों को डरा-धमकाकर या पैरों तले रौंदकर अनुचित रीति से कोई वड़प्पन नहीं पा सकता। वड़प्पन दूसरो को नीचा दिखाने से नहीं मिलता। मनुष्य को स्वयं इतना ऊंचा उठना चाहिये कि दूसरे उसके आगे छोटे लगें। सूर्य तारों को या घर के दीपकों को नहीं वुझाता। उसके तेज से वे स्वयं हतप्रभ हो जाते है। नेपोलियन ने एकबार कहा था कि मेरी प्रधानता का आधार यह था कि मैंने अपने को सेना के अन्य किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाणित किया था; यदि मैं मानवीय दुर्बलताओं के आगे झुक जाता तो मेरा अधिकार-वल नष्ट होजाता।

महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों को कैनिंग का यह वाक्य सदैव स्मरण रखना चाहिये—'My road must be through character to power.' अर्थात्, अधिकार-प्राप्ति के लिये हमें सदाचार के मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। लोक-धर्म की उपेक्षा करके कोई शक्ति-सम्पन्न नहीं हो सकता। यथाधर्म अपना कर्त्तव्य करते हुये मनुष्य अपने अधिकारों की रक्षा में समर्थ होता है। उपनिषद् का मत है कि धर्म करके ही निर्वल व्यक्ति वलवान् को जीतने की इच्छा करता है—'अवलीयान् वलीयांस-माशंसते धर्मेण।' जो नागरिक के अधिकार चाहता है, उसे उचित है कि वह अपने चरित्र से नागरिकता प्रकट करे; स्वार्थ के ऊपर कर्त्तव्य को महत्त्व दे। जो अपनी पत्नी की दृष्टि में पतिदेव वनना चाहता है, उसके गुण-कर्म में देवतापन होना आवश्यक है। दानवता या पशुता से देवत्त्व कैसे मिलेगा ? जो कुलपति के अधिकार चाहता है, उसे कुल-कुली वनकर घर का सारा वोझ उठाना चाहिये, सवका पालन-पोषण करना चाहिये, क्योंकि शास्त्र के कथनानुसार मनुष्य अपने स्त्री-वच्चों और सेवकों का ऋणी उत्पन्न होता है; उस ऋण को चुकाना उसका धर्म है। जो लोक-हृदय पर

---

१. ख़िरदमन्द = वुद्धिमान्

अधिकार चाहता है, उसे महात्मा बुद्ध का यह वचन याद रखना चाहिये कि श्रद्धावान्, शीलवान्, यश और भोग से युक्त पुरुष जहाँ-जहाँ जाता है, वहीं-वहीं पूजित होता है। इसी प्रकार अन्य अधिकारों के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये।

प्रायः यह देखने को मिलता है कि अच्छे-अच्छे गुणवानों, विद्वानो को भी कोई नहीं पूछता। इसका रहस्य कौटिल्य के शब्दो में यह है—'अल्पसारं श्रुतवन्तमपि न वहु मन्यते लोकः।' अर्थात्, शास्त्रज्ञ यदि शक्ति-हीन है तो लोक उसका आदर नहीं करता। सुयोग्य बनकर बैठने से किसी की महिमा नहीं बढ़ती। विद्या-वुद्धि के साथ प्रगल्भता, सक्रियता चाहिये। तभी कर्त्तव्य की पूर्ति हो सकती है। थोड़ा-बहुत कर्त्तव्य करके कोई पूरा लाभ कैसे पायेगा? इस सम्बन्ध में विख्यात विलायती विद्वान् कार्लाइल का यह कथन ध्यान में रखने योग्य है—"Men do less than they ought unless they do all that they can." इसका सरल अर्थ यह है कि लोग जबतक उतना काम नहीं करते जितना कि वे कर सकते हैं, तबतक वे कम ही करते है।

३—अपना कर्त्तव्य कीजिये

अपने लिये और देश, समाज के कल्याण के लिये यह आवश्यक है कि लोग स्वार्थपूर्ण अधिकार-मोह त्यागकर यथाशक्ति अपना-अपना कर्त्तव्य करें। चीन के प्राचीन दार्शनिक कनफ्यूशस ने कहा है कि उत्तम राज्य वही है जहां शासक—शासक, मंत्री—मंत्री, पिता—पिता और पुत्र—पुत्र हों; सब अपने कर्त्तव्य को समझकर उसके अनुसार आचरण करें। मर्यादा का अतिक्रमण अपने ही लिये हानिकर होता है। जो स्वयं अपने आचरण को मर्यादित नहीं कर सकता, वह दूसरों को अनुशासन में कैसे रक्खेगा? इसलिये आत्मशासन को स्वाधिकार का प्रथम सोपान मानना चाहिये। आत्मशासन सहज नहीं है। प्रायः लोग थोड़ा-सा अधि-कार पाते ही आपे से बाहर हो जाते हैं, शक्ति के उन्माद में अपना कर्त्तव्य

भूल जाते हैं। नीतिज्ञ शुक्राचार्य ने कहा है कि स्वामिता—"स्वभाव-सद्‌गुणे यस्मान्महाऽनर्थमदावहा"—स्वभाव से सद्‌गुणी में भी महा अनर्थ-मद उत्पन्न करती है। और अधिकार-मद को चिरकाल तक पीकर कौन नहीं मोहित होता!—"अधिकारमदं पीत्वा को न मुह्येत्पुनश्चिरम्।"—शुक्रनीति। अधिकार पाते ही वहुत-से भले आदमी भी सचमुच धिक्कार के योग्य हो जाते हैं, अकर्त्तव्य कर्म करने लगते हैं। सिर में गर्मी बढ़ने से आँख के आगे अँधेरा हो ही जाता है। इस स्वाभाविक दुर्वलता को ध्यान में रखकर, श्रीमद्‌भागवत के अनुसार, विधाता ने भगवान् से पहले ही यह वरदान मांग लिया था कि निश्चिन्त होकर आपकी सेवा में तत्पर रहते हुये मेरा अपने को स्वतन्त्र एवं अजन्मा मानकर मद न बढ़ जाय।—

"अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो,
मा मे समुन्नद्धमदोऽजमानिनः॥"

—श्रीमद्‌भागवत।

प्रत्येक व्यक्ति को इसी प्रकार सावधान होकर निरन्तर अपने कर्त्तव्य का ध्यान रखना चाहिये। तभी वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अधिकारों का उपभोग करता हुआ आत्मोन्नति कर सकता है। व्यक्तिगत योग्यता के विना जन्मगत अथवा राजनीतिक अधिकार निरर्थक है। सत्कर्महीन मनुष्य को तो साधारण मनुष्यता का अधिकार भी नहीं मिलता।

: ६ :

दान-परोपकार-सेवा

१—माघ का महादान

संस्कृत के महाकवियों में शिशुपालवध के रचयिता माघ का स्थान बहुत ऊँचा है। राजशेखर ने उनके सम्बन्ध में कहा है कि माघ मास के समान माघ कवि का नाम सुनकर किस विद्वान् को कँपकँपी नहीं होती—'माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते।' इनके जीवन की एक उल्लेखनीय घटना है। यह घटना उस समय की है जब धनी माघ अपनी दानशीलता के कारण दीन हो चुके थे।

एक दिन मनस्वी महाकवि अपने घर के बाहर बैठे हुये अपने काव्य का नवम सर्ग लिख रहे थे। उसी समय अवन्तिका से एक दरिद्र ब्राह्मण ने आकर अपनी कन्या के विवाह के लिये उनसे आर्थिक सहायता की याचना की। माघ ने कहा—भाई, मैं तुम्हें क्या दूं, कहाँ से दूं; मेरे पास तो कुछ भी नहीं बचा है—मैं स्वयं कई दिनों का भूखा हूँ।

याचक निराश होकर वहां से चलने लगा। सहृदय कवि से यह देखा नहीं गया। उन्होंने उसे रोककर पूछा—विप्रदेव, कन्या-विवाह के लिये आपको कितना धन चाहिये?

ब्राह्मण ने कहा—सौ मुद्रायें मिल जायें तो किसी प्रकार काम चल जायगा।

उसे बैठने का आदेश देकर माघ घर के भीतर गये। वहाँ उन्होंने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। घर में कोई भी मूल्यवान् वस्तु शेष नही थी। एक खाट पर उनकी पत्नी पड़ी सो रही थी। उसके हाथों में स्वर्ण के

कंकण थे। घर की सम्पन्नता के वही अन्तिम स्मारक थे। संभवतः उनके विवाह के वही अन्तिम स्मृति-चिह्न थे जिन्हें स्त्री ने बड़े यत्न से सुरक्षित रक्खा था। माघ ने चुपचाप पत्नी के पास जाकर उसके एक हाथ का आभूषण निकाल लिया। उसे लेकर वे चलने ही वाले थे, इतने में स्त्री की आँख खुल गई। उसने चौंककर पूछा—कौन है ?

माघ ने कहा—चोर।

स्त्री ने कहा—चोर या स्वामी ?

माघ—इस समय मैं स्वामी नहीं, चोर हूँ। देखो, मैं तुम्हारा कंकण चुराये जा रहा था—तुम मुझे जो दण्ड देना चाहो दे सकती हो; मैंने चोरी की है।

कवि-पत्नी ने कहा—चोरी तो दूसरे की वस्तु की होती है। मेरा तो सर्वस्व आपका है—मैं आप को चोर कैसे मानूं !

माघ किंकर्त्तव्यविमूढ़-से होकर खड़े होगये। उनकी मनोव्यथा उनके चेहरे पर छाई हुई थी। पत्नी समझ गई कि वे परिहास नहीं कर रहे हैं। उसने स्वामी की उदासी का कारण पूछा। माघ ने कहा—गृहिणी, हमारे द्वार पर एक दीन प्राणी आया है। धन के अभाव में उसकी युवती कन्या अभी तक अविवाहित पड़ी है। उसने बड़ी आशा के साथ मुझसे सौ मुद्राओं की याचना की है। मैं उसे कैसे निराश करूँ ? यह तो उस घर का अपमान है जहाँ से कभी कोई निराश होकर नहीं लौटा। मैंने यह सोचा कि तुम्हारा एक कंकण उसे दे दूँ तो उसका काम चल जायगा। उसे बेचकर वह सौ मुद्रायें पा जायगा। इस प्रकार एक अभागिनी कन्या सौभाग्यवती बन जायगी। तुम्हारी स्वीकृति हो तो मैं इस कंकण को दान कर दूँ। इसे देने में तुम्हे कष्ट हो तो तुम मुझे स्पष्ट बता दो।

पति की बातें सुनकर स्त्री ने अपने दूसरे हाथ का कंकण भी निकाल उन्हे देते हुए कहा—स्वामी, एक से उसका काम नहीं चलेगा, इसलिये इसे भी सहर्ष दे दीजिये।

माघ ने कहा—इस एक से ही सौ मुद्रायें मिल जायँगी, दूसरा क्यो देती हो ?

पत्नी बोली—दूसरा इसलिये देती हूँ कि वह धूमधाम से अपनी कन्या का विवाह करे। इसे आप मेरी ओर से उसे दे दीजिये।

नारी का मुख-मंडल हर्ष और स्वात्माभिमान से दमक रहा था। माघ ने दूसरा कंकण भी ले लिया। दोनो को प्रसन्नतापूर्वक दान करके महाकवि ने उस याचक से कहा—विप्रवर, इन्हें बेचकर आप कम-से-कम दो सौ-मुद्रायें पा जायँगे। उनसे अपनी कन्या का विवाह सुयोग्य रीति से कीजिये। हमारी शुभ-कामनायें आपके साथ हैं।

ब्राह्मण ने दान-वस्तुओ को कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार कर लिया। चलते समय उसने महाकवि से कहा—आपका यह काव्य निश्चय ही संसार में आपको अमर कर देगा।

माघ ने आश्चर्यचकित होकर पूछा—आपने बिना देखे ऐसा कैसे कहा ?

ब्राह्मण बोला—जब आप भीतर थे, मैंने उस थोड़े समय में इसे उलट-पलट कर देख लिया है; अद्‌भुत रचना है। आपका परिश्रम आपको गौरव प्रदान करने वाला है। मेरा आशीर्वाद सत्य होगा।

यह कहकर ब्राह्मण वहाँ से चला गया। माघ पुनः काव्य-रचना में तल्लीन होगये। उनकी पत्नी भीतर से दोनों की बातचीत सुन चुकी थी। याचक के जाने के बाद उसने बाहर आकर पति से कहा—जान पड़ता है, वह व्यक्ति भी कोई उदार विद्वान् है जो आप ही की भाँति आज दरिद्र होगया है। माघ नें कहा—सचमुच मेरे ही जैसा कोई आपत्तिग्रस्त प्राणी है, उसका परिचय पूछना भूल गया। महाकवि ने उसकी बहुत खोज की, परन्तु वह नही मिला।

२—दान का महत्व

माघ ने जो किया, वही प्रत्येक सत्पुरुष का कर्त्तव्य है। कालि-

दास के शब्दो में—'आपन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्'—मेघदूत। अर्थात्, विपत्ति में पड़े हुये मनुष्यो के दुःख को दूर करना ही उत्तम पुरुषों की सम्पत्ति का फल है। भारतीय इतिहास से इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। दान-परोपकार हमारी संस्कृति और सभ्यता के विशेष अंग हैं। वेद का आदेश है—'शतहस्तं समाहर सहस्र-हस्तं संकिर'—ऋग्वेद। अर्थात्, सैकड़ो हाथो से इकट्ठा करो और सहस्रों हाथों से बांटो। प्राचीन काल के श्रेष्ठ पुरुष यही मानते थे कि मेरे पास देने के लिये पर्य्याप्त सामग्री हो, मुझे नित्य अनेक अतिथियो की सेवा का सुअवसर प्राप्त हो; मेरे पास याचक आयें, किन्तु मुझे कहीं न माँगना पड़े—"बहु देयं च नोऽस्तु। अतिथींश्च लभेमहि याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन।" शास्त्रकारो के मत से यदि शत्रु भी अपने घर पर आ जाय तो उसके लिये कुछ भी अदेय नहीं है—"शत्रावपि गृहायाति नास्त्यदेयं तु किंचन'—पद्मपुराण। शत्रु की वात तो जाने दीजिये, हिन्दु-शास्त्रों में तो मृतको के लिये भी पिंड-दान, तर्पण का विधान है। जो हिन्दू मरे लोगो को अन्न-जल से तृप्त करता है, वह जीवितो को क्यो न करेगा? दान-प्रवृत्ति के प्रोत्साहन के लिये ही, संभवतः, प्राचीन मनोवैज्ञानिको ने इस कर्म की व्यवस्था बाँधी है। दान ही के लिये बड़े-बड़े यज्ञ किये जाते थे। शास्त्रों ने यज्ञ-शेष अन्न को ही अमृत माना है। जो दूसरों को खिला कर खाता है उसे अमृताशी कहते हैं। समाज-संस्थापको ने सबको अमृताशी बनने का उपदेश दिया है। जिस राम-राज्य को हम लोग अपना आदर्श राज्य मानते हैं, उसकी एक विशेषता यह भी है कि उसमें 'दान करो और स्वयं भी भोगो' का उपदेश कभी वन्द नहीं होता था—'अव्युच्छिन्नोऽभवद्राष्ट्रे दीयतां भुज्यतामिति'—ब्रह्मपुराण।

दान को ही धर्म कहा गया है—'दानं धर्मः'—कौटिल्य। उसी का नाम पुण्य है। दान का महत्व दानी की सामाजिक प्रतिष्ठा से समझा जा सकता है। वेदकालीन विद्वान् भी यही मानते थे कि दानी अमर पद पाते हैं—'दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते'—ऋग्वेद। जिन देवताओं की हम वन्दना

करते हैं, उनका प्रधान लक्षण यही तो है कि वे वरदान देते हैं। वे वरदान न देते तो उनका पूजना तो दूर रहा, कोई उन्हे पूछता भी नही। देवतापन दान से सिद्ध होता है। भगवान् को भी लोग इसीलिये भजते हैं कि उन्होंने अपनी विभूतियों को सर्व-सुलभ कर दिया है। वे दीनबन्धु, करुणासिन्धु, मुक्तिदाता है। मनुष्यो में भी पुण्यवान्, नृदेव वही माने जाते हैं जो परोपकारार्थ कुछ देते रहते हैं। उसी का जीवन सफल माना जाता है जो नित्य परोपकार में प्रवृत्त रहता है—'जीवितं सफलं तस्य यः परार्थोद्यतः सदा'—ब्रह्मपुराण। महापण्डित व्यास का मत है कि सज्जनो की सम्मत्ति में वे ही लोग सभ्य पुरुष माने जाते है जो दानी, अपने आश्रितों के भाग को न्यायपूर्वक अर्पण करने वाले, दीनजनो पर अनुग्रह करनेवाले ......और सब प्राणियों के प्रति दयालु होते है—

"दातारः संविभक्तारो दीनानुग्रहकारिणः।
सर्वभूतदयावन्तस्ते शिष्टाः शिष्टसम्मताः ॥"

—वनपर्व।

सज्जन का यह लक्षण है कि वे सदा दया करने वाले और करुणाशील होते हैं—'सर्वत्र च दयावन्तः सन्तः करुणवेदिनः'—वनपर्व। मार्कण्डेय पुराण के मत से—जो व्यक्ति याचको, मित्रों तथा शत्रुओं से कभी विमुख नहीं होता, उसी से पिता वस्तुतः पुत्रवान् और माता वीरप्रसविनी मानी जाती है।—

"अर्थिनां मित्रवर्गस्य विद्विषां च पराङ्मुखम्।
यो न याति पिता तेन पुत्री माता च वीरसूः॥"

—मार्कण्डेय पुराण।

माता को जन्मदा होने के कारण ही तो गौरव मिलता है। इसी प्रकार गुरु के गौरव का कारण है उसका ज्ञान-दान। वास्तव मे, संग्रह नहीं, त्याग ही बड़प्पन का परिचायक है। लोक में कोई धनी सेठ आजतक अमर नहीं माना गया है। दानी-त्यागी ही लोकमान्य और लोकप्रिय हुये

है। किसी धनवान् का बहीखाता नहीं बचा है; दानपत्र तो आजतक सुरक्षित है। इन बातों से दान और दानी का महत्त्व समझा जा सकता है।

३—दान का प्रयोजन

सभ्य समाज में दान की इतनी प्रतिष्ठा क्यों है और उससे सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत जीवन को क्या लाभ पहुँचता है—इस पर भी, संक्षेप में, विचार करना चाहिये।

(क) *दान-परोपकार ईश्वर की पूजा है*:—शास्त्र का वचन है कि बुद्धिमान् प्राणी जिस उपाय से भी जिस किसी प्राणी को प्रसन्न कर दे वही ईश्वर की पूजा है—

"येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
सन्तोषं जनयेत्प्राज्ञः तदेवेश्वरपूजनम्॥"

जनता-जनार्दन की पूजा इसी प्रकार होती है। जनता का एक अंग यदि निर्बल है तो सबल अंग का यह कर्त्तव्य है कि वह उसे सहारा दे। ईश्वरीय व्यापार परस्पर आदान-प्रदान से चलता है। ईश्वर यह चाहता है कि जिसे जो शक्ति मिली है, वह उसका सदुपयोग करे—उससे स्वयं लाभ लेकर दूसरों को भी लाभ पहुँचाये। पेड़ों का फल, नदियों का जल दूसरो के काम आता है। मनुष्य का वैभव भी दूसरों के काम आये—यही ईश्वर की कामना जान पड़ती है। दान-परोपकार से मनुष्य जीवन को सार्थिक बनाता है, लोक के रूप में भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करता है। उसका जीवन संसार के किसी काम आता है। 'परोपकाराय इदं शरीरम्।'

(ख) *दान-परोपकार से सभ्यता का विकास होता है*:—स्वार्थपूर्ण संग्रह की भावना से सभ्यता का निर्माण नहीं होता। सभ्यता का आधार है त्याग-सेवा-परमार्थ। समाज के प्रति प्रत्येक मनुष्य का कुछ कर्त्तव्य है। उस कर्त्तव्य को त्यागकर वह अपना और लोक का कल्याण नहीं कर

सकता। पंडित रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में—"मनुष्य जिस समाज में पैदा हुआ है, उसके गुणों और अवगुणों का एक संकलित पदार्थ है। उसने अपने समाज से भाषा ली, अन्न-वस्त्र लिये, रहन-सहन लिये, समाज में प्रचलित कार्यों के ज्ञान प्राप्त किये और जीवन-निर्माण की सड़क ली। अनेक व्यक्तियों के सम्मिलित सहयोग से उसका जीवन बना हुआ है; इससे उसे उनका कृतज्ञ होना चाहिये और शरीर रहते-रहते उनके उपकारों के ऋण से उऋण हो लेना चाहिये। दूसरों की सेवा करना परमार्थ नहीं, विशुद्ध स्वार्थ का काम है।"

मनुष्य को किसी भी उपयोगी वस्तु का अनावश्यक संग्रह करने का अधिकार नहीं है। भागवत में नारद ने कहा है कि जितने से अपना पेट भरता हो उतने में ही प्रत्येक व्यक्ति का स्वत्व है, जो उससे अधिक संचय करता है वह चोर और दंडनीय है।—

"यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥"

अर्थ को दान के रूप में धर्म-संयुक्त करने से वह व्यर्थ नहीं होता—उससे लोक-कल्याण होता है, सामाजिक विषमता दूर होती है।

(ग) दान-परोपकार से पारस्परिक एकता होती है :—सामाजिक संगठन पर भी दान-परोपकार का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कौटिल्य ने कहा है कि दान के समान वश में करने वाली कोई वस्तु नहीं है—'न दान-समं वश्यम्।' इससे परस्पर आत्मीयता उत्पन्न होती है, नीच-ऊँच का भेद-भाव मिटता है, अहंकार के स्थान पर दया, करुणा, प्रेम की भावनायें बढ़ती हैं। ये सब समाज के संयोजक तत्त्व हैं। दान-परोपकार के पीछे छिपी हुई सहृदयता से सहानुभूति होती है और सहानुभूति से पारस्परिक सहयोग होना स्वाभाविक है।

शतपथब्राह्मण में एक सुन्दर दृष्टान्त है। यज्ञ से प्रजापति को अपने पक्ष में करने के लिये उनके पुत्रगण देवता और असुर दोनों आपस में लड़ने

लगे। असुर बड़े अहंकारी थे। किसी दूसरे की परवाह न करके वे अपने ही मुंह में आहुतियाँ डालने लगे। छीना-झपटी का परिणाम यह हुआ कि उनमें परस्पर अनबन होगई और वे परास्त होगये। देवता लोग स्वयं अपने मुंह में न डालकर एक-दूसरे के मुंह में आहुति-दान करने लगे। उनमें परस्पर प्रेम होगया। प्रजापति उन्हीं की ओर होगये। देवताओं का यज्ञ पूरा होगया।

परोपकार, वास्तव में, एक महायज्ञ है जिससे समाज में एकता, शान्ति और पारस्परिक प्रीति स्थापित होती है। 'परहित-सदृश धर्म नहिं भाई।'—तुलसी। श्रुति का आदेश है कि एक-दूसरे का पोषण करके तुम परम कल्याण को पाओ—'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।'

(घ) *दान-परोपकार से आत्मिक आनन्द मिलता है*:—यह एक विचित्र, किन्तु यथार्थ, बात है कि मनुष्य को स्वयं थोड़ा शारीरिक और आर्थिक कष्ट उठा कर भी दूसरों का कष्ट दूर करने में एक प्रकार का अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। दूसरों को खिला कर खाने में अथवा भूखे रह जाने में भी आत्म-तृप्ति का अनुभव होता है। इसके विपरीत, दूसरों को भूखा रख कर स्वयं अपना पेट भर लेने में आत्मग्लानि होती है। दूसरों को सुखी करने से मनुष्य को हृदय में कृतकृत्यता की जो स्वानुभूति होती है, वह अन्य उपाय से दुर्लभ है। पद्मपुराण में कहा है कि जहाँ सदा अपने मन को ही सुख मिलता है, वह स्वर्ग भी नरक के समान है; अतः साधु-पुरुष सदा दूसरों के सुख से ही सुखी होते है।—

"मनसो यत्सुखं नित्यं स स्वर्गो नरकोपमः।
तस्मात्परसुखेनैव साधवः सुखिनः सदा॥"

—पद्मपुराण।

दान-परोपकार से आत्मा का स्वाभाविक प्रस्फुरण, उसकी सद्वृत्तियों का पोषण होता है। चित्त की प्रसन्नता का संभवतः यही रहस्य है।

(ङ) *दान-परोपकार से आत्मबल बढ़ता है*:—किसी भी प्रकार

के लोकोपकारी कार्य से मनुष्य का आत्मबल दृढ़ होता है और उसकी सहृदयता—सजीवता का परिचय मिलता है। प्रत्येक मानवीय शक्ति सदुपयोग से बढ़ती है और दुरुपयोग से क्षीण होती है। ज्ञान देने से ज्ञान बढ़ता है, मान देने से मान बढता है, सुख देने से सुख बढ़ता है—इसी प्रकार धन देने से धन की वृद्धि होती देखी जाती है। हँसने से हृदय का सुख घटता नहीं, बढ़ता है। सात्विक दान से सचमुच ऐश्वर्य मिलता है, व्यक्तित्व का विकास होता है। दानी और परोपकारी के मनोबल के पीछे कितनों की शुभकामनायें, कितनो का आशीर्वाद और लोकबल रहता है। इसलिये वह क्षीण कैसे होगा ? परमार्थ से तो पुरुषार्थ ही प्रकट होता है। दानवीर को महावीर कहा गया है।

इन बातो से दान-परोपकार की सार्वजनिक उपयोगिता सिद्ध हो जाती है। अब यह प्रश्न है कि सर्वसाधारण द्वारा यह कार्य कैसे हो सकता है ? दान-परोपकार की महत्ता को स्वीकार करते हुये भी सब दानी कैसे हो सकते है ? जिसके पास पर्याप्त धन नहीं है, वह क्या देगा ?

४—परमार्थ के साधन

इन बातों का उत्तर यह है कि केवल धन से ही दान-परोपकार नहीं होता। दान-परोपकार का उद्देश्य तो यह है कि जो वस्तु आपके पास है, उससे दूसरों को लाभ उठाने दीजिये। आपके पास दीपक हो तो उससे दूसरों को भी अपना दीपक जला लेने दीजिये। यदि आपके पास रुपये नहीं है तो अन्य साधन तो हो ही सकते है, जिनसे आप दूसरों की, कष्ट-पीड़ितों की, अपने से दुर्बल प्राणियो की सहायता कर सकते है। परो-पकार के लिये तो लोग हँसते-हँसते अपना शरीर और प्राण दे देते है। इन वस्तुओ की कमी तो किसी जीवित प्राणी को नहीं होगी। आत्म-बलिदान से बढ़कर दूसरा दान कौन होगा ?

दान के बहुत-से साधन है। महाभारत मे लिखा है कि द्रोण जब

अपनी दीनावस्था में परशुराम से कुछ माँगने महेन्द्र पर्वत पर गये तो त्यागी परशुराम ने कहा—मैं तो अपनी सारी सांसारिक विभूतियाँ दान में दे चुका हूँ, अतएव तुम्हें धन देने में असमर्थ हूँ—मेरे पास मेरी विद्या ही शेष है; तुम चाहो तो उसे ले सकते हो। द्रोण ने विद्या-दान लेना स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार देने और लेने की कितनी ही वस्तुयें होती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि आपके पास कर्ण के कवच-कुंडल हों तभी आप दान का साहस करें। कवच-कुंडल न सही, निर्धन को कुरता ही देकर कृतार्थ कीजिये। और कुछ नहीं तो दूसरों को मंगल-कामना दीजिये, आशीर्वाद दीजिये, शुभ सम्मति-सान्त्वना दीजिये, उनके कष्टों की ओर ध्यान दीजिये, भूलो के लिये क्षमा दीजिये और बड़ो को सम्मान ही प्रदान कीजिये। किसी को आप बना-बनाया घर नहीं दे सकते, परन्तु संकट में शरण तो दे ही सकते हैं; पैसे न सही, शक्ति, सहयोग, सहानुभूति, आँसू की दो बूंदें तो दे ही सकते है। और कुछ नहीं तो आप समय पर पत्रोत्तर, नौकर का वेतन और ऋणदाता को उसका रुपया ही सचाई के साथ देकर लोक का बड़ा उपकार कर सकते है। सबसे बड़ा दान तो अभय-दान हैं जो सत्य-अहिंसा का पालन करने से दिया जा सकता है। 'अभयः सर्वभूतानां नास्ति दानमतःपरम्'—पद्मपुराण।

सत्य यह है कि सहस्र रुपयो वाले ने सौ, सौ वाले ने दस, और किसी ने थोड़ा-सा पानी ही दिया तो सब बराबर है—

"सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ॥"

—शान्तिपर्व।

अपने को सर्वथा अयोग्य और असमर्थ नहीं मानना चाहिये। हमारी साधारण वस्तु भी दूसरे के बड़े काम की हो सकती है। जो हमारी दृष्टि में अनावश्यक है, वही अर्थी की दृष्टि में परमावश्यक हो सकती है। सात्विक दान की सभी वस्तुयें अमूल्य हो जाती है। केवल दुर्बल दधीचि

की हड्डियों से इन्द्र का वज्र बन गया था। दान में पुण्य भी समाया रहता है। वह प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक कार्य को दिव्य बना देता है।

मनुष्य के स्वभाव में उदारता हो तो वह निर्धन होकर भी दूसरों का हित-साधक बन सकता है। त्यागी महात्माओं ने क्या संसार को किसी से कम दान दिया है? गरीब तुलसीदास ने आकुल-व्याकुल भारतीय समाज को रामचरितमानस प्रदान करके क्या कम लोकोपकार किया है? अल्प-साधनों से जो बड़ा काम करते हैं, उन्हीं की प्रशंसा होती है। व्यास के कथनानुसार, जो शक्ति-सामर्थ्य से अधिक दान देते रहते हैं ऐसे सज्जन ही श्रेष्ठ पुरुषों में सम्मानित होते हैं—'अतिशक्त्या प्रयच्छन्ति सन्तः सद्भिः समागताः'—महाभारत। दीनो के दान की महिमा कम नहीं है।

दान-परोपकार के लिये प्रत्येक व्यक्ति समर्थ हो सकता है और उसे होना भी चाहिये। इसी में जीवन की शोभा है। दीनता का बहाना करके परमार्थ से मुँह मोड़ना कायरता है।

५—परमार्थ की सिद्धि

(क) दान–परोपकार–विषयक कुछ अन्य बातों का निर्देश करके हम इस प्रसंग को समाप्त करेंगे। पहली बात तो यह है कि किसी भी प्रकार का स्वार्थ परमार्थ को निष्फल बना देता है। कर्त्तव्यबुद्धि से किया हुआ उपकार ही सफल होता है। सरकार या किसी संस्था का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये चन्दा देना या दौड़-धूप करना, नाम कमाने के लिये दिखावटी दान-पुण्य करना अथवा आतंकित होकर देना परमार्थ नहीं कहा जायगा। ऐसे लोगो को जो स्वार्थसिद्धि के लिए थोड़ा-बहुत दान-परोपकार करते हैं, दानी-पुण्यात्मा नहीं, धर्मवैतंसिक कहा जाता है। वे तो धर्म का व्यवसाय करते हैं, धर्म के नाम से कमाते हैं, पुण्य का पर्दा टाँग कर पाप करते हैं। पैसे लेकर आशीर्वाद देने वाले महंथ-पुजारी दानी नहीं कहे जा सकते। सभ्य-समाज की दृष्टि में वे पाखंडी होते हैं।

किसी से प्रत्युपकार की आशा से उपकार करना भी श्रेयस्कर नही

माना जाता। पुराण का मत है कि जो निष्काम भाव से किसी का उपकार करता है, वही साधु कहलाता है ; जो किसी वस्तु की इच्छा से उपकार करता है, उसकी साधुता में कौन गुण है—वह निरर्थक है—

"उपकुर्यान्निराकाङ्क्षो यः स साधुरितीर्यते।
साकांक्षमुपकुर्याद्यः साधुत्वे तस्य को गुणः ॥"

—स्कन्दपुराण।

(ख) अनावश्यक या अनुपयोगी वस्तुओं से अपना पिंड छुड़ाने के लिए दान देना भी व्यर्थ होता है। पुराणो में वाजिश्रवा नामक एक ऋषि की कथा है। उनके पास बहुत-सी गायें थी। जबतक वे दूध देती रहीं वाजिश्रवा दूध से पुष्ट होते रहे और उनका पालन भी श्रमपूर्वक करते रहे। बूढी होने पर वे ऋषि के लिये भार-स्वरूप होगई। ऋषि ने एक तरकीब निकाली। उन्होने चेलों से घोषणा करवा दी कि अमुक तिथि को महात्मा जी गोदान करेंगे। उस तिथि को बहुत-से ब्राह्मण मंगलोच्चार करते हुये ऋषि के आश्रम पर पधारे। ऋषि ने सबको एक-एक गाय प्रदान करके अपनी उदारता का विज्ञापन किया। ब्राह्मण लोग अपनी-अपनी गाये लेकर चले गये। ऋषि को उस दिन बड़ा सन्तोष हुआ क्योंकि एक तो सिर से बला टली, दूसरे दानियो में नाम हुआ। 'मरी बछिया बाम्हन के नाम' इसीको कहते हैं। इस प्रकार के परोपकार से न तो दूसरों का कल्याण होता है और न सुयश ही मिलता है। वाजिश्रवा की गायें याचको के किस काम आई होगी ? लेने वालो ने उसे परोपकारी नही, उलटे धूर्त ही समझा होगा।

परमार्थ के काम में अपनी सुविधा की अपेक्षा दूसरे की सुविधा का विशेष ध्यान रक्खा जाना चाहिये। जिसे जिस प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो, उसे यथाशक्ति उसी प्रकार की सहायता देना सच्चा परोपकार है। गंजे को कंघी देने में क्या लाभ ? दान से मुख्यतः दूसरों की कामना-पूर्ति होनी चाहिये। भगवान् कृष्ण ने कहा है—

"दरिद्रान् भर कौन्तेय, मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधम् ।।"

आजकल तो लोग कन्या-दान भी उचित रीति से नहीं करते। कन्या-दान के नाम से वे वस्तुतः अपने घर का बोझ उतारते हैं। यह नीति अपने लिये और समाज के लिये भी अहितकर है।

(ग) समय पर सदुद्देश्य के साथ सुपात्र को दिया हुआ सात्त्विक दान वरदान हो जाता है। समय का ध्यान इसलिये रखना चाहिये कि 'का वर्षा जब कृषि सुखाने।' जिसे आज अपना शरीर ढँकने के लिये कपड़ा चाहिये, उसे आप यह आश्वासन देकर सन्तुष्ट नहीं कर सकते कि मरने पर हम तुम्हें कफन देंगे। किसी के लिये मरने पर गोदान देने से यह अच्छा है कि उसे जीते-जी गाय दी जाय जिससे वह उसका उपयोग भी कर सके। अंगरेजी में यह कहावत है—Liberality does not consist in giving much, but in giving at the right moment. इसका अर्थ यह है कि बहुत अधिक देने से उदारता सिद्ध नहीं होती; आवश्यकता के समय सहायता देना ही उदारता है।

सदुद्देश्य का ध्यान इसलिये आवश्यक है कि दान से पापों की वृद्धि नहीं होनी चाहिये। उससे यदि कोई अनुचित कार्य होता है तो वरदान अपने लिये ही शाप हो जाता है। जिससे अधिकाधिक लोगों का अधिकाधिक हित हो, वही श्रेष्ठ दान है।

सुपात्र का ध्यान रखना परमावश्यक है। जिस प्रकार वर्षा का प्रभाव समुद्र में नहीं, ताल-तलैयों और खेतो में ही देखा जाता है, उसी प्रकार दान का प्रभाव दीनों मे। समर्थ दुर्जनों को दान देना वैसा ही है जैसे डाकू को अपना हथियार देना। लोभी तो सदा दीन ही बना रहता है; उसे सुपात्र मानने से भूल हो सकती है। सुपात्र वह है जो शारीरिक, आर्थिक अथवा सामाजिक दुर्बलताओं के कारण असमर्थ हो, पतित हो, बन्धनग्रस्त हो। उसीको शक्ति प्रदान करना, उठाना, मुक्त बनाना परोपकार कहा जायगा। निर्बल, अनाथ और रोगी दान के पात्र होते हैं।

ऐसे व्यक्तियों को सत्प्रयोजन से शुद्ध पैसों की सहायता देनी चाहिये। शुद्ध पैसों का अर्थ है अपनी न्यायोपार्जित कमाई। ऐसी कमाई को लोकोपयोगी कामों में लगाना सच्चा दान है। किसी दशा में अपना रोग-दोष नहीं बाँटना चाहिये। उन्हें तो न देना ही परोपकार है। धोखा देने या गाली देने से तो अपना और लोक का अपकार ही होता है।

(घ) सात्त्विक दान सहज भाव से सम्मानपूर्वक दिया जाता है। माँगने पर तिरस्कार के साथ देने से उसकी महिमा घट जाती है। उसका उद्देश्य दूसरों को ऊंचा उठाना है, अतएव किसी को नीचा या पतित बनाकर कुछ देना या कुछ सहायता करना अनुचित है। स्वेच्छापूर्वक सत्कार के साथ देने से साधारण वस्तु भी असाधारण बन जाती है। मान का पान भी हीरे के समान होता है। गुप्त दान का महत्त्व इसीलिए है कि उससे लेने वाले को अपमानित नहीं होना पड़ता और दाता का अहंकार नहीं प्रकट होता। अहंकार से पुण्य नष्ट हो जाता है।

शास्त्र में सत्पुरुष के ये लक्षण बताये गये हैं—उदार होकर प्रियवक्ता हो, शूर होकर जल्पक न हो, दाता होकर अपात्र पर धन-वर्षा न करे, निष्ठुर हुये बिना प्रगल्भ होना चाहिये।—

"प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः।
दाता नापात्रवर्षी च प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः॥"

—हितोपदेश।

इन बातों को ध्यान में रखकर प्रत्येक व्यक्ति को लोक-सेवा, दान, परोपकार में प्रवृत्त होना चाहिये। इसीमें जीवन की सार्थकता है। रहीम के शब्दों में—

"तबहीं लगि जीबो भलो, दीबो परै न धीम।
बिन दीबो जीबो जगत, हमहिं न रुचै रहीम॥"

लोकहित के लिये स्वार्थ-त्याग—यही हमारी सभ्यता का सनातन

आदर्श है। यही तपस्या है। यही सर्वोदय का मूल-मंत्र है। और यही अमरता का महायज्ञ है। 'अंगराज' के शब्दों में—

"परहित करना आत्म-त्याग—है
आर्य-जनों की रीति सनातन।
इस नश्वर जग में मर कर भी,
रहते अमर इसीविध सज्जन॥"

: ७ :

विनय-नम्रता-सुशीलता

१—एक संवाद

महाभारत के शान्ति पर्व में सागर और सरिताओं का एक सुन्दर संवाद वर्णित है। समुद्र ने नदियो से पूछा—तुम लोग बड़े-बड़े वृक्षों को तो प्रतिदिन बहाकर लाती हो, परन्तु अपने तट पर उत्पन्न होने वाले बेंत को कभी नहीं लाती, इसका क्या रहस्य है ? जान पड़ता है, तुम लोग या तो उसे तुच्छ समझकर उसकी अवहेलना करती हो अथवा उसके किसी उपकार का ध्यान करके उसपर कृपा रखती हो !

नदियों की ओर से गंगा ने उत्तर दिया—देव, हम लोग उन्हीं वृक्षों को उखाड़ती है जो हमारे तट पर हमारे ही जल से पोषित होकर हमारे सामने अकड़े खड़े रहते है। वर्षाऋतु में भी वे हमारे वेग के सामने नत नहीं होते, अतएव हम बलपूर्वक उन्हे निर्मूल कर देती है। बेंत ऐसा नहीं करता; वह हमारे प्रवाह के आगे झुककर हमारा सम्मान करता है। अपनी विनम्रता से हमें प्रसन्न करके वह हमारी सम्पत्ति का उपभोग करता है। हम सब उसकी रक्षा करती हैं।

२—एक उपदेश

एक प्राचीन चीनी महात्मा ने मृत्यु-पूर्व अपने शिष्य से कहा—देखो, मेरी जीभ मुंह के भीतर है कि नहीं ?

शिष्य ने देखकर उत्तर दिया—हाँ, है।

महात्मा ने पुनः पूछा—अब अच्छी तरह देखकर यह बताओ कि मेरे मुँह में दाँत भी है कि नहीं ?

शिष्य ने कहा—दाँत तो एक भी नहीं रह गया है।

महात्मा ने दुबारा प्रश्न किया—क्या तुम बता सकते हो कि जीभ अभी तक क्यों अपने स्थान पर ज्यों-की-त्यों बनी है और दाँत उखड़ गये ?

शिष्य ने कहा—नहीं।

तब महात्मा ने उसे समझाया—जीभ सरस और सुकोमल होती है, इसलिये वह अधिक दिन ठहरती है; दाँत कठोर एवं क्रूर होते हैं, इसलिये शीघ्र ही टूट जाते हैं, उनका अस्तित्व मिट जाता है।

३—यत्सारभूतं तदुपासनीयम्

विनय, नम्रता, सुशीलता का प्रभाव प्रमाणित करने के लिये इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। बड़े-बड़े पेड़ आँधी के झोंके से टूट जाते हैं, परन्तु कोमल तृण अपने स्थान पर खड़े लहलहाते रहते हैं। पशुओं द्वारा चरे जाने पर भी वे समय पाकर फिर बढ़ जाते हैं।

संसार में भी यही देखा जाता है कि जो लोग दूसरो से दंडवत् कराने के लिये उद्दंड बने रहते हैं, उन्हें बाद में स्वयं दंडवत् करना अथवा दंड भोगना पड़ता है। कट्टरता से न तो लोक-प्रतिष्ठा मिलती है, न सफलता और न सुख-शान्ति। लोक-जीवन की विभूतियां विनय, नम्रता और सुशीलता से ही सुलभ होती हैं। सुनीति ने अपने सुपुत्र ध्रुव को सुनीति का उपदेश देते हुये सत्य ही कहा था कि तू सुशील, धर्मात्मा, सब का मित्र और प्राणिमात्र का हितैषी बन क्योंकि जिस प्रकार जल स्वभावतः नीचे भूमि की ओर ढलकता हुआ पात्र में आ जाता है, वैसे ही लोक-सम्पत्तियाँ सत्पात्र मनुष्य के पास स्वतः आ जाती हैं—

"सुशीलो भव धर्मात्मा मैत्रः प्राणिहिते रतः।
निम्नं यथापः प्रवणाः पात्रमायान्ति सम्पदः ॥"

—विष्णुपुराण।

सपात्रता—सज्जनता विनय से ही मिलती है—'विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ।' शास्त्र के अनुसार विद्वान् भी विनयी होने से ही सत्पात्र माना जाता है। विनयी, सुशील और विनम्र होने से ही मनुष्य सभ्य पुरुष कहलाता है। इन्हीं सद्गुणों से संसार में बड़प्पन मिलता है। विनय-स्तुति से मनुष्य क्या देवता तक वश में हो जाते हैं—'स्तुता अपि देवतास्तुष्यन्ति'—कौटिल्य। वेद में कहा है कि "नमस्कार सबसे बड़ी वस्तु है, इसलिये मैं वेदों को नमस्कार करता हूँ; देवता लोग नमस्कार के वशीभूत हैं; इसलिये मैं नमस्कार-द्वारा किये हुये पापों का प्रायश्चित्त करता हूँ—

"नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम् ।
नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे ॥"

—ऋग्वेद (६।५१।८)

स्तुति-वन्दना विनय के ही अंग हैं। विनय से सचमुच भगवान् भी भक्तों के वश में हो जाते हैं और विनयी की महिमा बढ़ जाती है— 'एक तेरे सामने ही सिर झुका, सिर सभी के सामने ऊँचा रहा'—हरिऔध। सन्त कबीर ने कहा है—'घालि तराजू तौलिये नवै सो भारी होय।' अर्थात्, तराजू पर रखकर तोलने पर जो नीचे झुकता है, वही भारी माना जाता है। विनय-नम्रता का यही फल है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि विनय या नम्रता सुशीलता से भिन्न नहीं है। व्यापक अर्थ में शास्त्रीय नियमों के अनुरूप आचरण को विनय कहते हैं। शास्त्र शील-सदाचार से ही सफल होता है—'शीलवृत्तफलं श्रुतम् ।' मृदुता, सहिष्णुता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, सौम्यता, प्रेम, विनय, करुणा, उदारता, प्रशान्ति और दम्भहीनता आदि सद्गुण शील-सदाचार के ही लक्षण हैं। इन्हीं के द्वारा मनुष्य की शिष्टता प्रकट होती है और शिष्टता ही सज्जन की विशिष्टता है। 'शीलं हि सर्वस्य नरस्य भूषणम् ।' हिन्दी में एक कहावत भी है कि शील के बिना डील बेकार है। व्यासजी ने

शीलशाली को सर्वविजयी कहा है—'सर्वं शीलवता जितम्'—महाभारत। कौटिल्य का भी मत है कि शील-सौजन्य ही शत्रु पर विजय कराता है—'शत्रुं जयति सुवृत्तता।' एक फ़ारसी कवि ने विनयी या सुशील को ही भाग्यवान् कहा है और दुर्विनीत, अशिष्ट को भाग्यहीन—'बाअदव बा-नसीब; बेअदब बेनसीब।' वास्तव में विनयी, सदाचारी ही सर्वप्रिय और सर्वमान्य होता है। सुप्रसिद्ध नीतिकार भर्तृहरि ने बड़े सुन्दर ढंग से कहा है कि जो नम्रता से ऊँचे होते हैं, पराये गुण कहकर अपने गुण प्रसिद्ध कर लेते हैं, परोपकार में दत्तचित्त होकर अपना भी हित कर लेते हैं, निन्दक दुर्जनों को अपनी क्षमा से ही दूषित कर देते हैं—ऐसे विचित्र चरित्रवाले सज्जनगण संसार में किसके पूजनीय नहीं हैं?—

"नम्रत्वेनोन्नमन्तः परगुणकथनैः स्वान्गुणान् ख्यापयन्तः,
स्वार्थान्सम्पादयन्तो विततप्रियतरारंभयत्नाः परार्थे।
क्षान्त्यैवाक्षेपरूक्षाक्षरमुखरमुखान्दुर्मुखान् दूषयन्तः,
सन्तः साश्चर्यचर्या जगति बहुमताः कस्य नाभ्यर्चनीयाः॥"
—नीतिशतक।

४—सज्जनता का विकास

सुजनता से जनता की सभ्यता और स्वतंत्रता का विकास होता है। सुप्रसिद्ध भारतीय विद्वान् श्री राधाकृष्णन् ने अपने एक भाषण में कहा था कि 'व्यक्तिगत और सामाजिक अनुशासन के विना स्वतंत्रता एक सुनहला स्वप्न-मात्र है।' विनय के विना अनुशासन असंभव है। उसके विना पारस्परिक एकता कैसे होगी? गले से गला मिलाने के लिये दोनों ओर से झुकना आवश्यक है। अहंकार से लोकशक्ति का संगठन नहीं हो सकता। क्रूरता से क्रूरता बढ़ती है और सहृदयता से सहृदयता—यह लोक का निश्चित नियम है।

संसार में सभी चाहते हैं कि दूसरे उनके प्रति विनयी हों, नम्र हों, सुशील—शिष्टाचारी हों; अतएव यह उचित है कि सभी परस्पर विनयी,

नम्र और सुशील हो । पारस्परिक सद्भाव इसीप्रकार हो सकता है । व्यास ने कहा है कि मनुष्य अपने लिये अन्य व्यक्तियों के द्वारा जिस कार्य का किया जाना नहीं चाहता, दूसरो के लिये उसे स्वयं भी वैसा कार्य नही करना चाहिये—

"यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥"—महाभारत ।

यही सज्जनों का सनातन धर्म है । शास्त्र का आदेश है कि प्रत्येक मनुष्य सज्जनो के मार्ग से चले और श्रेष्ठ पुरुषो के समान आचरण करे—'सतां धर्मेण वर्तेत क्रियां शिष्टवदाचरेत्'—महाभारत । शिष्टाचार से सौजन्य का विकास होता है । सौजन्य सी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् है । इसके द्वारा मनुष्य दूसरो के हृदय को जीत लेता है और हृदय को जीत लेने से उनका सर्वस्व प्राप्त कर लेता है । दूसरों को अपने वश में करने का यह सरल, मृदु और अमोघ उपाय है ।—"जौ बांधे ही तोषु, तौ बाँधौ अपने गुननि"—बिहारी । विनय-नम्रता और सुशीलता से जो कार्य हो सकता है, वह बड़ी-बड़ी सेनाओं से भी असाध्य है । हमारे समय में ही गांधीजी इसको अपने चरित्र से प्रमाणित कर चुके है । सार्वजनिक जीवन को सरल, सुव्यवस्थित एवं सुरक्षित बनाने के लिये विनय, नम्रता और सुशीलता का आश्रय लेना आवश्यक है ।

५—शील-विप्लव का दुष्परिणाम

आजकल सामाजिक जीवन में जो उच्छृङ्खलता, कर्कशता और नीचता देखने को मिलती है उसका एक कारण सर्वसाधारण में शील-विनय का अभाव है । व्यक्तिगत और सामाजिक अनुशासन ढीला पड़ गया है । निर्धन, नौकर और स्वार्थी लोग अवश्य ही विनय का अभिनय करते है, परन्तु स्वेच्छा से साधारणतया कोई किसी के अनुशासन में नहीं रहना चाहता । थोड़ा-बहुत समर्थ होते ही लोग सर्वप्रथम शील-विनय का ही परित्याग करते हैं । शिक्षित होकर शिष्ट, विनीत होना तो दूर रहा,

प्रायः लोग अपने गुरु का अपमान करने में ही अपना गौरव समझते है। छोटा-मोटा पद पाकर भी लोग ऐंठने लगते है, रोब दिखाने के लिये बेचैन हो जाते है। दूसरों की पगड़ी उछालने मे ही बहुत-से लोग अपनी तारीफ़ समझते है। आज से बहुत-बहुत पहले त्रिकालज्ञ मनीषियो ने इस युग के जो लक्षण लिखे थे वे सार्वजनिक जीवन मे स्पष्ट देखने को मिलते है। उदाहरणार्थ—'अभयप्रागल्भोच्चारणमेव पांडित्यहेतुः'—विष्णु-पुराण;—निर्भय होकर धृष्टतापूर्वक बोलना ही पांडित्य का हेतु होगा। वाग्दुष्टता और अधोपहास के उदाहरण देने की आवश्यकता नही है। ईंट का जवाब पत्थर से देना आजकल की साधारण प्रथा है। दुर्विनीतता को लोग शूरता और विनम्रता को कायरता मानते है।

आजकल 'विनु भय होय न प्रीति' की रीति बहु-प्रचलित है। लोग एक-दूसरे को आशंकित करके अपने वश मे करना चाहते है। बड़ो का विरोध करके अपना काम निकालना सहज समझा जाता है। अध्यात्म-रामायण के अनुसार रावण ने भी इसी नीति का अनुसरण किया था। शूर्पणखा के मुख से राम की महिमा सुनकर उसने निश्चय किया कि मैं विरोध-बुद्धि से ही उनके पास जाऊँगा क्योकि भक्ति के द्वारा भगवान् शीघ्र प्रसन्न नही होते—

"विरोधबुद्ध्यैव हरिं प्रयामि, द्रुतं न भक्त्या भगवान् प्रसीदेत्।"
—अध्यात्म रामायण।

ध्यान से देखिये तो इस समय कितने ही प्रकार के वाममार्गी मिलेंगे जो कुतर्क, वाक्पारुष्य और कुचेष्टा द्वारा बड़े-बड़ो को अपनी ओर आकर्षित करते है। राजनीति के क्षेत्र में तो यही हो रहा है। लोग मार-मार कर मनाना चाहते है; स्वयं नंगे, निर्लज्ज बनकर सभ्य पुरुषो को लज्जित करना चाहते है। प्रायः लोग दूसरो का तिरस्कार करके उनसे स्वयं सत्कार पाने की आशा करते है और उछल-कूद मचाकर पा भी जाते है।

शील-विनय के उल्लंघन का जो परिणाम होना चाहिये, वह प्रत्यक्ष

है। स्वतन्त्रता के स्थान पर स्वच्छन्दता की वृद्धि हो रही है और शान्ति के स्थान पर अशान्ति की। लोग आपे से बाहर होकर अपनी ही नहीं कुल और समाज की मर्यादा का भी खंडन कर रहे हैं। चारों ओर असभ्यता, असन्तोष और असहनशीलता का वातावरण मिलता है। क्या इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि सामाजिक जीवन को मर्यादित एवं सुसंस्कृत बनाने के लिये सर्वसाधारण में विनय, नम्रता और सुशीलता की भावना का संचार करना परम आवश्यक है। इसके अभाव के कारण ही तो परस्पर दुर्भाव बढ़ रहा है। शिष्टता के अभाव में धृष्टता बढती ही है और धृष्टता से नैतिक भ्रष्टता।

६—सज्जनता का ढोंग

सज्जनता का ह्रास एक प्रकार से और हो रहा है। उसपर भी ध्यान दीजिये। वास्तव में, शिष्टाचार का परित्याग लोग इसलिये नहीं करते कि वह अनावश्यक है। उसकी आवश्यकता का अनुभव सब करते हैं, किन्तु उसका पालन सहज नहीं है। सहज होता तो संसार में अशिष्टों की संख्या अधिक न होती। इसको कठिन किन्तु आवश्यक जानकर बहुत-से शिक्षित लोग कृत्रिम सज्जनता के विज्ञापन से अपना काम निकालते हैं। शिष्टता का पाखंड आधुनिक सभ्यता का एक अंग बन गया है। बहुत-से लोग भय, स्वार्थ या असमर्थता के कारण ऊपर से सभ्यता का ढोंग करते हैं। इनके कुछ उदाहरण देना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

(क) आजकल एक प्रकार के 'सभ्य' वे हैं जो अपने अधिकारी या अपने से बलवान् के आगे भीगी बिल्ली बने रहते हैं, किन्तु निर्बलों के आगे शेर हो जाते हैं। समाज के भय से ऐसे लोग बाहर सभ्यतापूर्ण आचरण करते हैं, परन्तु घर के भीतर 'ठोकर लगी पहाड़ को, फोड़ै घर की सिल' के चरितनायक बन जाते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के लोग वे हैं जो अपनी आत्मदुर्बलता के कारण ठंडे पड़े रहते हैं और सबके सामने आत्म-समर्पण कर देते हैं। ऐसे

व्यक्तियों की कमी नहीं है जो परिस्थितियों से विवश होकर, निर्धनता या शक्तिहीनता के कारण नम्र, सुशील प्रतीत होते हैं। एक नीतिकार के शब्दों में—

"अशक्तः सततं साधुः, कुरूपा च पतिव्रता।
व्याधितो देवभक्तश्च, निर्धना ब्रह्मचारिणः॥"

थोड़ा-बहुत समर्थ होते ही ऐसे लोग कबीर की इस उक्ति को चरितार्थ करने लगते हैं—

"हम जाना तुम मगन हो, रहे प्रेम-रस पागि।
रंच पवन के लागते, उठे नाग से जागि॥"

(ग) तीसरे प्रकार के कृत्रिम शिष्ट वे हैं जो स्वार्थ-सिद्धि के लिये दूसरों की चाटुकारिता करते हैं, ऊपरी भक्ति दिखाते हैं और बाह्य आडम्बर—दिखावटी व्यवहार से उन्हें मुग्ध बनाते हैं। पद, वेतन, पुरस्कार के लोभ से अथवा किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये लोग सौजन्य का मिथ्या विज्ञापन करते हैं। उनकी बनावटी शिष्टता में उनकी धूर्तता छिपी रहती है—'मैत्री में विश्वासघात है, छल है छिपा विनय में—पथिक। आजकल के कालनेमिगोत्रीय अवसरवादी बड़े शौक से बड़े लोगों को, मुख्यतः सरकारी अधिकारियो को, प्रीति-भोज देते है या चाय पिलाते हैं। ऊपर से तो वे बड़ा चाव प्रदर्शित करते हैं, लेकिन उनके हृदय को टटोलिये तो पता चलेगा कि उनका प्रीति-भोज वास्तव में स्वार्थ-भोज है और उनकी चाय वास्तव में उनकी चाह होती है। अपने सम्मान्य अतिथि के प्रति वे ऊपर से बड़ा सद्भाव दिखाते हैं, अपना सब-कुछ उसके लिये न्योछावर करने की कामना व्यक्त करते हैं, परन्तु उनके मन की बात सुनिये। उनका मन भीतर-ही-भीतर इस प्रकार बोलता हुआ मिलेगा—अतिथि देव, दानव की तरह खाइये—जी भरकर खाइये, भोग लगाकर मुझे आपसे वांछित वरदान लेना है; आप मेरे कामना-तरु हैं—आपको हरा-भरा बनाकर मुझे आपसे फल लेना है, आपकी

शुष्कता मिटाना है, आपसे शीघ्र ही नमक अदा कराना है; भोक्ताजी, मैं आपका पेट भारी बनाकर आपके विवेक को नष्ट करना चाहता हूँ, आपको कर्त्तव्य-भ्रष्ट बनाना चाहता हूँ, आपको उल्लू बनाये बिना मेरा काम नहीं चलता; मैं आपको भेंट नहीं दे रहा हूँ, आपका ईमान खरीद-कर उसका दाम दे रहा हूँ; यह आपकी नहीं, आपकी कुर्सी और कलम की पूजा है।

अफसरों को इसी उद्देश्य से दावत दी जाती है। इसे आप दावत कहेंगे या अदावत? यह विनय है या अनय? इसका निर्णय स्वयं कीजिये।

(घ) चौथे प्रकार के कृत्रिम विनयी वे है जो बात-चीत से बड़े उदार और निस्पृह प्रकट होते है लेकिन व्यवहार से कपटी। वे किसी वस्तु को लेने की इच्छा नहीं प्रकट करते, उसे लिये बिना छोड़ते भी नहीं। यही आज-कल का व्यावहारिक चातुर्य है। उन्हे शरबत या शराब पीने को दीजिये तो वे 'जी नहीं, जी नहीं' कहकर अपनी सुशीलता प्रकट करेंगे और फिर यह कहकर कि अच्छा लाइये, आपकी बात कैसे टाली जाय, उसे अवश्य पी जायँगे।—"Tact is the art of refusing a drink without depriving thyself of it." किसी की वस्तु को लेते समय ऐसा भाव प्रकट करना कि आप ही उसका उपकार कर रहे हैं—यह भी आजकल का व्यावहारिक चातुर्य है—"Tact is the art of receiving as if you were giving it." तात्पर्य यह है कि नम्र बनकर लूटो—ऐसा लूटो कि लुटने वाले को उस समय बुरा न लगे—यही आधुनिक शील-सौजन्य है।

मिथ्या शिष्टाचार के इतने ही उदाहरण पर्य्याप्त है। इस प्रकार के छल-कपटपूर्ण व्यवहार से सद्भावनाओं और सद्गुणो का विकास नहीं होता। ऊपर से यह चाहे जितना आकर्षक और सरस हो, इसके मूल में हिंसा, स्वार्थ-सिद्धि, शठता और वंचकता की भावनाये रहती हैं और वही फलती-फूलती है। ढोंग से ढोंग ही बढ़ता है। सद्व्यवहार के नाम से दुर्व्यवहार और सज्जनता के नाम से दुर्जनता का प्रचार हो रहा

है। इसको शिष्टाचार नहीं कहा जा सकता। यह दुष्टाचार या भ्रष्टाचार है।

७—शिष्टाचार की कुछ उपयोगी बातें

शिष्टाचार केवल शब्दों से और ऊपरी व्यवहार से सफल नहीं होता। उसका अधिक सम्बन्ध हृदय से है। व्यावहारिक सरलता एवं सरसता के लिये आन्तरिक सरलता और सरसता चाहिये। प्रकृति की शुद्धता से कृति में भी शुद्धता आजाती है। भीतर सद्भावना न होने से बाहर उसका प्रकाश नहीं फैल सकता। अतएव सर्वप्रथम अन्तर से शिष्ट-विशिष्ट होना आवश्यक है। सच्चे सौजन्य की सिद्धि के लिये जिन स्वाभाविक सद्गुणो की आवश्यकता होती है, उनमे से कुछ का निर्देश यहाँ किया जाता है।

(क) *आत्मशासन* :—जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है शिष्ट-व्यवहार के लिये आत्मशासन की आवश्यकता होती है। महात्मा गांधी ने एक बार कहा था कि 'मन मे जो आवेश आवे उसीके वशीभूत हो जाना हमें पश्चिमी सभ्यता सिखा रही है।' हमारी सभ्यता मन को सुसंयत करके मर्यादित आचरण करने का पाठ पढ़ाती है। मर्यादा-पुरुषोत्तम राम ने इन्द्रिय-दमन को ही विनय माना है। यही आत्मशासन है। यही कर्त्तव्य और यही धर्म है। स्वार्थ, प्रमाद को त्यागकर लोक-मर्यादा के अनुकूल आचरण करने से शिष्टाचार सफल होता है। व्यास के मत से—जिन का धर्म निश्चित होता है, वे महात्मा शिष्टाचारी होते है—'शिष्टाचारा महात्मानो येषां धर्मः सुनिश्चितः'—वनपर्व। और जो धर्म के अनुसार चलते है वे नित्य शिष्टाचारी होते है—'शिष्टाचारं निषेवन्ते नित्यं धर्ममनुव्रताः'—वनपर्व।

जितेन्द्रिय कर्त्तव्य-परायण ही विनयी, सुशील हो सकते है क्योकि वे आत्म-नियंत्रण में समर्थ होते है। असयमी और प्रमादी तो मर्यादा का अतिक्रमण करते ही है। प्रत्येक अवस्था मे औचित्य का ध्यान रखना

सच्चा आत्मशासन है। इसका हम एक सुन्दर उदाहरण देते हैं। रघुवंश में महाकवि कालिदास ने लिखा है कि सीता-स्वयंवर के बाद परशुराम का धनुष चढ़ाकर राम ने 'क्षमा करो' ऐसा कहते हुये उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया क्योंकि पराक्रम से जीते हुये विरोधियो में नम्र होना तेजस्वियो की कीर्ति बढ़ाने वाला होता है।—

"राघवोऽपि चरणौ तपोनिधेः क्षम्यतामिति वदन्समस्पृशत्।
निर्जितेषु तरसा तरस्विनां शत्रुषु प्रणतिरेव कीर्तये॥"
—रघुवंश।

इसी को आत्मशासन कहते हैं। साधारण व्यक्ति तो उत्तेजितावस्था में आपे से बाहर होकर कर्त्तव्यच्युत हो जाता है। 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं'—तुलसी। ऐसे ही अवसरों पर शिष्टाचार की रक्षा के लिये संयम की आवश्यकता होती है।

(ख) *अहंकार का परित्याग*:—अहंकार एक ऐसा दुर्गुण है जिससे शील-सौजन्य नष्ट हो जाता है। मन में अहंकार रहने पर मनुष्य दूसरों के सिर पर सवार हो जाना चाहता है। ऐसी दशा में वह दूसरो के साथ सद्व्यवहार कैसे करेगा? अहंकारी तो अपने अतिरिक्त किसी को कुछ समझता ही नही। वह दूसरो का अनादर करने पर ही उतारू रहता है। ममता और क्रोध के आवेश में उसे भला-बुरा कुछ नहीं सूझता। प्रायः छोटी-छोटी बातों से भड़ककर वह उग्र रूप धारण कर लेता है। इसका परित्याग करके ही मनुष्य शिष्टाचारी हो सकता है।

अहंकार त्यागने का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने को दूसरों से श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान् और दूसरों को अपने से तुच्छ एवं मूर्ख समझकर उन्हें अपमानित न करे; अधिकारी तथा धन-सम्पन्न होकर भी स्वामित्व का गर्व न प्रदर्शित करे; अल्पज्ञ होकर ज्ञानदुर्विदग्ध न बने; छोटे मुँह बड़ी बात न करे और बड़प्पन का मोह त्याग दे। किसी को यह न सोचना चाहिये कि जो-कुछ वह करता है वही ठीक है। प्रत्येक को यह मानना चाहिये

कि भूलें उससे भी होती हैं। किसी की साधारण आलोचना को अपने व्यक्तित्व पर आक्रमण नहीं मानना चाहिये। आलोचना से लाभ लेकर अपने दोषों को सुधारना चाहिये। छोटे-से-छोटे व्यक्ति का उपहास नहीं करना चाहिये और आवश्यकता पड़ने पर सत्कार्य की सिद्धि के लिये उसी प्रकार झुक जाना चाहिये जैसे सुरसा के सामने 'मसक-समान रूप कपि धरी'—मानस। दुराग्रह और दुस्साहस से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। इनसे अभद्रता तो प्रकट होती ही है, आत्म-पराभव भी होता है।

प्रमाद प्रायः पद, पैसा, प्रभुत्व से पैदा होता है। अतएव इन्हे पाकर अधिक सावधान रहना चाहिये। इन बाहरी साधनों के बल पर दूसरों का तिरस्कार करना वास्तव में अपनी मनुष्यता का तिरस्कार है। इस देहाती कहावत को याद रखना चाहिये—'लाल लूगा फाटि जाई; चमकल छूटि जाई।' अर्थात्, जिस लाल धोती को पहनकर तुम इतरा रही हो, वह फट जायगी तो घमंड भी चूर हो जायगा। यदि आप दान-समर्थ हैं तो दीन के सामने अपना अहंकार न दिखाइये। यदि आप शक्तिसम्पन्न अधिकारी हैं तो अपने आश्रितों को मक्खी-मच्छर मत समझिये।—

"तिनका कबहुँ न निन्दिये, जो पायँन तर होय।
कबहुँक उड़ि आंखिन परे, पीर घनेरी होय॥"

—कबीर।

यदि आप पूंजीपति हैं तो मजदूरों को दो कौड़ी के आदमी न मानिये। उन्हीं की कमाई से आपकी कोठी भरती है। यदि आप प्रकाशक या सम्पादक हैं तो लेखकों को अपने से हीन न मानिये। वे न हों तो आपका अस्तित्व ही मिट जायगा। यदि आप महल हैं तो झोपड़ो का तिरस्कार मत कीजिये। झोपड़ी की आग आपको जलाकर राख कर सकती है। झोपड़े का सन्त संसार को हिला सकता है।

इन बातों पर अच्छी तरह से विचार करके मनुष्य को मानसिक ज्वर से मुक्त होना चाहिये। अहकार सन्निपात से कम भयंकर नहीं

होता। दर्प-दग्ध व्यक्ति स्वयं तो जलता ही है, दूसरों को भी जलाता है।

(ग) *सहनशीलता* :—शिष्ट व्यक्ति का एक लक्षण यह भी है कि वह सहनशील होता है, कष्ट से अथवा किसी प्रतिकूल बात से घबड़ाकर या चिढ़कर कर्त्तव्य-विमुख नहीं होता। एक विलायती विचारक के कथनानुसार बुरे आदमियों के साथ भी प्रसन्नतापूर्वक रह लेना ही शिष्टता का प्रमाण है—"The test of good manners is to be able to put up pleasantly with bad ones."—*Wendell Wilkie.*

पंडितराज जगन्नाथ ने लिखा है कि गुरु के कठोर वचनों से जिनका तिरस्कार होता है वे ही मनुष्य महत्त्व को प्राप्त होते है, बिना खराद पर चढ़ाई हुई मणियाँ राजमुकुटो में कदापि नहीं जड़ी जातीं।—

"गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्।
अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥"

—भामिनीविलास।

यह सत्पुरुषों की बड़ी भारी तपस्या है। इससे अनेक विकार उसी प्रकार शान्त हो जाते हैं जैसे पानी से पावक। मनुष्य सहनशीलता से सुशील, सभ्य और सम्मानित बनता है। असहनशील व्यक्ति तो असभ्यता की साक्षात् मूर्ति बन जाता है।

(घ) *लोकलज्जा* :—लोकलज्जा का ध्यान रखना शिष्टाचार का एक आवश्यक अंग है। लज्जावान् होना हमारी जातीय विशेषता है। पृथ्वीराज रासो में चन्दवरदायी ने कहा है—'निर्लज्ज म्लेच्छ लजै नहीं, हम हिन्दु लजवान्।' मारवाड़ का एक दोहा है—

"साईं तो सों बीनती, ये दुइ भेला रक्ख।
जीव रखै तो लाज रख, लज बिन जीव न रक्ख॥"

अर्थात्—हे परमेश्वर, तुमसे यह विनय है कि इन दोनों को साथ रक्खो—प्राण रखते हो तो उसके साथ लज्जा भी रक्खो; लज्जा के बिना प्राण मत रहने दो।

(ङ) *कृतज्ञता* :—कृतज्ञता हमारी जातीय विभूति है। वेद में देखिये तो बड़ी-बड़ी लोकोपकारी शक्तियो के साथ मंडूक तक की स्तुति मिलेगी क्योंकि वह बोलकर वर्षा के आगमन की सूचना देता है—उस वर्षा की जो हमारी कृषि की सहायिका है। इसीप्रकार छोटे-छोटे जंगलों की भी स्तुति की गई है।—

"स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथा कामं न पिद्यते।
आंजनगंधिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्॥
प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानीमशंसिषम्॥"

—ऋग्वेद।

अर्थात्—स्वादिष्ट फल खाकर लोग उसके राज्य में रहते हैं; हम अरण्यानी की वन्दना करते हैं; वह आंजनगंधि, सौरभ एवं अकृष्ट क्षेत्र से प्रचुर अन्न प्रदान करती है।

इस प्रकार की भावनाओ से परस्पर आत्मीयता बढ़ती है और स्वभाव में कोमलता आती है। एक-दूसरे के गुणो को स्मरण करके लोग उन सद्गुणों को स्वयं धारण करते है। कृतज्ञता में नम्रता की भावना तो रहती ही है। इस सम्बन्ध में राम का आदर्श सामने रखना चाहिये। रामायण में कहा है कि राम मन पर नियंत्रण रखने के कारण दूसरो द्वारा किये हुये सैकड़ों अपराधो को भी भुला देते है, परन्तु यदि कोई एक बार भी उनके साथ किसी प्रकार का उपकार कर दे तो उसीसे सदा सन्तुष्ट रहते हैं—उसे नित्य स्मरण रखते है।—

"न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया।
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति॥"

—रामायण।

(च) *उदारता* :—चन्द्रमा के लिये शीतल होना जितना स्वाभाविक है, उतना ही सज्जन के लिये उदार होना। उदारता केवल आर्थिक

सहायता देने से नहीं सिद्ध होती। उदारता तो आँखों से भी झलकती है, बातों से टपकती है और व्यवहार से भी व्यक्त होती है।

उदारता यह है कि हम स्वयं जहां तक हो सके संतोष करें, विशाल-हृदय होकर यथाशक्ति दूसरो का उपकार करें, उपकार न कर सकते हों तो कम-से-कम अपकार ता न करें, दान न दे सकते हो तो इतना तो कर ही सकते हैं कि हमारे कारण किसी को दीन न होना पड़े। उदारता यह है कि हम दूसरों पर कृपा रक्खें और उनकी भूलों को यथासंभव क्षमा करते चलें। प्राचीन ऋषियो का मत है कि दरिद्र का दान, सामर्थ्यशाली की क्षमा, युवकों का संयम, ज्ञानियों का मौन, सुख भोगने के योग्य पुरुषों की सुखेच्छा-निवृत्ति तथा समस्त प्राणियो पर दया—ये सद्गुण स्वर्ग में ले जाते हैं।—

"दानं दरिद्रस्य विभोः क्षमित्वं,
यूनां तपो ज्ञानवतां च मौनम्।
इच्छानिवृत्तिश्च सुखोचितानां,
दया च भूतेषु दिवं नयन्ति॥"

—पद्मपुराण।

वास्तव में, ये सद्गुण सामाजिक जीवन को ही स्वर्ग-तुल्य बना देते हैं।

(छ) *श्रद्धा-भक्ति* :—श्रद्धा-भक्ति से मनुष्य के स्वभाव में नम्रता आती है, चरित्र मर्यादित होता है और पारस्परिक विश्वास दृढ़ होता है। यही विनय का मूल है। श्रद्धा-भक्ति-वश भगवान् की जो उपासना की जाती है, वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वभाव को विनयी और सुसंयत बनाने का एक उपाय है। श्रद्धा-भक्ति से सबकी भावनायें एक दिव्य वस्तु में केन्द्रित हो जाती है और वे उपास्य के प्रति विनीत एवं कृतज्ञ होकर एक प्रकार से अनुशासन की शिक्षा लेते हैं। देवताओं की प्रार्थना से एक बड़ा लाभ यही है कि स्वभाव की उच्छृङ्खलता और उद्दंडता मिट जाती

हैं। यही बात पूज्य-जनों के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखने से होती है। इससे समाज में विनय, नम्रता, सुशीलता की परम्परा चलती है। साथ ही, मनुष्य के चरित्र-निर्माण में वे बहुत सहायक होते हैं। शिष्ट होने के लिये वृद्ध-सेवा को इसीलिये विशेष महत्त्व दिया गया है। इससे ऊँट पहाड़ के नीचे आ जाता है।

(ज) *धैर्य-शान्ति* :—शील-विनय-सम्पन्न पुरुष को धीर-गंभीर और शान्त होना चाहिये। व्यासजी ने कहा है कि सत्पुरुष को उचित है कि संसार में सम्मान पाकर हर्षित न होवे और अपमान से खिन्न न हो। ऐसा करने से सज्जन सभ्य पुरुषों से पूजित होते हैं। दुष्टों में इस प्रकार के सज्जनों का आदर करने की साधुबुद्धि नहीं होती।—

"न मानमान्यो मुदमाददीत न सन्तापं प्राप्नुयाच्चावमानात्।
सन्तः सतः पूजयन्तीह लोके नाऽसाधवः साधुबुद्धिं लभन्ते॥"
—आदिपर्व।

महाभारत में ही पंडित के मुख्य लक्षण बताते हुये विदुर ने कहा है कि पंडित लोग किसी बात के तत्त्व को शीघ्र जान लेते हैं, फिर भी देर तक सुनते रहते हैं, किसी काम में रागद्वेष से प्रवृत्त नहीं होते, दूसरे के कार्य में बिना उसके कहे नहीं पड़ते।—

"क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासंपृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत्प्रज्ञानं प्रथमं पंडितस्य॥"
—उद्योगपर्व।

इन बातों से धैर्य-शान्ति का महत्त्व एवं प्रयोजन समझा जा सकता है। वचन-व्यवहार में किसी भी प्रकार की चंचलता अभद्रता प्रकट करती है और उससे क्षोभ उत्पन्न होता है। बहुत से लोग छोटी-छोटी बातों से भी खीझकर बात का बतंगड़ बना लेते हैं और शिष्टता भूल जाते हैं। इससे उनकी आत्मतुच्छता और दुश्शीलता प्रकट होती है।

(क) *व्यावहारिक सरसता*:—शिष्ट समाज में व्यवहार की सरसता पर विशेष ध्यान दिया जाता है। व्यावहारिक सरसता यह है कि मनुष्य वचन-कर्म से किसी प्रकार की कटुता न उत्पन्न करे। बातचीत में कर्कश शब्दों का व्यवहार अनुचित है। महाभारत में कहा है कि मर्मभेदी वचन मन का बुढ़ापा है—'वाक्शल्यं मनसो जरा।' मनुष्य को ज्वालामुख न बनकर सौम्य बनना चाहिये। निन्दा और आत्मप्रशंसा से दूर रहना चाहिये। व्यास के मत से विद्वान् को उचित है कि वह किसी की निन्दा न करे और न अपनी प्रशंसा का डंका पीटे—इन दो बातों को छोड़े बिना संसार में किसी गुणवान् की महिमा प्रकाशित होती नहीं देखी गई।—

"अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्।
न कश्चिद् गुणसम्पन्नः प्रकाशो भुवि दृश्यते॥"

—वनपर्व।

कौटिल्य का कहना है कि सभा में शत्रु की भी निन्दा न करे—'संसदि शत्रुं न परिक्रोशेत्।' वाणी की तीक्ष्णता मित्र को भी शत्रु बना देती है। मीठे शब्दों से, मीठी हँसी से हृदय की मिठास व्यक्त होती है। शुभकामना शुभवचनों द्वारा व्यञ्जित होने पर अधिक प्रभावशालिनी हो जाती है।

बोलने में ही नहीं, लिखने में भी साधुता और सरसता का ध्यान रखना चाहिये। एक बार अमेरिका के प्रसिद्ध राष्ट्रपति स्वर्गीय अब्राहम लिंकन के सेक्रेटरी ने किसी के कठोर पत्र का उत्तर उससे भी कठोर शब्दों में लिखकर लिंकन को दिखाया। लिंकन ने उसे देखकर कहा—अच्छा मुँहतोड़ जवाब है, लेकिन इसे भेजने की कोई आवश्यकता नहीं है। सेक्रेटरी ने कारण पूछा तो राष्ट्रपति ने कहा—इस पत्र में तुमने अपने मन का क्रोध उतार ही लिया, जो कुछ भला-बुरा तुम कहना चाहते थे तुमने कह लिया—तुम्हारा काम हो गया, अब इसे भेजना व्यर्थ है, इस प्रकार के पत्र भेजने के लिये नहीं लिखे जाते।

एक महापुरुष का यह उपदेश सब के लिये माननीय है। दूसरों के आक्षेप से अपने को स्वयं दूषित बना लेना मूर्खता है। कटुता को मधुरता से मिटाना चाहिये; कड़वी वस्तु का प्रभाव मीठी वस्तु के सेवन से स्वयं मिट जाता है।

पारस्परिक व्यवहार में सरसता उत्पन्न करने के अनेक उपाय हैं। एक तो यह है कि किसी भी काम में झुँझलाहट का आभास नहीं मिलना चाहिये। कौटिल्य ने मूर्ख का एक लक्षण यह लिखा है कि वह अवश्य दी जानेवाली वस्तु को भी बड़े झंझट से देता है—'दातव्यमपि बालिशः परिक्लेशेन दास्यति।' नाक-भौं सिकोड़ना तमंचा चढ़ाने के बराबर है। जो भी करना है, उसे मृदुता के साथ ही करना चाहिये। उपेक्षापूर्ण व्यवहार के साथ तो मधुर शब्द और उपकार भी व्यर्थ प्रतीत होते हैं। बड़ों के साथ ही नहीं, छोटों के साथ, नौकरों और बच्चों के साथ विशेष रूप से नम्रता का व्यवहार करना चाहिये।

दूसरा उपाय यह है कि किसी बात के लिये हठ-दुराग्रह-पक्षपात न करके तथ्य को ग्रहण करना चाहिये। अपनी भूल का पता चलने पर तत्काल क्षमा-याचना करके अपना रास्ता बदल देना चाहिये। कौटिल्य का यह आदेश सर्वथा मान्य है कि विद्वानों की सम्मति का अतिक्रमण न करो—'सतां मतं नातिक्रमेत्।' बड़ों के बड़प्पन का ध्यान रखना चाहिये।

वचन-व्यवहार की सरलता व्यावहारिक जीवन को सरस और सफल बनाने में बहुत सहायक होती है। सरलता का अर्थ है सचाई। सत्य से अधिक सरल और क्या होगा! सत्य ही शिष्टों का धर्म है। मन-कर्म-वचन से सत्य का पालन करने से जीवन सरल और सरस रहता है।

सरलता से सीधेपन का भी बोध होता है। सज्जनों की बात, रहन-सहन सीधी-सादी होती है। वाग्व्यय, वचन-वक्रता, कुटिलता और छद्मसाधुता असज्जनों के लक्षण हैं। बौद्ध ग्रंथों में ऐसे व्यक्तियों की ओर संकेत करके कहा है—

"यं पुच्छितो न तं अक्खा अञ्ञं अक्खासि पुच्छितो ।
अत्तप्पसंसको पोसो नायं अस्माक रुच्चति ॥"
—जातक ।

("जो पूछा है वह नहीं कहता, पूछने पर दूसरी बात कहता है । यह अपनी ही प्रशंसा करनेवाला पुरुष हमें अच्छा नहीं लगता ।")

यथासंभव अपने व्यक्तित्व को सरल—स्पष्ट रखना चाहिये; इससे भ्रम-सन्देह मिटता है और लोग एक-दूसरे के अधिक निकट आ जाते हैं । इस संबन्ध में मनु का निम्नलिखित आदेश मान्य है—

"वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेशवाग्बुद्धिसारूप्यं आचरन्विचरेदिह ॥"

अर्थात्—आयु, क्रिया, धन, विद्या और कुल—इनके अनुरूप वेश, वचन, बुद्धि रखता हुआ संसार में रहे ।

(ञ) *सावधानी*:—अधिक न लिखकर अब हम एक ही बात और कहना चाहते हैं—वह यह कि भलमंसाहत की आवश्यकता बड़े-बड़े अवसरों पर, बड़ी-बड़ी बातो में या बड़े लोगो के बीच ही में नहीं पड़ती । किसी पाश्चात्य पंडित ने कहा है कि छोटी बातों में सौजन्य दिखाना ही शिष्टता है—'Courtesy is nobility in little things' बड़े आदमी को छोटी-छोटी बातों में विशेष सावधान रहना चाहिये, बड़ी बातो मे तो छोटे लोग भी सावधान मिलते है । छोटी बातो में सावधानी इस ढंग से होती है—अतिथि को और किसी सम्मान्य व्यक्ति को यथायोग्य आदर देने में न चूके; अपने साधारण वायदे को भी झूठा न होने दे; किसी को मिथ्या आश्वासन न दे; ऐसे आसन पर बैठे जो दूसरे के बैठने का न हो—'तदेवासनमन्विच्छेद्यत्र नाभिषजेत् परः'—(वनपर्व) । छोटे-से-छोटे आदमी के भी आत्मसम्मान का ध्यान रक्खे, उनकी सुविधा-असुविधा को महत्त्व दे, दूसरो के काम में हस्तक्षेप न करे और अनुचित स्थान पर कुदृष्टि न डाले । 'नजर अच्छे दिलो को भी कभी बदनाम करती है ।'—अकबर ।

दूसरे का रहस्य जानने की चेष्टा न करे—'पररहस्यं नैव श्रोतव्यम्'—कौटिल्य। पत्र का उत्तर देने में प्रमाद नहीं करना चाहिये क्योंकि पत्र भेजनेवाला उत्तर पाने का विश्वास करके ही पत्र लिखता है; इसलिये उत्तर न देना उसके साथ विश्वासघात करना है। इससे असज्जनता और क्रूरता प्रकट होती है।

अमेरिका के मान्य मनीषी एमर्सन का यह मत सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि कुछ-न-कुछ आत्मत्याग करने से ही शिष्टाचार सम्पन्न होता है—'Good manners are made up of petty sacrifices.' सभ्यता की रक्षा तथा सद्व्यवहार की सफलता के लिये अहंकार और स्वार्थजन्य वासनाओं का बलिदान करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। लोकरंजन का यही उपाय है।

: ८ :

सामाजिक जीवन की पवित्रता

१—अनैतिकता की वृद्धि का रहस्य

आजकल लोग विविध उपायों से अपराधों को छिपाने की चेष्टा करते है। सबसे सीधा उपाय है—'खाइ के परि रहु, मारि के टरि रहु।' अर्थात्, भोजन को पचाने के लिये लेटना और कुकर्म को पचाने के लिये घटनास्थल से हट जाना चाहिये। नित्यप्रति कितने ही ऐसे दुष्कर्म होते है जिनके करने वालों का पता नहीं चलता। दूसरा उपाय है—अपने दोष को किसी निर्दोष प्राणी के सिर मढ़ देना और उसे फँसा कर स्वयं बच निकलना। तीसरा ढंग है—'राम-नाम जपना, पराया माल अपना।' धर्म या किसी प्रतिष्ठित संस्था की आड़ मे, देशभक्ति या सज्जनता का पाखंड रचकर बहुत-से दंभी समाज की आँखो में धूल झोंकते रहते है। ध्यान से देखिये तो एक नहीं, अनेक धर्मध्वजी, मार्जारलिंगी, कपट-मुनि मिलेंगे, जो स्वभाव-चरित्र से नीच होते हुए भी वेश-भूषा, बात-व्यवहार से सभ्य बने रहते है, भीतर से कुटिल होते हुये भी ऊपर से सीधे लगते है, पाप की कमाई करते हुये भी थोड़ा-बहुत दिखावटी दान देकर दानी-पुण्यात्मा कहलाते है। कितने ही उल्लूबसन्त सन्त बने हुये है और कितने ही मायावी पैसे लेकर माया-मुक्ति की युक्ति बताने का व्यापार कर रहे है। 'मुख में राम, बगल में छुरी' के दृष्टान्त नित्य देखने को मिलते है। इस प्रकार चरित्रहीनता सारे समाज में व्याप्त है, परन्तु वह व्यक्त कम होती है। धूर्त, धनी और अधिकार-सम्पन्न लोग अपने दुराचारो पर आसानी से परदा डाल देते है अथवा यह कहिये कि स्वयं

हंस, परमहंस या बगुलाभगत ही बनकर दूसरों को उल्लू बना देते हैं। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव से सर्वसाधारण में यह प्रवृत्ति बढ़ गई है कि किसी भी उपाय से, चाहे वह उचित हो या अनुचित, कार्य की सिद्धि ही श्रेयस्कर है। लोग किसी भी रीति से अपना काम निकाल कर समर्थ बनना चाहते हैं। समर्थ के दोष दोष नहीं गिने जाते—'समरथ को नहिं दोष गोसाईं'—तुलसी। ऊपरी आडम्बर से भीतरी पोल का पता नहीं चलता। मिथ्या व्यक्तित्व से धोखा होता ही है।

इनके अतिरिक्त पाप-अनाचार को ढँकने के और भी कितने ही उपाय आधुनिक समाज में प्रचलित हैं। बहुत-से लोग इसका व्यवसाय करते हैं। बड़े-से-बड़ा अपराध करके किसी तर्क-सतर्क चालाक वकील के पास जाइये; वह फ़ीस लेकर पहले तो यह सिखायेगा कि न्यायालय में अभियोग को स्वीकार मत करना; इसके बाद सच को झूठ और झूठ को सच प्रमाणित करके संभवतः आपको दण्ड से मुक्त करा देगा। अपराधी की दृष्टि में वकील भगवान् से भी अधिक काम का है। पुलिस के अनुग्रह से भी बड़े-बड़े अपराध दब जाते हैं। डाक्टर-वैद्य भी समय पर इस काम में बड़े सहायक सिद्ध होते हैं। व्यभिचारियों की लाज वे ही बचाते हैं। और हमारे पत्रकार तथा पत्र-सम्पादक भी अपने कृपापात्रों और संरक्षकों के विरुद्ध लोकापवाद को रोकने में कम काम नहीं करते। दर्जी, धोबी, नाई तक असभ्य को सभ्य जैसा बना देते हैं। लोक में तो इनसे काम चल जाता है। परलोक के पाप-पाचक हैं पंडे और पंडितजी। पैसे लेकर पंडे यजमान के पाप-प्रक्षालन का भार अपने ऊपर ले लेते हैं और पंडितजी गोदान के सवा रुपये लेकर महाकुपंथी को भी विष्णु-लोक का टिकट दे देते हैं। इस प्रकार के अन्धविश्वासों से भी गुप्त अपराधों की वृद्धि होती है। मूढ़ लोग इस भरोसे छिपकर अपराध करते रहते हैं कि पाप का रंग हलका होता है, पंडाजी उसे नदी में धो देंगे और पंडितजी पतित-से-पतित को भी पाप-पारावार से पार लगा देंगे। उन्हें

बुराई करने की प्रेरणा मिलती है और समाज के सामने एक बुरा आदर्श उपस्थित होता है।

२—गुप्त अपराधों का दुष्परिणाम

परिणाम यह है कि गुप्त अपराधों की संख्या बढ़ती जा रही है। इससे व्यक्ति और समाज दोनों की हानि होती है। व्यक्तिगत हानि तो यह होती है कि अपराधी की आत्मा पतित हो जाती है। उसके सिर पर पाप सवार हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि अपराधी अपने दोष को छिपाकर राजदंड और लोक-निन्दा से बच जाता है, परन्तु भीतर-ही-भीतर वह मानसिक मलबद्धता से घोर कष्ट पाता है। सुप्रसिद्ध विलायती उपन्यासलेखिका मेरी करेली के मत से—'चरित्रहीन की मानसिक यंत्रणायें नरक की यंत्रणाओं से बढ़कर है।' अमोघवर्ष ने भी सत्य ही कहा है—

"किं मरणं ? मूर्खत्वं, किं चानर्घ्यं ? यदवसरे दत्तम्।
आमरणात् किं शल्यं ? प्रच्छन्नं यत्कृतमकार्यम्॥"

—प्रश्नोत्तरमाला।

अर्थात्—(जीते-जी) मृत्यु क्या है ? मूर्खता। अमूल्य क्या है ? जो समय पर दिया जाय। जीवनपर्यंत हृदय में काँटे की तरह क्या चुभता है ? छिपकर किया गया अपराध।

अपराधी का मनस्ताप उसे भीतर से बहुत दिनो तक जलाता है—यही असली प्राण-दण्ड है। प्रत्येक दोष, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, मनुष्य के व्यक्तित्व पर अपना धब्बा अवश्य छोड़ता है। वह गुप्त रोग बनकर शरीर को पीड़ित करता है। क्षणिक सुख से जीवन की स्थायी हानि होती है। इसके अतिरिक्त, व्यास जी के मतानुसार, जिस प्रकार गरिष्ठ भोजन पेट में जाकर अवश्य दुःख देता है, उसी प्रकार पाप अपने

लिये अनिष्टकर न प्रतीत होने पर भी बेटे-पोतों तक पहुँचकर अपना प्रभाव दिखाता है।—

"पुत्रेषु वा नप्तृषु वा न चेदात्मनि पश्यति।
फलत्येव ध्रुवं पापं गुरुभक्तमिवोदरे॥"

—आदिपर्व।

गुप्त अपराध से समाज का सारा वातावरण भीतर-ही-भीतर दूषित हो जाता है। जिस प्रकार एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है, उसी प्रकार एक दुष्ट व्यक्ति सारे समाज को। उसकी बुराइयो का कुप्रभाव उसी प्रकार चुपचाप पड़ता है जैसे क्षय के रोगी के दूषित श्वास का। समाज मे जो भ्रष्टाचार फैलता है और अनर्थ होते है उनमें उन बुराइयों का मुख्य हाथ रहता है जो मलवत् अन्दर रुकी रहती है। अनेक सामाजिक व्याधियाँ उन्हीं से उत्पन्न होती है। महाभारत के अन्त में कुन्ती ने इस तथ्य को स्वीकार करके कहा था कि मेरी ही दुर्बुद्धि के कारण यह सारा अनर्थ हुआ। भारती कथा के मर्म को समझने वाले इससे सहमत होंगे।

इस सम्बन्ध में लैफ़ कैडियो हार्न लिखित एक वृत्तान्त उल्लेखनीय है। इसका संक्षिप्त अनुवाद श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'मधुकर' के १ जून, १९४२ के अंक में दिया था। किसी जापानी नगर की एक गली में किसी की हत्या हुई। जहाँ हत्या हुई थी, उससे दूर उसी नगर में एक सज्जन अपने मित्र से मिलने गये। मित्र महोदय किसी बात पर बड़ी देर से बिगड़े हुये थे। आगन्तुक सज्जन ने उनके कमरे में पहुँचते ही कहा—'अभी जो हत्या हुई है, उसके लिये आप भी कुछ अंशो में उत्तरदायी है!' मित्र महोदय चौंककर बोले—'न मै हत्यारे को जानता हूँ न मृत व्यक्ति को; यहाँ बैठा हुआ मैं उस हत्या के लिये कैसे उत्तरदायी हो सकता हूँ?' उक्त सज्जन ने पुनः कहा—'आपने क्रुद्ध होकर अपने मनोविकार से यहाँ के समस्त वायु-मंडल को विषाक्त बना दिया है; ऐसे दूषित वातावरण से

हत्यारे को अपने कुकर्म के लिये अवश्य ही कुछ-न-कुछ प्रेरणा मिली होगी।'

समाज की रचना ही इस प्रकार की है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति की दुर्भावनाओं तक का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है। उससे अनैतिकता का पोषण होता है। एकान्त में किया हुआ छोटा-मोटा पाप भी धीरे-धीरे लोक में फूलने-फलने लगता है। उसका दण्ड अन्य सामाजिक प्राणी भोगते हैं। प्रायः यह देखने को मिलता है कि 'खेत चरैं गदहा, मारा जाय जोलहा।' अपराध कोई करता है, और दंड कोई दूसरा भोगता है। किसी नीतिकार ने कहा है कि दुराचार तो दुष्ट करता है और उसका फल साधु को भोगना पड़ता है। सीता का हरण रावण ने किया, लेकिन बाँधा गया वेचारा समुद्र।—

"खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु।
दशाननोऽहरत्सीता वन्धनं च महोदधेः॥"

इस प्रकार समाज में दुष्टों की दुष्टता से निरपराध व्यक्तियों के साथ घोर अन्याय होता है। अनाचार या दुर्विचार को यत्नपूर्वक छिपाने वाले न तो स्वयं अपने साथ कोई उपकार करते हैं और न समाज के साथ। वास्तव में वे दोनों के साथ विश्वासघात करते हैं। कोई भी अपराध या पाप छिपाने से न तो घटता है और न कटता है। गांधीजी ने कहा है कि दोष को छिपाने में ही उसके संग्रह की इच्छा रहती है।

३—अपराध-चिकित्सा

अब प्रश्न यह है कि अपने को तथा समाज को अपराधों से मुक्त करने का उपाय क्या है? अपराध तो सभी से होते ही रहते हैं। उनसे कैसे बचा जा सकता है? शास्त्रकारों के शास्त्रकार महर्षि व्यास ने इसका एक सरल उपाय बताया है। वह यह है कि अपने पाप को प्रकट कर देना चाहिये। उनका कहना है कि अपना पाप लोगों में प्रकट करने से

घटता है, पापी का छिपाया पाप उसे पुनः पाप में लगाता है। जो मनुष्य बुरे कर्मों का पश्चात्ताप करता है वह पाप से मुक्त हो जाता है—'विकर्मणा तप्यमानः पापाद्धि परिमुच्यते'—वनपर्व। मनु ने भी कहा है कि जैसे-जैसे मनुष्य अपना किया अधर्म लोगो में ज्यों-का-त्यों प्रकट करता है, वैसे-वैसे वह अधर्म से उसी प्रकार मुक्त होता है जैसे केंचुली से साँप।—

"यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाधर्मेण मुच्यते॥"

—मनुस्मृति।

ईसाइयों के युगान्तरकारी गुरु लूथर का मत है कि मनुष्य अपने को दोषी न माने यही महापाप है। अपने दोष को स्वीकार करके उसके लिये पश्चात्ताप करना पुण्यप्रद है। इससे आत्मशुद्धि के साथ लोकादर्श की भी रक्षा होती है—सत्य और न्याय की मर्यादा स्थापित होती है। सत्य और न्याय यह है कि मनुष्य को अपने अपराध का दंड स्वयं ही भोग लेना चाहिये। हमारे जातीय इतिहास में इसके अनेक उदाहरण हैं। उनमें सर्वाधिक गौरवपूर्ण वैदिक धर्म के पुनरुद्धारक प्रख्यात पंडित कुमारिल भट्ट का है। यहां, संक्षेप में, उसका उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा।

कुमारिल भट्ट का दृष्टान्त :—राजा सुधन्वा ने वैदिक धर्म त्यागकर बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था। वैदिक धर्म की अवनति देखकर उसकी रानी आँसू बहाती हुई बोली—'किं करोमि, क्व गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति।' अर्थात्, क्या करूँ! कहाँ जाऊँ! वेदों का उद्धार कौन करेगा!!

संयोग से उस समय कुमारिल भट्ट उसी मार्ग से जा रहे थे जहाँ रानी महल की खिड़की पर बैठी हुई शोक के आँसू बहा रही थी। भट्ट की भुजा पर आर्याङ्गना के तप्त अश्रुबिन्दु गिरे और कानों में उसका उद्‌गार दुन्दुभि की भाँति ध्वनित हुआ। मानो किसी ने उनके पुरुषार्थ को चुनौती दे दी। स्वात्माभिमानी आर्यपुरुष ने गर्व से सिर उठाकर कहा—'मा विषोद

वरारोहे, भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।'—नारी तू चिन्ता न कर, मैं कुमारिल भट्ट अभी इस पृथ्वी पर मौजूद हूँ।

इसके बाद कुमारिल ने बौद्ध धर्म के उन्मूलन का दृढ़ संकल्प करके छद्मवेश में बौद्धधर्म की दीक्षा ली। उस समय बौद्धधर्म में अनेक प्रकार की बुराइयाँ आगई थीं। कुमारिल ने बौद्धों के समस्त रहस्यों को जानकर उनका खंडन प्रारम्भ किया। छिद्र पर प्रहार करने से विजय मिलती ही है। कुमारिल अपने विध्वंस-कार्य में सफल हुये। यथाशक्ति वैदिक धर्म का पुनरुद्धार करने के बाद उन्हें ध्यान आया कि उन्होंने बौद्धों के साथ विश्वासघात करके सिद्धि प्राप्त की है। अनुचित रीति से सत्कार्य की सफलता भी शास्त्र-वर्जित है। अतएव उन्होंने लोकधर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये इस पाप का प्रायश्चित्त करने का निश्चय किया। प्रयाग में भूसी के ढेर में आग लगाकर कुमारिल उसी में अपने शरीर को धीरे-धीरे जलाने के लिये बैठ गये। उनके शरीर-त्याग के पूर्व जगद्गुरु शंकराचार्य वहां आये। उन्होंने कुमारिल से आदरपूर्वक कहा—"आप अपना हठ त्याग दें, क्योंकि आपका प्रयोजन सिद्ध हो चुका है—शास्त्रानुसार गुप्त रूप से किये गये पाप को सर्वसाधारण के समक्ष प्रकट कर देने से उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है।"

कुमारिल ने गंभीरता से उत्तर दिया—"मुझे धर्म की मर्यादा पर स्थिर रहना है; यह मेरा निर्णय है—मेरा ही नहीं, सर्वमान्य शास्त्रों का निर्णय है।" उन्होंने हँसते हुये शरीर की आहुति दे दी।

इस प्रसंग में हिन्दी के पीयूषवर्षी कवि सूरदास के जीवन की घटना भी उल्लेखनीय है। सूरदास ने किसी युवती पर कुदृष्टि डालने के अपराध का प्रायश्चित्त स्वयं अपनी आँखों को फोड़कर किया था। पाश्चात्य सभ्यता के अन्ध उपासकों की दृष्टि में इस प्रकार के मनोविकार उपेक्षणीय हो सकते हैं। वे लोग इस प्रकार के कष्टकर कर्म को मूर्खतापूर्ण कह सकते हैं। परन्तु हमें भगवान् कृष्ण के इस कथन को कभी न भूलना चाहिये कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, साधारण लोग उसीका

अनुकरण करते हैं; वे जैसा आदर्श उपस्थित करते हैं, लोक उसीको अपना लेता है।—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥"—गीता।

जाति अपने सनातन आदर्श से ही जीवित रहती है। आज भी स्वदेश की अशिक्षित ग्रामीण जनता में प्राचीन आदर्शों का पालन किसी-न-किसी रूप में होता है। किसी के हाथ से गाय-बैल-भैंस आदि की हत्या हो जाती है तो वह चारो ओर अपने को हत्यारा घोषित करता हुआ एक निश्चित अवधि तक घर-गाँव के बाहर भीख माँगकर जीवन व्यतीत करता है। इसे हत्यारी लगना कहते हैं। ऐसी ही और भी प्रथायें प्राचीन ढंग के समाज में अभी तक चली आ रही हैं। हमें यह स्वीकार करना होगा कि सामाजिक अपराधो को सीमित करने में और सभ्यता के संरक्षण में ये पुलिस और कानून से अधिक उपयोगी हैं।

४—लोक कैसे सुधरेगा ?

वास्तव में, लोक का संस्कार और जनता का नैतिक उत्थान तभी होगा जब लोग अपने सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार अपने दोषों को स्वयं स्वीकार करते हुये प्रतिष्ठाजनक कर्मों से उनका संशोधन करेंगे। दंड की अपेक्षा शिक्षा, भय की अपेक्षा विवेक, कानून की अपेक्षा धर्म और पुलिस की अपेक्षा आत्मा को अधिक महत्व देना चाहिये। हमारे प्राचीन आदर्श इसी ओर संकेत करते हैं। प्राचीन आदर्श, भीष्म के शब्दों में, यह है—'धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा'—महाभारत। अर्थात्, दुष्कर्म द्वारा सफलता प्राप्त करने की अपेक्षा सत्कर्म करते हुये मर जाना भी श्रेयस्कर है। प्राचीन आदर्श, भगवान् कृष्ण के शब्दो में, यह है कि निन्दित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा एक बार मर जाना ही सौगुना उत्तम है—'महागुणो वधो राजन्, न तु निन्दाकुजीविका'—उद्योगपर्व। विबुध

व्यास के मत से मनुष्य दो घड़ी भी शुभ कर्म करते हुये ही जीये; परन्तु लोक-परलोक-विरोधी कर्म के साथ कल्प भी जीने की इच्छा न करे।—

"मुहूर्त्तमपि जीवेद्धि नरः शुक्लेन कर्म्मणा।
न कल्पमपि जीवेच्च लोकद्वयविरोधिना॥"

—स्कन्दपुराण।

इस प्रकार की भावनाओं से आत्मा बलवान् होती है। और बलवान् आत्मा न तो भौतिक सुख-वैभव की लालसा से पापकर्म में प्रवृत्त होती है और न प्राण-मोह-वश किसी अपराध का उचित दंड भोगने से भयभीत होती है। उसका तो संकल्प यही होता है कि मैं परमात्मा के चरणकमलों में ऋण-रहित होकर जाना चाहती हूँ—'अनृणोगन्तुमिच्छामि तद्विष्णोः परमं पदम्।'—मनुस्मृति। मंगल-मार्ग पर चलने के लिये हृदय पर से अपराधो का अनावश्यक भार उतार देना आवश्यक है। मनुष्य का हृदय हलका, निर्विकार होकर ही विश्व-हृदय के साथ मिलकर चल सकता है। आन्तरिक सरलता ही संस्कृति का उद्देश्य है।

जो लोग लोक-कल्याण के साथ-साथ अपना भी कल्याण चाहते हैं, उन्हे उचित है कि वे उपरोक्त सांस्कृतिक आदर्शों के साथ महर्षि वसिष्ठ के इस उपदेश को भी ध्यान में रक्खें—

"दीर्घ पश्यत मा ह्रस्वं, परं पश्यत माऽपरम्।
धर्मं चरत माऽधर्मं, सत्यं वदत माऽनृतम्॥"

इसका सरल भावार्थ यह है कि दूर की बड़ी बात को भी देखो-समझो, केवल निकट की, आँख के आगे की साधारण बात पर ही ध्यान मत दो। सिद्धान्त को भी देखो, केवल तात्कालिक हानि-लाभ को विशेष महत्व मत दो। धर्म के अनुसार चलो, अधर्म के अनुसार नहीं; सत्य बोलो, मिथ्या नहीं। दूसरे शब्दो में, स्वार्थ के ऊपर कर्त्तव्य का ध्यान रक्खो।

इस प्रकार के आदर्शों की प्रतिष्ठा से ही सामाजिक जीवन पवित्र हो

सकता है। आदर्शों की प्रतिष्ठा मौखिक प्रचार से नहीं, प्रयोग से होती है। इस सम्बन्ध में अँगरेजी के धुरन्धर लेखक और विचारक कार्लाइल का यह मत सदैव स्मरण रखना चाहिये कि तुम अपने-आपको एक सच्चा आदमी बना लो, तभी निश्चित रूप से मान सकते हो कि दुनिया में एक दुष्ट तो कम हुआ—"Make yourself an honest man and then you may be sure that there is one rascal less in the world."—*Carlyle.*

❋ अमेरिका के सुप्रसिद्ध विचारक थारो ने भी कहा है कि यदि तुम किसी दूसरे को यह समझाना चाहते हो कि वह बुरे रास्ते पर है तो तुम्हें स्वयं ठीक रास्ते पर चलकर उसके लिये आदर्श उपस्थित करना चाहिये। उसे समझाने-बुझाने का प्रयत्न मत करो—मनुष्य जिस वस्तु को प्रत्यक्ष देखता है, उसी को सत्य मानता है—उसे स्वयं सन्मार्ग की ओर आकर्षित होने दो। दूसरे शब्दों में अपने चरित्र को दूसरों के लिये आदर्श एवं अनुकरणीय बनाकर मनुष्य समाज का अधिक संस्कार और उपकार कर सकता है।

: ६ :

निर्भयता

१—नेपोलियन का दृष्टान्त

एक वार एक भीषण युद्ध में नेपोलियन की सेना शत्रुओं के प्रवल आक्रमण से व्याकुल होगई। सैनिको के पैर उखड़ गये; सब प्राण बचाने के लिये इधर-उधर भागने लगे। एक उच्च सैनिक अधिकारी ने नेपोलियन से कहा—'श्रीमान्, हम हार गये।' नेपोलियन ने तत्काल उत्तर दिया—'तुम अवश्य हार गये, परन्तु यह सेना नहीं हारी।' इसके बाद सैन्य-संचालन का भार अपने ऊपर लेकर नेपोलियन स्वयं उस ओर को झपटा जिधर से शत्रु की विजयोन्मत्त वाहिनी उमड़ती हुई चली आ रही थी। सामने गोलियो की बौछार हो रही थी, गोले बरस रहे थे, सहस्रों तलवारें विजली की तरह चमक रही थीं। सबकी उपेक्षा करता हुआ वह महावीर निर्भीकतापूर्वक आगे बढ़ा। अपने सेनानायक को आगे बढ़ते देखकर फ्राँस के पीठ दिखाने वाले योद्धा भी लौट पड़े। उनका हृदय उत्साह-साहस से भर गया। सेनाग्रणी के साथ वे प्राण-मोह त्यागकर वैरी-दल पर टूट पड़े। 'नेपोलियन की जय' से आकाश थर्राने लगा। शत्रु की सेना को चीरता हुआ पराक्रमी नेपोलियन देखते-देखते वहाँ पहुँच गया, जहाँ विजय-श्री खडी हुई उसकी प्रतीक्षा कर रही थी।

२—गाँधी जी का दृष्टान्त

प्रवल आक्रमणकारियो के समक्ष आरम्भ में नेपोलियन की सेना की जो दशा थी, वही दशा विदेशी अधिकारियों के आगे पराधीन भारतीय

जनता की थी। एक-एक प्राण भय की वेड़ियो से जकड़ा हुआ था। चारों ओर लाल पगड़ी का भय था, तोप-गोलों का भय था, जेल जाने का भय था, सरकार की क्रूर दृष्टि का भय था। जनता का स्वात्माभिमान सो गया था, उत्साह-साहस क्षीण होगया था। किसी ने अपने को अँगरेजों के हाथ वेचा नहीं था, फिर भी सव अंगरेजों के गुलाम होगये थे। इस परिस्थिति में क्षीणकाय गाँधी अकेले निर्भय होकर हिसकों से लोहा लेने के लिये आगे बढ़े। उन्होने वचन-कर्म से जनता को निर्भयता का मंत्र पढ़ाया। धीरे-धीरे लोगों के हृदय से अंगरेजो का भय निकलने लगा, उनकी आत्म-दुर्बलता नष्ट होने लगी। झुके हुए मस्तक उठने लगे, लड़खड़ाने वाले पैर सम्हलने लगे। लोग स्वराज्य-विजय के लिये गाँधी के साथ मर-मिटने को उद्यत होगये। परिणाम हमारे सामने है। स्वाधीनता ने आगे बढ़कर जननायक गाँधी का स्वागत किया।

३—निर्भयता का महत्व

महात्मा गाँधी ने सत्य ही कहा है कि 'वल तो निर्भयता मे है, शरीर में मांस वढ़ जाने में नहीं।' भगवान् कृष्ण ने मानव-सुलभ दैवी सम्पदाओं में 'अभयम्' को प्रथम स्थान दिया है। इसका रहस्य, गाँधीजी के कथनानुसार, यह है कि विना अभय के दूसरी सम्पत्तियाँ नहीं मिल सकतीं। निर्भयता के साथ मनुष्य का सम्पूर्ण आत्मबल जागृत हो जाता है; उसकी आशा-उत्साह-साहस-शौर्य आदि की भावनायें स्वतः उद्दीप्त हो जाती है। निर्भयता मनुष्य के प्राण को स्वतन्त्र और आन्दोलित करके उसमें नवीन स्फूर्ति भर देती है। इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। किसी भी विषय में जव हम आशंका-रहित होते है, तव हमारा बल-प्रभाव अपने-आप वढ़ जाता है, हृदय में अतिरिक्त शक्ति की अनुभूति होती है।

जीवन की सबलता, स्वाधीनता और सफलता के लिये निर्भयता निश्चय ही परम आवश्यक है। संसार में जितने भी सुखी, समर्थ, पुरुषार्थी, ऐश्वर्यशाली, नेता या रण-विजेता हुये है, उनकी विशेषताओं

में एक विशेषता यह मिलेगी कि वे स्वभाव-चरित्र से 'अभय' देवता के उपासक थे। जबतक मनुष्य में निर्भयता न हो, तबतक वह जीवन-संग्राम में विजयी नहीं हो सकता। उसके बिना न तो आत्मबल उत्तेजित होता है और न प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कर्त्तव्य करने का साहस। उस अवस्था में मनुष्य उत्थानशील न होकर पतनोन्मुख हो जाता है।

४--भय के दुष्परिणाम

भय के दुष्परिणामो पर विचार करने से निर्भयता का महत्व अपने-आप स्पष्ट हो जायगा क्योंकि भय का निराकरण ही तो निर्भयता है। भय से मनुष्य का किस प्रकार आत्मपतन होता है, इस पर ध्यान दीजिये।

(क) *आत्मदुर्बलता* :—भय एक मनोविकार या प्राण-संकट है। इससे आक्रान्त होने पर मनुष्य स्वयं अपनी ही दृष्टि में असमर्थ, पराधीन और प्रभावहीन हो जाता है। उसका मन कायर, प्राण निर्बल और हृदय क्षीण हो जाता है। भीतर-ही-भीतर उसका दम घुटने लगता है। किसी पाश्चात्य विचारक ने कायरता की व्याख्या करते हुये कहा है कि भय से आत्मा का संकुचित होना ही कायरता है—'Cowardice is the shrinking of soul through fear.' दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि भीरुता आत्महीनता की जननी है। उसके प्रभाव से मनुष्य सचमुच दबककर छोटा या दब्बू हो जाता है। उसे दुम दबाकर भागना या घुटने टेकना अथवा किसी छोटी जगह में अंगों को समेट कर बैठना ही प्रिय लगता है। अत्यधिक भयभीत होने पर लोग खाट के नीचे या किसी कोने में बैठ जाते हैं। इससे हम समझ सकते है कि भय के कारण मनुष्य का व्यक्तित्व कितना छोटा हो जाता है। उसके विचार और दृष्टिकोण में संकीर्णता आ जाती है जिसके कारण वह अपने को तुच्छ मानकर तुच्छ आचरण करता है। ऐसा व्यक्ति विद्वान् या शरीर से भीमकाय होते हुये भी शक्ति-हीनता और विवशता का अनुभव करता है, उसे अपना ही भार असह्य हो जाता है। साधारण परिस्थितियों के आगे भी वह आत्म-

समर्पण कर देता है। छोटी वस्तु भी उसे भयावनी प्रतीत होती है। भयग्रस्त व्यक्ति मुसीबतों का मारा ही मिलेगा। एक-न-एक विपत्ति उसे उसी प्रकार घेरे रहती है जैसे गन्दे आदमी को मक्खी। उसके आगे जितना ही गरम होइये, वह उतना ही अधिक ठंडा हो जाता है। यह एक विचित्र किन्तु सत्य बात है। भय से मनुष्य का स्वात्माभिमान सब प्रकार से मिट जाता है।

(ख) *किंकर्त्तव्यविमूढता* :—किसी भी व्यक्ति के मन में जब किसी भी प्रकार का भय समा जाता है तो वह भीतर-ही-भीतर डूबने-उतराने लगता है। भ्रम-सन्देह से व्याकुल होकर उसकी बुद्धि काम नहीं करती, कुंठित अथवा स्तंभित हो जाती है। किसी भयानक घटना के प्रभाव को सोचिये तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। आतंकित होने पर बुद्धि स्वभावतः अस्तव्यस्त हो जाती है; घबड़ाहट होती है, कोई उपाय नहीं सूझता, आँखों के आगे अँधेरा छा जाता है। महाभय उपस्थित होने पर लोगों की बोली ही नहीं, हृदय की धड़कन भी बन्द हो जाती है। वे लाचार हो जाते हैं, अकारण चौंकते हैं, हक्के-बक्के हो जाते हैं, अपने को भूल जाते हैं। उस अवस्था में उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। वे पीछे भले ही भग जायँ, आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि उनके लिये तो भविष्य अन्धकारमय प्रतीत होता है।

भयभीत होने पर मनुष्य अपने कर्त्तव्य का निश्चय नहीं कर पाता। उसे सब-कुछ भयंकर लगता है। न वह अपना विश्वास करता है और न अपने किसी मित्र का। उसे यही सन्देह होता है कि सारी दुनिया उसके पीछे पड़ी है। वह सहस्र नेत्रों से चारों ओर देखता है और जहाँ देखता है, वहाँ उसे भय की ही एक-न-एक मूर्ति दिखाई पड़ती है। चोर प्रत्येक झाड़ी में सिपाही की शंका करके चौंकता है। एक रूसी कहावत है जिसका अंगरेज़ी रूपान्तर यह है—'Fear has many eyes. He fearing the wolf enters not the forest.' इसका भावार्थ यह है कि भय के

असंख्य नेत्र होते हैं; जिसके मन में भेड़िये का भय रहता है, वह (भेड़िये के न होने पर भी उसकी कल्पना करके) जंगल में प्रवेश ही नहीं करता। इस प्रकार संशयालु मनुष्य कर्त्तव्यच्युत और लक्ष्यहीन होकर बैठ जाता है अथवा बेसिर-पैर के काम करने लगता है। 'संशयात्मा विनश्यति' —गीता।

भय-सन्त्रस्त मनुष्य किस प्रकार कर्त्तव्य से चूकता है, इसका एक सुन्दर उदाहरण हम अध्यात्म रामायण से देते हैं। राम-विवाह के समय जब 'कोटिसूर्यप्रतीकाश विद्युत्पुंजसमप्रभम्' तेजोराशि क्षत्रिय-मर्दन परशुराम पधारे, उस समय महाराजा दशरथ उन्हे देखते ही भय-कातर हो गये और अर्घ्यादि से उनका यथोचित स्वागत-सत्कार करना भूलकर अकारण 'रक्षा करो, रक्षा करो' चिल्लाने लगे। इसके बाद वे दण्डवत् प्रणाम करके याचक की भाँति बोले—'मुझे पुत्र के प्राणों का दान दीजिये।' महाप्रतापी परशुराम ने इस प्रकार दीन वाणी बोलते हुये राजा की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।—

"तं दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तो राजा दशरथस्तदा।
अर्घ्यादिपूजां विस्मृत्य त्राहि त्राहीति चाब्रवीत्॥
दण्डवत्प्रणिपत्याह पुत्रप्राणं प्रयच्छ मे।
इति ब्रुवन्तं राजानमनादृत्य रघूत्तमम्॥"

—बालकाण्ड।

बड़े-बड़े भी भयाकुल होकर इसी प्रकार असावधान, पुरुषार्थहीन और दयनीय हो जाते है। साधारण व्यक्ति के तो होश-हवास उड़ ही जाते हैं। भय से जब चित्त व्याकुल हो जाता है, तब बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य हो ही नहीं सकते।

(ग) *नीचता*:—भय से मनुष्य के स्वभाव में नीचता आ जाती है। इसका रहस्य यह है। भय से आत्मदुर्बलता होती है और आत्मदुर्बलता से ही मनुष्य के प्रायः सभी रोग-दोष उत्पन्न होते हैं। जर्मनी के सुप्रसिद्ध

दार्शनिक विद्वान् नीत्शे ने कहा है—'What is evil? Whatever springs from weakness.' अर्थात्—बुराई क्या है ? कमज़ोरी के कारण जो होता है या किया जाता है वही बुराई है । आत्मभीरुता के कारण जब मनुष्य का अन्तर्बल क्षीण हो जाता है तब वह स्वभावतः नीच कर्म में प्रवृत्त होता है ।

इसका मनोवैज्ञानिक रहस्य समझने के लिये सर्प के स्वभाव को देखिये । सर्प बड़ा ही भीरु जीव है, परन्तु किसी को सामने पाकर वह उसे बड़ी निर्दयता से काट खाता है । उसे यह आशंका रहती है कि कहीं मनुष्य उसी को न मार डाले, अतएव अपनी प्राण-रक्षा के लिये वह दूसरे का प्राण-हरण करने में नहीं चूकता । मनुष्य भी इसी प्रकार साँप से डरकर उसको अकारण भी मार डालता है । इससे यह स्पष्ट है कि भय से हिंसा-वृत्ति का पोषण होता है । बलवानों से भयभीत होकर ही तो कायर लोग उनकी हत्या करते है अथवा उनपर पीठ-पीछे वार करते हैं । निन्दा, षड्यन्त्र और प्रत्येक गुप्त अपराध के पीछे यही भावना रहती है । कापुरुषों को जिससे स्वार्थ-हानि की आशंका होती है, उसके विनाश के लिये वे क्रूर चेष्टा करते हैं । कायरता क्रूरता के लिये प्रेरित करती है । बात यह है कि भय में स्वार्थ प्रबल हो जाता है । उस दशा में मनुष्य का सद्भावना-रहित एवं हृदय-हीन होना स्वाभाविक है । वह अनुचित उपाय से उस वस्तु या व्यक्ति को नष्ट करने का प्रयत्न करता है, जिससे उसको किसी प्रकार का भय होता है । कायर मित्र से साहसी शत्रु अच्छा माना जाता है क्योंकि कायर व्यक्ति अपने मित्र का उत्थान देखकर भी आशंकित हो सकता है । उस दशा में वह मित्र को भी नीचा दिखाने की चेष्टा करेगा । उसका विश्वास नहीं किया जा सकता । इसके विपरीत, साहसी शत्रु से यह विश्वास रहता है कि वह छल-कपट न करके जो-कुछ करेगा सामने करेगा ।

भय अनेक नैतिक अपराधों के मूल में रहता है । उदाहरणार्थ—कायर लोग दुःख के भय से आत्महत्या या अन्य कोई लज्जाजनक कार्य

करते हैं; भूखों मरने या मेहनत के भय से चोरी करते हैं; दूसरों के सामने निर्बलता न प्रमाणित हो—इस भय से निर्बलों पर अत्याचार या उद्दंडता का प्रदर्शन करते हैं; दरिद्रता के भय से कृपण हो जाते हैं; दंड के भय से झूठ बोलते हैं; स्वार्थ-हानि के भय से अत्याचारियों का साथ देते हैं—आदि-आदि। भय-वश इस प्रकार लोग कितने ही ओछे कर्म करते हैं जिनसे उनके चारित्रिक पतन के साथ-साथ सभ्यता का भी ह्रास होता है।

(ब) *स्वास्थ्य-हानि* :—मनुष्य के मानसिक स्वास्थ्य पर ही नहीं, शारीरिक स्वास्थ्य पर भी भय का बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। आत्म-ग्लानि, हृत्कंपन, अवसन्नता, चिन्ता, शोक, व्याकुलता, शक्तिक्षय, रोमांच आदि उसके साधारण लक्षण हैं। भय से चेहरा फीका पड़ जाता है, आँखें निकल आती हैं, मुख्य-मुख्य अंग संकुचित हो जाते हैं। शरीर से पसीना निकलता है और प्रायः लोग मूर्च्छित, बेचैन या पागल हो जाते हैं और मर भी जाते हैं।

भय में स्मरणशक्ति का लोप तो तत्काल होता है; प्रायः लोग अपना नाम तक भूल जाते हैं। दृष्टि भी मन्द हो जाती है। भय की तीव्रता मे सामने रक्खी हुई वस्तु भी नहीं दिखाई पड़ती। यह इसका प्रमाण है कि भय से नेत्रों की ज्योति मन्द होती है। नेत्रो का ही नहीं, उससे स्वयं आत्मा का भी तेज मन्द हो जाता है।

वैज्ञानिको के कथनानुसार भय अनेक व्याधियों का एक मुख्य कारण है। उससे दमा, प्रमेह, हृद्रोग, अनिद्रा, अजीर्ण, पाण्डु, पथरी, गठिया, ज्वर, स्नायुदौर्बल्य, उन्माद, रक्तप्रसार और नपुंसकता आदि उत्पन्न होते हैं। भय की साधारण अवस्था में भी इन रोगो के सहज लक्षण दिखाई पड़ते हैं। भय-शंका से पीड़ित होने पर मनुष्य की स्वाभाविक शक्ति तो क्षीण हो ही जाती है, इसके अतिरिक्त दुर्वासनाओं की तीव्रता से शरीर में एक प्रकार का अन्तर्विष स्वतः उत्पन्न होने लगता है। नाश की शंका

से शरीर के भीतर सचमुच नाश-क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, बीमारी का भय मनुष्य को सचमुच बीमार बना देता है, मृत्यु के भय से मृत्यु जल्दी आती है। इन सबके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। भय शरीर को भीतर से इतना अशक्त और दोषयुक्त बना देता है कि उसकी प्रकृति बाहर के रोग और विष के आक्रमण से अपने को सुरक्षित नहीं रख सकती। सर्पविष का प्रभाव निर्भय व्यक्ति की अपेक्षा भयशील व्यक्ति के शरीर में दस गुना तेज होता है।

वास्तव में, भय से मनुष्य की आत्मिक, मानसिक एवं शारीरिक क्षति तो होती ही है, साथ ही सामाजिक जीवन भी दूषित हो जाता है। उससे तामसी भावों की वृद्धि होती है। भय एक संक्रामक रोग है—एक का भय दूसरे को पकड़ लेता है, प्रारम्भ में छोटा होकर बहुत शीघ्र बढ़कर व्यापक और प्रबल हो जाता है। अपने व्यक्तित्व के विकास, पुरुषार्थ की सिद्धि और सुख-शान्ति-सभ्यता की वृद्धि के लिये भय को निर्मूल करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। कम-से-कम इस समय जबकि जीवन चारों ओर से आशंकामय है,—सर्वसाधारण के लिये भीतर से निर्भय और बलवान् होना आवश्यक है। इस युग में ध्यान से देखिये तो कितने ही प्रकार के भय सर्वसाधारण को दिन-रात घेरे रहते हैं। उदाहरणार्थ—युद्ध का भय, संहारक अस्त्र-शस्त्रों का भय, सुसंगठित अत्याचारियों का भय, संघातक रोग के कीटाणुओं का भय, भूखो मरने का भय, चोरी-डाके का भय, शत्रुओ का भय, मित्रों से विश्वास-घात का भय, लड़कों के बिगड़ने का भय, प्रतिष्ठा-हानि का भय आदि-आदि। भय से चारों ओर भगदड़ मची है, लोग आत्म-रक्षा के लिये बेचैन हैं। रक्षा के स्थान ही भय के स्थान बन गये हैं। ऐसी दशा में हमारा अन्तर्बल ही हमारा सहायक हो सकता है। उसके लिये हमारे प्राणों में निर्भयता चाहिये। इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द की यह शिक्षा मान्य है—

"बल पुण्य है और दुर्बलता पाप है। यदि किसी धर्म की शिक्षा देनी है तो 'अभयत्व' रूपी धर्म की शिक्षा देनी चाहिये।...आवश्यकता है कि

हमारे रक्त में गर्मी हो; स्नायुओं में शक्ति हो...निस्सन्देह किसी को हानि न पहुँचाओ और किसी पर अत्याचार न करो, पर दूसरे की कुचेष्टाओं को चुपचाप सहन कर लेना पाप है।"

भय-मुक्त होकर ही मनुष्य सम्मानपूर्वक अपने कर्त्तव्य-पालन में समर्थ हो सकता है।

भय को कोई जान-बूझकर अपने भीतर नहीं पालता। किसी को वह हृदय से प्रिय नहीं है। इसीलिये तो जिस वस्तु में भय दिखाई पड़ता है, उससे लोग अनुराग नहीं करते। भय से सबको मनोव्यथा होती है और कभी-कभी वह इतनी असह्य हो जाती है कि उससे मुक्ति पाने के लिये लोग आत्महत्या तक कर लेते हैं। हृदय भय का भार नहीं उठा सकता। सभी उससे छुटकारा चाहते हैं और उसके लिये अनेक प्रकार के उपाय भी करते हैं; जैसे—बहुत से लोग बन्दूक-पिस्तौल रखते हैं, रक्षक नियुक्त करते हैं, दल बाँधते हैं, पक्के मकानों में रहते हैं, ताले लगाते हैं, अफ़सरों की खुशामद करते हैं, भागे-भागे फिरते हैं, रिश्वत देते हैं, फूंक-फूँककर क़दम रखते हैं, टानिक पीते हैं, टीका लगवाते हैं, तावीज़ बाँधते हैं, भैरव को पूजते हैं, संकटमोचन का पाठ करते हैं, दूसरों का गला काटते हैं, आदि-आदि। इन बातो से सिद्ध होता है कि भय से मुक्त होना मनुष्य के लिये स्वाभाविक है, तभी तो सब उसके लिये चेष्टा करते है।

कृत्रिम उपायो से किसी प्रकार का भय कम भले ही हो जाय, परन्तु उनके द्वारा वह मिट नहीं सकता। एक भय टलेगा तो दूसरा आ जायगा। ऊपरी काँट-छाँट से वह प्रायः पौधे की तरह बढ़ता है। बाह्य साधनों की सहायता से कोई विपत्ति टाली जा सकती है, मन की कायरता नहीं मिटाई जा सकती। पुलिस-पलटन के भरोसे सुरक्षित होने से या तलवार-तमंचा-तावीज़ लटकाने से भय का अस्तित्व नहीं मिटता। गाँधीजी ने ठीक ही कहा है—'तलवार शौर्य की संज्ञा नहीं, भय की निशानी है।' भागने से भी भय दूर नहीं होता, वह तो पीछे पड़ा ही रहता है। भागने वाला ही लड़खड़ाता है, खदेड़ने वाला नहीं थकता। भय को पहचानकर

उससे भिड़ने में लाभ है। जिन कारणों से भय उत्पन्न होता है उनके निराकरण से ही उसका निवारण हो सकता है।

५—भय के कारण

भय के कारणों पर विचार करने के पूर्व यह स्मरण रखना चाहिये कि भय किसी भावी आपत्ति की आशंका से उत्पन्न होता है। वास्तव में, अनिष्ट-शंका ही भय है। अथवा यह कहिये कि शंका से भय होता है। भयंकरता वस्तु-विशेष में नहीं, मुख्यतः मनुष्य के मन की शंका में होती है। शंका क्यों होती है और किसको होती है, यही मुख्य रूप से विचारणीय है।

(क) *कुसंस्कार* :—शंका का एक प्रधान कारण है—संस्कार-दोष। बहुत से लोग जन्म से ही संशयी, भीरु और कापुरुष होते हैं; बहुत-से बचपन के कुसंस्कारों के प्रभाव से ऐसे हो जाते हैं। प्रत्येक विषय में शंका करना, प्रत्येक वस्तु से आतंकित एवं नित्य सन्देह-ग्रस्त रहना उनका स्वभाव बन जाता है।

स्वभाव के विकृत होने पर मनुष्य के मन में निराधार शंकायें उठती हैं। इसके अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं।—बचपन में डराने-धमकाने से बच्चों के स्वभाव में दब्बूपन आ जाता है, आगे चलकर वे दूसरों से अकारण भी डरने लगते हैं। भूत-प्रेत आदि में अन्धविश्वास होने से मिथ्या-धारणायें स्वभावभूत हो जाती हैं। परिणामतः भूत न होने पर भी अँधेरे में भूत की शंका होती है। इसी प्रकार किसी वस्तु से घृणा या हानि की कल्पना करते-करते लोगों में उससे शंकित-आतंकित रहने की प्रवृत्ति हो जाती है। बहुत-से लोग छिपकली से शंकित रहते हैं, बहुत-से स्त्री-मात्र से डरते हैं। भय-शंका का कारण न होने पर भी उनके मन में बैठी हुई मिथ्या वासना उन्हें कँपाती है। वैसा ही हाल है जैसे 'जू-जू' की कल्पना करके बच्चे चौंकते हैं। मन में शक होने पर मनुष्य मिथ्या कारणों से अकार्य की कल्पना करने ही लगता है। मूढ ही नहीं, बड़े-बड़े विद्वान् भी

शकों के शिकार हो जाते हैं। चिन्ता करते-करते तिल का ताड़ बनाना, आपत्ति न होने पर भी उससे बचाव की तैयारी में निरन्तर लगे रहना, भयानक काण्डों की कल्पना करके भयभीत रहना संशयशील व्यक्तियों का व्यसन हो जाता है। 'आधी रात खाँसी आवे; साँझ ही से मुँह बावे'— उन्हीके लिये कहा गया है। ये सब स्वभाव के संस्कार-दोष हैं।

आत्मक्षुद्रता भी एक भयंकर स्वाभाविक दोष है। प्रायः लोगों के मन में इस तरह की भावना स्थान कर लेती है कि हम तुच्छ हैं, दूसरे हमसे प्रत्येक बात में श्रेष्ठ हैं; हममें अनेक बुराइयाँ हैं और दूसरे निर्दोष हैं; हमसे गलती हो ही जाती है, दूसरे किसी काम में ग़लती कर ही नहीं सकते और सारी दुनिया हमारी त्रुटियों की छानबीन में लगी है। उन्हें यह शंका होती है कि सारा विश्व उनके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा है। उससे बचने के लिये या तो वे मुँह छिपाये घूमते हैं अथवा ऊपरी बनावट या पेशबन्दी करते हैं। आत्मविश्वास की कमी के कारण वे किसी का विश्वास नहीं करते और प्रायः इसी शंका से व्याकुल रहते हैं कि कहीं दूसरे हमें दबा न लें हमारा उपहास या अपकार न करें।

एक विचित्र प्रकार की भावना और होती है, उसे चाहे सनक कहिये, चाहे झक या शक अथवा सन्त्रास। संभवतः पूर्वजन्म के संस्कारों के प्रभाव से बहुत-से लोगों को किसी एक वस्तु अथवा किसी विशेष ढंग के कार्य से अकारण चिढ़ और शंका हो जाती है। उससे वे अकारण घबड़ाते हैं। पागल कुत्ते के काटने पर जैसे लोगों को जलांतक हो जाता है, उसी प्रकार बहुतों को अकेलेपन से एक विचित्र प्रकार के आतंक का अनुभव होता है। इसे अंगरेज़ी में Monophobia कहते हैं। बहुतों को भीड़-भाड़ से, बहुतों को सभा-समाज से और बहुतों को रेलयात्रा से बड़ी झिझक होती है। वैज्ञानिक भाषा में इन्हें क्रमशः Agoraphobia, Anthrophobia और Sideromophobia कहते हैं। प्रतिभाशाली विद्वान् भी इस प्रकार के कुसंस्कारों से पीड़ित मिलते हैं। उदाहरणार्थ, जर्मनी का बहुमान्य दार्शनिक शापेनहौर नाई के छुरे से इतना आतंकित रहता था कि उसने उससे

बचने के लिये अपनी दाढ़ी जानबूझकर जला डाली। दाढ़ी के रहने से बार-बार उसे छुरे का ध्यान आता था और वह भय से काँपने लगता था। फ्रांस का प्रसिद्ध प्रहसनकार मोलियर रोग की कल्पना-मात्र से घबड़ाता था। स्वस्थ रहने पर भी वह अपने को एक-न-एक रोग से पीड़ित मानता था। विश्व-विख्यात कहानी-लेखक मोपाँसा प्रायः अपनी बैठक में अपने सामने की कुर्सी पर अपने ही प्रेत को बैठा देखकर चौंकता था। इस प्रकार की शंकाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। ऐसे ही शकों के लिये कहा जाता है कि इनका इलाज हकीम लुकमान के पास भी नहीं था।

कुसंस्कारों से किस प्रकार की शंकायें उत्पन्न होती हैं, इसका थोड़ा-बहुत परिचय ऊपर के उदाहरणों से मिल जायगा। अब भय-शंका के अन्य कारणों पर, संक्षेप में, विचार कीजिये।

(ख) *अज्ञान* :—अज्ञान भय का मुख्य कारण माना जा सकता है। भव-भय अज्ञान अथवा अनात्मज्ञान से होता है। अज्ञान-वश ही मनुष्य भ्रम-सन्देह में पड़कर कुछ-का-कुछ मान लेता है। उसी के कारण लोग अतथ्य को तथ्य मानकर धोखा खाते हैं। भय के प्रायः सभी भूत अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य की बुद्धि जब दुविधा में पड़ जाती है अथवा किसी विषय में प्रवेश नहीं कर पाती तब शंकाये सामने खड़ी हो जाती है। यथार्थता का बोध होने पर शंका मिट जाती है। जिस वस्तु को लोग जानते-पहचाते नहीं, उसके प्रति उनका शंकित होना स्वाभाविक है। टोमैटो को पहले विषफल मानकर कोई छूता भी नहीं था। इसी प्रकार नार्वे वाले पहले-पहल लाल गुलाब के पौधे को अंगार-वृक्ष समझकर उसके पास जाने से भी डरते थे। अज्ञान इसी प्रकार भयोत्पादक होता है।

(ग) *स्वानुराग* :—भौतिक जीवन के प्रति अत्यधिक ममता होने से मनुष्य को अनेक भय सताते हैं; जैसे—मृत्यु-भय, जीविका-नाश का भय, रोग-भय, दुःख का भय, दंड का भय, ऋतु-परिवर्तन का भय, बुढ़ापे

का भय, शत्रु-भय, दरिद्रता का भय, चोट लगने का भय, ऐटमबम का भय, दुर्भाग्य का भय, शक्तिशाली अधिकारियो का भय, वियोग का भय और मान-मर्दन का भय, आदि। स्वार्थ का ही ध्यान रखने से हानि की आशंका चारो ओर से बनी ही रहती है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते है।

किसी अधिकार-लोलुप को देखिये। वह चाहे जितने ऊँचे पद पर हो, उसे अपने द्वेषियों से सदा शंका बनी रहती है। दूर वालो की अपेक्षा निकट वालो से ही उसे विशेष भय लगता है। 'मुद्राराक्षस' में महामति राक्षस ने ठीक ही कहा है कि उच्चपदस्थ लोगो की बुद्धि कही नीचा न देखना पड़े इसी की कल्पना मे लगी रहती है—'मतिः सोच्छ्रायाणां पतनमनुकूलं कलयति।' निर्दोष व्यक्ति को भी ऊँचे पद से गिरने का महाभय नित्य लगा रहता है—'अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशंकास्थानम्'—मुद्राराक्षस। किसी भी प्रकार के भौतिक सुख और ऐश्वर्य में अत्यधिक आसक्त होने से उसके छिन जाने का भय होता है।

(घ) *पाप* :—प्रत्येक पाप चाहे वह मानसिक हो या शारीरिक अपराधी के सामने प्रेतवत् प्रकट होकर उसे भयभीत करता है। बुरे विचारों के साथ ही नाना शंकायें स्वतः मन में उठने लगती है। ईर्ष्या-द्वेष वाले बिना अपराध के भी दूसरो से डरते है, शंका करते है। उनकी दुर्भावनायें उन्हें सत्त्वहीन बना देती है। इसीसे प्रकट होता है कि पाप कितना भयंकर है।

जो लोग पाप करते है उनकी मनोदशा पर ध्यान दीजिये। उन्हें अपने पाप की छाप बाहर दिखाई पड़ती है। भ्रष्टाचार या पुण्य के नाम पर पाप करने वाले नित्य शंकित रहते है कि कहीं पोल न खुल जाय, कहीं फँस न जायँ। उन्हें किसी धर्मात्मा या अधिकारी से नही, बल्कि अपने पाप से भय लगता है। भीतर का पाप उन्हे डराता है। अन्यायी, अत्याचारी अपने अनाचार की प्रतिक्रिया से डरता है। उसे यह भय रहता

है कि जिसका अहित किया है, वह बदला न ले अथवा अपराध का दंड न भोगना पड़े। उसे स्वप्न में भी व्यग्रता रहती है। दुराचारी, चोर-बदमाश, धूर्त, झूठे, स्वेच्छाचारी कभी साहसी नहीं होते क्योंकि उनका नैतिक पतन हो जाता है। उनका दुस्साहस उन्हें कायर बना देता है। उनके अपकार के साथ ही प्रत्यपकार का भय चिपका रहता है। 'चरन धरत संका करत।'

(ड) *शक्ति-हीनता* :—शक्तिहीनता, चाहे वह नैतिक हो या मानसिक अथवा शारीरिक, भय उत्पन्न करती है। इसका एक सीधा प्रमाण यही है कि शक्तिहीन व्यक्ति विवश होकर बलवान् की इच्छा का सम्मान करता है। उसकी निर्बलता उसे सिर नहीं उठाने देती।

नैतिक दुर्बलता के सम्बन्ध में ऊपर कुछ संकेत किया जा चुका है। अब मानसिक निर्बलता के कुप्रभाव पर विचार कीजिये। मन जब विषयासक्ति, भावुकता, चंचलता, असहिष्णुता या अन्य किसी कारण से निर्बल हो जाता है तब कठिनाइयों की कल्पना से भी भय लगता है। उस अवस्था में लोग निरपराध होते हुये भी डरते हैं कि कहीं कुछ हो न जाय, कहीं कोई विपत्ति न टूट पड़े। मानसिक सुकुमारता में बाह्य परिस्थितियाँ बड़ी भारी लगती हैं, साधारण दुःख से भी अनिष्ट-शंका होती है।

शरीर की निर्बलता में भय कितना व्यापक हो जाता है, इसे किसी बीमार से पूछिये। वह हवा से डरता है, पानी से डरता है, अपने शरीर से भी डरता है कि कहीं वह धोखा न दे जाय। जिसकी पाचनशक्ति निर्बल होती है उसे स्वादिष्ट भोजन में भी अजीर्ण का भय दिखाई पड़ता है। स्नायविक विकारों से पीड़ित व्यक्ति छोटी-छोटी बातों से भी चिन्तित हो जाता है। शारीरिक निर्बलता में रोग-शोक का भय लगा ही रहता है। अयोग्यता और सामर्थ्यहीनता के कारण मनुष्य का भयभीत होना स्वाभाविक है क्योंकि संघर्षमय जीवन में इनसे पराभव की आशंका होती है।

सहायक-बल भी साधारण मनुष्य का एक बड़ा भारी बल है। उसकी क्षीणता भयकारक है। कोई जब साथ रहता है तो बाहरी संकटों से भय नहीं लगता, परन्तु अकेला होने पर तो अपना घर ही फाड़ खाता है। निस्सहायावस्था में इस प्रकार की शंकायें स्वतः उठती हैं—कोई अपना नहीं है, समय पर कौन काम आयेगा, चार आदमी मिलकर हमें लूट लें तो कोई बोलने वाला नहीं है, हमारी कोई भी वस्तु सुरक्षित नहीं है, आदि-आदि। स्त्री, बन्धु-बान्धव और मित्र आदि की बात तो जाने दीजिये, कामकाजी नौकर भी जब छोड़कर चला जाता है तो काम के बिगड़ने की शंका होती है।

(च) *अकर्मण्यता* :—आलस्य और भय का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। अकर्मण्यता के साथ निर्धनता एवं भावी असफलता की आशंका अनिवार्य है। आलसी व्यक्ति तो अपने काम से भी डरता है। दुर्भाग्य का भय सबसे अधिक उसी को होता है। एक-न-एक अशुभ चिन्ता उसे दिन-रात घेरे ही रहती है।

सारांश यह है कि 'संसार में सहस्रों शोक के स्थान हैं और सैकड़ों भय के हैं, परन्तु ये प्रतिदिन मूर्ख को प्राप्त होते हैं, पण्डित को नहीं।'—

"शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे-दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥"

—महाभारत।

हमें अब यह देखना चाहिये कि बुद्धिमान् लोग किन-किन स्वाभाविक साधनों की सहायता से भय-शंका का निवारण या उपचार करते हैं।

६—भय का उपचार

(क) *आत्मशुद्धि* :—आत्मशुद्धि भय की अमोघ औषधि है। दुर्भावनाओं का दमन सद्भावनाओं से ही होता है। यदि अपनी प्रकृति ठीक रहे तो अप्राकृतिक वृत्तियाँ स्वतः निर्मूल हो जायँगी। कौटिल्य का मत है कि

जो स्वयं अशुद्ध है, वह दूसरों के प्रति शंका करता है—'स्वयं अशुद्धः पराशङ्कते।' शुद्धात्मा को भय नहीं सताता। मनुष्य को आत्मनाशक वासनाओं से मुक्त होकर स्वभाव से और चरित्र से पवित्र होना चाहिये।

(ख) *मनस्विता* :—संख्यावल और स्थानवल के भरोसे कोई व्यक्ति निर्भय और निश्चिन्त नहीं हो सकता। युधिष्ठिर के पास रक्षको की कमी नहीं थी; स्वयं भगवान् कृष्ण उसके सहायक थे। फिर भी वह दिन-रात दूसरो के आगे गिड़गिड़ाता ही रहता था। उसकी निर्मनस्विता ने उसे त्राहिवादी और दीन वना दिया था। कोई उसे खदेड़ता नहीं था, फिर भी वह यह सोचकर चौंकता और भागता था कि सव उसके पीछे पड़े है।

मनुष्य को स्वात्माभिमानी, स्वावलम्वी और प्रगल्भ होना चाहिये। वलवान् हृदय किसी भी परिस्थिति में परास्त नहीं होता। उससे भय उसी प्रकार दूर रहता है जैसे धूप से जाड़ा। मन से मेमना होने पर भय के भेड़ियों से मुक्ति कैसे मिलेगी?

(ग) *श्रद्धा-विश्वास* :—श्रद्धा-विश्वास में भय को नष्ट करने की अद्भुत शक्ति है। मनुष्य जिस समय विषम स्थिति में श्रद्धापूर्वक ईश्वर का ध्यान करता है, वह सचमुच निर्भय हो जाता है। उस समय निस्सहायावस्था का भय नहीं रहता क्योकि उसे अनुभव होता है कि ईश्वर साथी है। श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान् का नाम लेने से ही वहुत-से भव-भय नष्ट हो जाते है। तभी तो गांधी जी राम-नाम को अभय का मंत्र मानते थे। श्रद्धा-विश्वास से दैवी वल प्राप्त होता है। महामुनि व्यास ने कहा है कि श्रद्धा-विश्वास से तीनों लोक जीते जाते है।

अपने भीतर रहने वाले ईश्वर के प्रति श्रद्धा होने से मनुष्य को अपनी दिव्यता और अमरता की अनुभूति होती है। उस समय उसे नाश का भय कैसे हो सकता है? मनुष्य को अपने उस अविनाशी पुरुष का ध्यान आता है जो न कभी वुड्ढा होता है और न मरता है। वह अपने चारों ओर अनन्त आध्यात्मिक शक्तियो को अपने अनुकूल कार्य करते

देखता है। आध्यात्मिक भावना की प्रबलता से भौतिक विकार अपने-आप नष्ट हो जाते है।

भय की चिकित्सा श्रद्धा-विश्वास के द्वारा उत्तम रीति से होती है। प्राचीन काल में मृत्यु-भीत रोगाक्रान्त व्यक्तियों का मानसोपचार श्रद्धा-विश्वास के मन्त्रो से होता था। उन्हे यह स्मरण दिलाया जाता था कि 'तुम मित्रो तथा अमित्रों से भी निर्भय हो; जाने और न जाने हुये पुरुषों और स्थानों से भी, दिन और रात्रि में भी निर्भय हो; सब दिशायें तुम्हारी मित्र हो रही है; परमात्मा सब प्रकार से तुम्हारा रक्षक और सहायक है।'—

"अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वाः आशा मम मित्रं भवन्तु॥"

—अथर्ववेद।

सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर वासुदेवशरण ने 'कल्याण' के 'हिन्दू-संस्कृति अंक' में अथर्ववेद के कुछ सुन्दर सूक्त प्रकाशित किये है। इन्हें हम सर्व-साधारण के लिये आत्म-प्रबोधन का मन्त्र कहते है। भय का निराकरण इस प्रकार की भावनाओ से ही होता है।—

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥
यथा वायुश्चान्तरिक्षं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥
यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः एवा मे प्राण मा रिषः॥

(जिस प्रकार द्यौ और पृथिवी न डरते है और न क्षीण होते है, हे मेरे प्राण! उसी प्रकार तुम मत डरो, मत क्षीण हो। जिस प्रकार

वायु और आकाश न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण......। जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण......। जिस प्रकार दिन और रात्रि न डरते हैं और न क्षीण होते हैं, हे मेरे प्राण......।)

इस प्रकार की आध्यात्मिक भावना से ही हृदय वस्तुतः सशक्त और शान्त बनता है। मनुष्य को यह स्मरण रखना चाहिये कि जीवन का उद्देश्य जीवन स्वयं है। प्राकृतिक शक्तियाँ प्रत्येक क्षण, जीवन-रक्षा में तत्पर हैं। उन पर और स्वयं अपनी प्राणशक्ति पर भरोसा रखना चाहिये।

एक विलायती विचारक ने कहा है कि मनुष्य जितना ही अधिक आत्मनिष्ठ होता है, उतना ही अधिक वह आत्म-नियन्त्रण में तथा भय जैसी दुर्भावनाओं के दमन में समर्थ होता है। हृदय की दृढ़ता और विशालता के कारण वह घोर संकट में पड़ने पर भी मिट्टी के ढेलो की भाँति चूर नहीं हो जाता। दुर्बलहृदय और हृदयहीन व्यक्ति तो बिना मारे ही मर जाता है अथवा अपने हाथो अपनी हानि कर लेता है क्योंकि वह पहले से ही अचेत और अस्तव्यस्त होता है।

उसी विचारक ने भय को जीतने का एक अनुभूत प्रयोग बताया है, उससे भी श्रद्धा-विश्वास का महत्त्व सिद्ध होता है। उसका कथन है कि किसी भी विपत्ति में श्रद्धा-विश्वास का परित्याग मत करो। स्तब्ध या विक्षुब्ध न होकर स्वस्थ और शान्त रहो। इसका ध्यान रक्खो कि तुम्हारी जड़ न हिले, तुम्हारी आत्मा का प्रभाव क्षीण न हो, तुम्हारा आत्मतेज मन्द न हो। संकट में आत्म-रक्षार्थ तुम्हारी आत्म-निष्ठा और भी प्रबल होनी चाहिये। ऐसा होने से तुम्हारी बुद्धि भी ठिकाने रहेगी और उसी आपत्ति में से आपदोद्धार का कोई-न-कोई रास्ता निकल आयेगा। किसी भी परिस्थिति में अपनी आत्मा को पतित, विचलित या चकनाचूर न होने दो। यदि कोई तुम्हारी हत्या करने के लिये भी आता है तो हताश होकर तत्काल आत्मसमर्पण मत करो। उसके अहित का

कोई अशुभ कामना मत करो। आत्मस्थित होकर उसे अपराध में बचाओ, उसे सीधे रास्ते पर लाओ। इस बात को याद रक्खो कि प्रत्येक व्यक्ति में, चाहे वह कितना ही क्रूर और नीच क्यों न हो, मनुष्यता का कुछ-न-कुछ अंश होता है। सब एक ही चेतना-सूत्र से बंधे हैं। बाहर में भिन्न होते हुये भी सब हृदय से अभिन्न हैं। अतएव किसी को अपनी पहुँच से बाहर मत समझो। यदि कोई व्यक्ति अपनी मनुष्यता को भूलकर, हृदयहीन होकर, तुम्हारा अपकार करना चाहता है तो उसकी मनुष्यता को जगाओ, उसके हृदय की सद्भावनाओं को आन्दोलित करो—उस पतित का उद्धार करो। जो अपने को भूलकर कुमार्ग में पैर रखने जा रहा है उसे उसकी याद दिलाओ, सावधान करो। तुम्हारे प्रभाव में उसकी मनुष्यता जाग जायगी तो वह पशुवत् आचरण कदापि न करेगा। तुम सहृदयतापूर्वक उससे आत्मीयता उत्पन्न करने की चेष्टा करो। उसके हृदय को जीत लो तो उसका हाथ तुम्हारे ऊपर कदापि न उठेगा। यह तभी हो सकता है जब तुम्हारा हृदय स्वयं पवित्र, शान्त और प्रकाशमान् हो। तुम्हारे दैवी प्रकाश से दुष्ट-हृदय की भी मलिनता दूर हो जायगी। उसके विचारों में क्षणमात्र में परिवर्तन हो सकता है। इसके अनेक प्रमाण हैं। महान् आत्माओं के आगे सिंह भी बकरी-जैसे बन जाते हैं, महादुष्ट भी दुष्टता भूल जाते हैं, शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। श्रद्धा-विश्वास के साथ शुभ प्रयत्न करो। शुभ प्रयत्न का परिणाम भी शुभ ही होगा। हिम्मत न हारो।

तात्पर्य यह है कि आशंका उत्पन्न होने पर मनुष्य को अधिकाधिक निर्भय और सावधान रहना चाहिये। नर के भीतर रहने वाले नारायण के प्रति श्रद्धा-विश्वास का भाव रखकर वह सब प्रकार के सांसारिक भय-संकटों पर विजय प्राप्त कर सकता है।

(घ) *ज्ञान* :—ज्ञान भय की महौषधि है। कौटिल्य के मत से—'न संसारभयं ज्ञानवताम्'—ज्ञानी को संसार-भय नहीं होता। भय का अन्धकार

विज्ञान-दीपक से नष्ट होता है—'विज्ञानदीपेन संसारभयं निवर्तते'—कौटिल्य। मुनिवर व्यास का कथन है कि जो बुद्धि के प्रासाद पर चढ़ जाते हैं, वे महाभय से मुक्त हो जाते हैं—'प्रज्ञाप्रासादमारुह्य मुच्यन्ते महतो भयात्'—वनपर्व। जगद्गुरु शंकराचार्य का मत है—'विशोक आनन्दमयो विपश्चित् स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित्'—अर्थात्, शोक-रहित आनन्दमय विद्वान् स्वयं किसी से भी भयभीत नहीं होता।

ज्ञान के विकास से भय का विनाश किस प्रकार होता है—यहाँ हमें इसी पर विचार करना है। किसी बच्चे के जीवन का अध्ययन कीजिये तो यह स्पष्ट हो जायगा। बच्चा जबतक अबोध रहता है, तबतक वह अपनी माँ की गोद छोड़कर अन्य किसी के पास जाने में भी घबड़ाता है। दूसरे उसे अपनाना चाहते हैं, परन्तु वह उनसे अपरिचित होने के कारण उनसे स्वभावतः भयभीत रहता है। थोड़ा बड़ा होने पर वह अपने कुटुम्बियों को जानने-पहचानने लगता है। तब उनसे उसे भय नहीं लगता। परन्तु उस दशा में भी बाहरी लोगों से उसे अकारण अपने अहित की आशंका रहती है। उनसे वह बचना चाहता है। ज्ञान-विवेक की कमी के कारण वह बहुत-सी बातों से अनभिज्ञ रहता है, इसलिये साधारण घटनाओं से चौंकता है और जिस वस्तु को वह नहीं पहचानता उसके सम्बन्ध में एक मिथ्या धारणा बना लेता है। अन्धेरे को वह भूतो का साम्राज्य मानता है, सियार की बोली को मौत की पुकार मानता है और बिल्ली को शेर। इसी प्रकार अनेक विषयो में उसे धोखा होता है। वही बालक जब थोड़ा-बहुत सज्ञान हो जाता है तो उसके अनेक भय अपने-आप मिट जाते हैं। उसे बाहरी लोगो से मिलने-जुलने में झिझक नहीं होती। वह अधिक-से-अधिक लोगों के सम्पर्क में रहना चाहता है। तब न वह रात से डरता है, न सियार से और न बिल्ली से। उसे अपनी ज्ञान-दुर्बलता पर स्वयं हँसी आती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता है, परिपक्व होता है, त्यों-त्यों मनुष्य निर्भय और सबल होता है।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये। कोई भी व्यक्ति जबतक जीवन के यथार्थ स्वरूप से अपरिचित रहता है, तबतक भाँति-भाँति की अनिष्ट-शंकायें उसे दिनरात सताती हैं। उसकी एक बहुत बड़ी शंका तो यही होती है कि कहीं अचानक मृत्यु न आ जाय। शरीरनाशक व्याधियों, रोग के कीटाणुओं और शत्रुओं से वह प्रत्येक क्षण चिन्तित रहता है। शारीरिक कष्टों के भय से वह कर्त्तव्य कर्म में भी हाथ नहीं लगाता। वही व्यक्ति जब जीवन के तत्त्व को समझ लेता है, तब उसे अपने शरीर की परवाह नहीं रहती, तब उसे शारीरिक दुःखों का भय नहीं लगता और तब उसे अकालमृत्यु क्या कालमृत्यु का भी ध्यान नहीं आता। वह इस तथ्य को जानकर शोकरहित हो जाता है कि मरणधर्मा मनुष्य अनाज की भाँति ही पुनः उत्पन्न हो जाता है—'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः'—कठोपनिषद्। उसे इसका विश्वास हो जाता है कि मृत्यु बिना समय कभी नहीं होती, यह निश्चित है—'ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते'—वाल्मीकि। इस दशा में वह मृत्यु-भय से मुक्त होकर अपना कर्त्तव्य करता है। साधारण व्यक्तियों की भाँति उसे रोग के कीटाणुओं के आक्रमण की शंका नहीं होती। डाक्टर लोग चाहे जो कहें, वह इसका अनुभव करता है कि भगवान् की सृष्टि में घातक तत्त्वों की अपेक्षा जीवन-दायक तत्त्व कहीं अधिक हैं और रोग के कीटाणुओं की अपेक्षा जीवाणु अधिक प्रबल हैं, तभी सृष्टि चल रही है। उसे दूसरों में अपने शत्रु की छाया नहीं दिखाई पड़ती क्योंकि वह प्राणिमात्र को अपने-जैसा मानने लगता है। ज्ञान के प्रभाव से विचार और दृष्टिकोण में ऐसा परिवर्तन हो जाता है। उसके द्वारा बहुत-से सांसारिक भयों की जड़ कट जाती है। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिये कि ज्ञानोदय से आध्यात्मिकता का विकास होता है और उसके परिणाम-स्वरूप भौतिक विकार उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्योदय से अन्धकार। मनुष्य स्वस्थ, सचेत, सबल और सक्रिय हो जाता है।

एक और उदाहरण लीजिये। एक मनुष्य जो साइकिल पर चढ़ना नहीं

जानता, वह उसका उपयोग नहीं कर सकता। उसे उसपर बैठने में भी डर लगता है। वही मनुष्य जब साइकिल चलाना सीख लेता है, तब उसका भय निकल जाता है और वह वस्तु उसके काम की हो जाती है। किसी भी व्यवसाय में मनुष्य जबतक दक्ष नहीं होता, तबतक वह उसमें हाथ लगाने से डरता है और उसके लाभ से वंचित रहता है। अनाड़ी आदमी मशीन चलाना नही जानता। उससे मशीन चलाने को कहिये तो वह साहस नहीं करेगा। उसके द्वारा वह अपनी जीविका नही चला सकता। उसी को यदि मशीन चलाने की विद्या मालूम हो जाय तो वह उसको उसी प्रकार निर्भय होकर चलायेगा जैसे कोई लठैत लाठी चलाता है। कला-कौशल का ज्ञान होने पर बेकारी का भय स्वतः दूर हो जाता है। गुणी, क्रिया-विशेषज्ञ को कर्म-हानि की आशंका कहाँ रहती है? उसकी योग्यता उसे हतबुद्धि अथवा निरुपाय नहीं होने देती। उसे अपनी विद्या और कला का भरोसा रहता है। अपने कार्य में वह न तो असमर्थता का अनुभव करता है और न घवड़ाता या छटपटाता है।

स्थानाभाव से इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये हम अधिक नहीं केवल एक उदाहरण और देंगे। किसी देहाती, या कूपमंडूक को देखिये। वह दूसरों से मिलने-जुलने मे डरता है। उसके मन में इस प्रकार के भय रहते हैं कि कही उल्लू न बनना पड़े, हँसी न हो, कोई भद्दी बात मुंह से न निकल जाय, काम न बिगड जाय। एक-न-एक त्रुटि की कल्पना करके वह भीतर-ही-भीतर काँपता है और प्रायः गलती कर भी जाता है। व्यावहारिक ज्ञान न होने के कारण ही तो उसकी यह दशा होती है। इसके विपरीत किसी व्यवहारज्ञ को देखिये। उसे मूर्ख बनने का भय नहीं होता। वह जानता है कि किस समय किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये और किस ढंग से काम निकालना चाहिये। इसलिये वह दृढ़ आत्म-विश्वास के साथ दूसरो के साथ सद्व्यवहार मे नहीं चूकता। व्यवहार-दक्षता से बुद्धि में प्रगल्भता आती है।

इन उदाहरणों से हम यह समझ सकते हैं कि भय के प्रतिकार के

लिये ज्ञान कितना आवश्यक है। वास्तव में, ज्ञान एक दैवी शक्ति है। ऋषियों ने उसे ब्रह्म-स्वरूप माना है। उसके आगे भय के भूत ठहर ही नहीं सकते। उससे बुद्धि की शुद्धि और वृद्धि होती है। मनुष्य को ज्ञानी होना चाहिये। केवल एक विषय का ज्ञानी होना पर्याप्त नहीं है। जीवन का विषय अत्यन्त विस्तृत है। इसलिये मनुष्य को बहुज्ञ होना चाहिये। जो जितने विषयों को जानता है, उसका उतने ही विषयों पर अधिकार होता है। उन विषयों में उसकी बुद्धि भ्रमित और व्याकुल नहीं होती। ज्ञान के अनेक भेद हैं। सबके विषय में यहां कुछ लिखना संभव नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति को आत्मज्ञान, व्यावसायिक ज्ञान और व्यावहारिक ज्ञान अवश्य ही प्राप्त करना चाहिये।

यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रत्येक गुण सदुपयोग से सार्थक होता है। ज्ञान का सदुपयोग प्राचीन ऋषियों के मत से यह है—

"तस्मादात्मसुखं प्रेप्सुरिष्टानिष्टं न चिन्तयेत्।
चिन्तयेच्चेतदाचिन्त्यो मोक्षोपायो न चेतरः॥"

—स्कन्दपुराण।

अर्थात्—'...आत्मसुख की इच्छा रखने वाला पुरुष किसी का अनिष्ट-चिन्तन न करे। यदि कुछ सोचना ही है तो मुक्ति के उपाय का चिन्तन करे और किसी बात का नहीं।' यही ज्ञान का प्रयोजन है। ज्ञान की सहायता से मनुष्य को चैतन्य, प्रत्युत्पन्नमति, युक्तिज्ञ, मर्मज्ञ, सूक्ष्मदर्शी, विवेकी एवं व्यवहारचतुर और कार्यदक्ष होना चाहिये। ज्ञानी होने के ये ही लक्षण हैं।

(ङ) *स्वार्थ-त्याग*:—भय का एक प्रधान कारण है मनुष्य का स्वार्थ। किसी पाश्चात्य पंडित ने कहा है कि प्रत्येक भय के मूल में मनुष्य की स्वार्थपरायणता रहती है।—'At the bottom of all fears lies selfishness.' ध्यान से देखिये तो स्वार्थजन्य भावनाओं के कारण मनुष्य का जीवन सचमुच आशंकामय हो जाता है। शरीर, सम्पत्ति और सुख-

भोग में अत्यधिक आसक्ति उनके नाश की शंका भी उत्पन्न करती है। उनकी रक्षा के लिये मनुष्य को प्रत्येक क्षण चिन्तित और दूसरों से भय-भीत रहना पडता है। धन के मोह के कारण ही तो व्यवसायी लोग सरकारी अधिकारियों से डरते हैं। उन्हे भय रहता है कि कहीं अफ़सर लोग नाराज़ होकर उनके स्वार्थ पर आघात न कर दें। स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही लोग पतित प्रभुओ की भी हाँ-हुजूरी करते हैं। स्वार्थवश ही धनिक लोग चोरों से डरते हैं। कोई त्यागी या निष्काम कर्म करने वाला किसी से नहीं डरता क्योकि न तो उसको अपना मोह होता है और न किसी पराई वस्तु का। त्यागी हमेशा फक्कड़ और निर्भय होता है। उसके मन में पद-प्रभुत्व, धन-वैभव की तृष्णा नहीं होती, इसलिये उसे किसी वस्तु के होने-न होने का हर्ष-शोक नहीं होता। वह किसी की प्रसन्नता-अप्रसन्नता की परवाह भी नहीं करता। मौर्य साम्राज्य का संस्थापक और महामंत्री चाणक्य ऐसा ही त्यागी और तृष्णा-रहित व्यक्ति था। उसे न पद का लोभ था, न प्रभुता का और न राजसम्पत्ति का। इसलिये वह निर्भय होकर अपना कर्त्तव्य करता था। चन्द्रगुप्त को एक बार इस पर आश्चर्य और क्षोभ भी हुआ कि चाणक्य उसका सत्कार क्यो नहीं करता। उसने रहस्य का पता लगाया। रहस्य यह था—'निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः'—मुद्राराक्षस। जिसके मन में कोई लालसा नहीं है, वह बड़े आदमी का मुंह क्यो ताकेगा ? उसकी दृष्टि में तो वह तृणवत् तुच्छ—तिरस्कार के योग्य होता है। जिनका कोई स्वार्थ रहता है, वही ऐश्वर्यशाली पुरुषों से दवते हैं और उनकी हाँ-में-हाँ मिलाते हैं।

स्वार्थ में संग्रह की भावना होती है। संग्रह सदा भय का कारण होता है। फलो से लदे हुये वृक्ष को लोग ढेला मारते ही हैं। जो वस्तु सबके काम की है, उसे पेड़ अपने पास बटोरकर नहीं रख सकता। इसी प्रकार जो लोग अनावश्यक भोग-साधनों का संग्रह अपने लिये करते हैं या करना चाहते हैं लोक उनके विरुद्ध हो जाता है। उन्हें लोक से भयभीत रहना पड़ता है। जो लोग अपना सर्वस्व भगवान् का या जनता का

समझते हैं उन्हे किसी से भय क्यो रहेगा ? त्याग का यही महत्त्व है। निरासक्त होकर ही मनुष्य सच्चे भव-वैभव का उपभोग कर सकता है। गाँधीजी ने ठीक ही कहा है कि देह-सम्बन्धी राग-आसक्ति दूर हो तो अभय सहज ही में प्राप्त हो सकता है...स्वामी न बनकर सेवक रहे तो सहज ही समस्त भयो को जीत लें।

(च) *संयम* :—निर्भयता के लिये संयम भी नितान्त आवश्यक है क्योकि उससे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक बल दृढ़ होता है। बल की दृढ़ता से रोग और शत्रु का भय नहीं रहता। संयम से चित्त स्थिर होता है। दृढ़चित्तता से भय मिट जाता है। आशंका तो चित्त की व्यग्रता, अनिश्चितता के कारण होती है। संयम से सहनशीलता बढ़ती है। सहनशीलता से कष्टो का भय नष्ट होता है। उत्साह-साहस-धैर्य मनोयोग—इन सबके लिये संयम की आवश्यकता होती है। ये सब निर्भयता के आवश्यक अंग हैं। संयम से उन समस्त वासनाओं का दमन होता है जो भय उत्पन्न करती हैं। इसके द्वारा आत्मनाशक व्यसनो से भी मुक्ति मिलती है। खान-पान, आचार-विचार—सब में संयम रखने वाला मनुष्य मृत्यु-भय से भी मुक्त रहता है। इसके विपरीत असंयमी स्वयं अपनी इन्द्रियों और भोग-सामग्रियो से ही डरता है कि कहीं वे क्षीण न हो जायँ। उसे अपने मन पर ही विश्वास नहीं रहता। वृद्धावस्था और अकालमृत्यु का भय तो उसके यौवनकाल में ही उपस्थित हो जाता है। सब प्रकार से निर्भय होने के लिये मनुष्य को शक्तिमान् होना चाहिये और शक्तिमान् होने के लिये संयमी।

(छ) *धर्म (सदाचार)* :—यह एक अनेक युगों का अनुभूत सत्य है कि कर्त्तव्यनिष्ठ धर्मात्मा मृत्यु से नहीं डरते—'मरणान्न बिभेति धार्मिकः।' भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है कि थोड़ा-सा भी धर्म महान् भय से रक्षा करता है—'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।' इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। धर्मानुकूल आचरण से मनुष्य

का आध्यात्मिक बल और तेज बढ़ता है। उनकी वृद्धि से तामसिक भावों का विनाश स्वाभाविक है। कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी सदाचार या कर्त्तव्य का पालन करते समय मनुष्य का हृदय भयभीत या निराश नहीं होता। सच्चा साहस नैतिकता से पैदा होता है। सत्य और न्याय पर दृढ़ रहने से शत्रु क्या मृत्यु से भी डर नही लगता; लोग हँसते-हँसते बलिदान हो जाते हैं। उन्हे यह विश्वास रहता है कि उससे उनकी आत्म-पराजय अथवा दुर्गति नहीं होगी। सचमुच उनकी विजय और सद्-गति ही होती है। झूठे और धूर्त तथा अत्याचारी को क्षणिक सफलता भले ही मिल जाय, परन्तु उससे उनका आत्मपतन हो जाता है। उनके अपराध उनकी आत्मा को भीतर-ही-भीतर यम-दूत की तरह संत्रस्त करते रहते है। उनका नैतिक बल क्षीण हो जाता है। सदाचारी तो जीवन में एक ही बार मरता है, लेकिन दुराचारी एक दिन में ही कई बार मरता है। पुण्य का नाम लेकर पाप करने वालो का कठ तो क्षण-क्षण पर अवरुद्ध होता रहता है।

सदाचार से अनेक प्रकार के भय नष्ट होते है—जैसे, लोक-निन्दा का भय, अप्रतिष्ठा का भय, स्वास्थ्य-नाश का भय, विरोधियो का भय और दण्ड का भय, आदि। कौटिल्य ने कहा है कि अपयश सारे भयो से बढ़कर है—'अपयशो भयं भयेषु।' इस भय का निवारण सदाचार से ही होता है। लोक में सच्चरित्र की सदा प्रतिष्ठा होती है, चाहे वह निर्धन और अकुलीन ही क्यो न हो। उसे अपमान की शंका नहीं होती। सदाचार से स्वास्थ्य की रक्षा होती है, इसे कौन नहीं मानेगा? उसके आगे विरोधियों का अनाचार, आदि में न सही अन्त में अवश्य ही निष्फल हो जाता है। सदाचार-पालन मे दण्ड का भय भी नही रहता क्योंकि दण्ड, चाहे वह ईश्वरीय हो या लौकिक, दुराचार के लिये ही मिलता है।

संसार में धर्म मनुष्य का परम सहायक और रक्षक है। तत्त्वज्ञ ऋषियों ने तो यहाँ तक कहा है कि वह परलोक में भी मनुष्य का साथ देता है। इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि एक जन्म का सत्कर्म दूसरे

जन्म में भी फलित होता है। आज का संचित चरित्र-बल कल काम देता है। जीवन-रणयात्री का यह अभेद्य कवच है। निरपराध आत्मा को तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण बाण भी घायल नहीं कर सकते।

(ज) *अभयदान* :—प्राचीन महर्षियों ने अभयत्व-सिद्धि का जो सर्वोत्तम योग बताया है वह है—अभयदान। महाभारत में भीष्म ने कहा है कि इस जगत् मे जो मनुष्य समस्त प्राणियो को अभयदान देता है वह सारे यज्ञों का अनुष्ठान कर चुकता है और बदले में उसे अभयत्व प्राप्त होता है—

"लोके यः सर्वभूतेभ्यो ददात्यभयदक्षिणाम्।
स सर्वयज्ञैरीजानः प्राप्नोत्यभयदक्षिणाम्।"—शान्तिपर्व।

भय-दान—दूसरों को डराने-धमकाने, मारने-पीटने—से कोई स्वयं निर्भय नहीं होता। महाभारत में ही कहा है कि भयदायक पुरुष अभयता को नहीं पाता; नाश करने वाले पुरुषों को नाश करने वाले अन्य पुरुषों से भय होता है। जो हमसे डरता है उससे हमें भी डरना पड़ता है क्योंकि वह अवसर पाकर सर्पवत् आक्रमण कर सकता है। भय में द्वेष और द्वेष में भय रहता ही है। भय-दान से द्वेष बढ़ता है और द्वेष से भय प्राप्त होता है। लोग जिससे डरते है उससे प्रेम नहीं करते। इसलिये उनसे अहित की आशंका रहती है। आतंक का वातावरण उत्पन्न करके आतंककारी स्वयं निश्चिन्त एवं सुरक्षित नही रहता। इससे हम समझ सकते हैं कि भय-दान कितना भयंकर होता है।

यदि बीच से भय-शंका के कारण निकाल दिये जायँ तो एक के प्रति दूसरे के हृदय में दुर्भावना क्यों होगी? और दुर्भावना न होने पर परस्पर अहित की आशंका क्यों होगी? सुनते है कि ऋषि-मुनियों के सामने हिंस्र पशु भी अपनी हिंसा त्यागकर सीधे हो जाते थे। यह तो प्रत्यक्ष ही है कि साधारण पशु भी जिससे डरते नहीं उससे प्यार करने लगते है, पालतू हो जाते हैं। छोटे बच्चे भी उसी व्यक्ति से सहज भाव से हिलते-मिलते

है जिससे उन्हें किसी प्रकार का भय नहीं होता। त्रास दिखाने वाले से वे दूर रहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अभयदान से परस्पर प्रेम-विश्वास की वृद्धि होती है। प्रेम और विश्वास होने पर भय स्वतः निर्मूल हो जाता है। यही अभयदान की महिमा है। दूसरों को अपनी ओर से निर्भय बनाकर ही हम उनका स्नेह-सहयोग पाकर निर्भय हो सकते हैं। लोक का यही नियम है। दान के अनुसार ही फल मिलता है।

अभयदान देना सहज नहीं है। मौखिक आश्वासनों से यह नहीं दिया जा सकता। धूर्त लोग तो दूसरों को नित्य ही अपनी ओर से अभय रहने का आश्वासन देते हैं परन्तु वह निरर्थक होता है। इसी प्रकार निर्बल लोग सबलों को अपनी ओर से निश्चिन्तता का विश्वास दिलाते रहते हैं, किन्तु उससे भय-सन्देह नहीं घटता। कोई दुर्जन या दुर्बल किसी को अभयदान नहीं दे सकता, सज्जन और सबल ही दे सकता है। सद्‌भावना और सद्‌व्यवहार से ही वह सार्थक होता है। उसके लिये आत्मसंयम और आत्मत्याग की आवश्यकता होती है, तभी लोक का अनुराग मिलता है।

अभयदान देने का ढंग यह है। सर्वप्रथम अहंकार त्यागिये; सहृदयता-पूर्वक प्राणिमात्र के शुभाकांक्षी बनिये; सबको मित्र की दृष्टि से देखिये—तब आपको शत्रु नहीं दिखाई पड़ेंगे। किसी के प्रति मन में छल, द्वेष या गुप्त पाप न रखिये। सबके प्रति दया, प्रेम, बन्धुता का भाव रखिये, उन पर विश्वास कीजिये, उनके लिये हृदय में मंगल-कामना कीजिये। अपने को सर्वसाधारण से श्रेष्ठ या भिन्न न मानिये। स्वभाव से उदार और सुशील बनिये। इससे आप दूसरों के अधिक निकट हो जायँगे; उनके मन से आपके प्रति भ्रम-सन्देह निकल जायगा। सद्‌भावना से सद्‌भावना ही बढ़ती है।

चरित्र से दूसरों के विश्वास-पात्र बनिये। कोई ऐसा कार्य न कीजिये जो लोकमर्यादा के विरुद्ध हो, जिससे किसी का अहित हो, जिससे किसी के स्वार्थ पर आघात पहुँचे। किसी के साथ अन्याय या मिथ्या व्यवहार न कीजिये, बल-प्रयोग न कीजिये, किसी का काम न बिगाड़िये। जब

आप दूसरों का काम नहीं बिगाड़ेंगे तो दूसरे आपका काम क्यो बिगाड़ेंगे ? यथासंभव परोपकार कीजिये। मित्रों और शुभचिन्तको का ही नही, अपने अपकारियों का भी उचित उपकार करने की चेष्टा कीजिये। महाभारत में लिखा है कि जो अपकार करने वाले के साथ भी उपकार करता है, उसे कोई कष्ट नही पहुँचा सकता। स्वार्थ-रहित होकर सबसे शुद्ध प्रेम कीजिये। गाँधीजी का कथन है—'केवल अपने पड़ोसियो से ही प्रेम मत कीजिये, केवल अपने मित्रों से ही प्रेम मत कीजिये, बल्कि उन लोगों से भी प्रेम कीजिये जो कि आपके शत्रु है।' ऐसा करने से आपके शत्रु भी आपके प्रेम-पात्र और प्रेमी बन जायँगे। उन्हे आपकी ओर से अनुचित आक्रमण का भय नहीं होगा, इसलिये वे स्वयं भी जान-बूझ कर अपने हितकारी का अहित न करेंगे। लोग उसीका अहित करते है, जिससे उन्हें स्वयं अहित की आशंका होती है, यह हम ऊपर कह चुके है। आपके चरित्र से जब किसी को किसी प्रकार की अशुभ शंका नही होगी, तो सब आपका विश्वास करेगे। दूसरों का प्रिय कार्य करके ही आप लोकप्रिय हो सकते है।

अभय-दान का यही विधान है। न्याय, सत्य और अहिंसा इसके मुख्य उपादान है। वस्तुतः इनके द्वारा ही अभयदान सिद्ध होता है। उसकी सिद्धि से संसार साधक के वशीभूत हो जाता है।

(झ) *एकता* :—एकता से बाहरी शत्रु ही नहीं, भीतरी शत्रु—भय भी भागता है। बहुत-से आदमी मिलकर जब एक काम को करते है, तब उसमें विफलता की आशंका नही रहती। यदि वह विफल हो भी जाता है तो किसी एक के सिर पर सारा बोझ पड़ने का डर नही रहता। एक कहावत है—'पाँच-सात मिलि कीजै काज; हारे-जीते नाही लाज।' उस दशा में काम के बिगड़ने पर किसी को लज्जित नहीं होना पड़ता। अकेला आदमी उत्तरदायित्व लेने से डरता है, लेकिन यदि कई सहयोगी हो तो वह बड़ा-से-बड़ा उत्तरदायित्व निर्भय होकर ले सकता है। अधिक

क्या, एक सच्चा मित्र भी मनुष्य के हृदय का पहरेदार बन जाता है। जबतक वह सहायता के लिये खड़ा रहता है तबतक हृदय-द्वार में एक भी भय-तस्कर प्रवेश नहीं कर सकता। मेरा कोई सहायक है—यह भावना ही मनुष्य को निर्भय बना देती है। जिसके जितने ही अधिक सहायक और शुभचिन्तक होते हैं, वह उतना ही अधिक निर्भय और समर्थ होता है। वास्तव में, संसार का उतना भाग उसके साथ रहता है। अथवा यह कहिये कि उसका उतना बड़ा संसार उसके पीछे सहायतार्थ चलता है। अधिकाधिक लोकबल का संग्रह प्रत्येक व्यक्ति के लिये श्रेयस्कर है।

दूसरो का सहयोग पाने के लिये मनुष्य को स्वयं उनके साथ सहयोग करना पड़ता है। उन्हे साथ रखने का अर्थ है स्वयं भी उनके साथ रहना। यह नही हो सकता कि आप तो उनके काम न आयें और उनसे आशा करें कि संकट में पुकारने पर वे भगवान् की तरह दौड़ पड़ेंगे। यदि आप संसार को साथ रखना चाहते हैं तो स्वयं भी आपको संसार के साथ उसके अनुकूल होकर रहना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि स्वार्थ से सच्ची एकता नहीं होती। स्वार्थ के पहले सर्वहित या मित्र-हित का ध्यान रखिये, तभी एकता होगी और उसी एकता का भरोसा किया जा सकता है। त्याग, सेवा, व्यावहारिक सरलता और मर्यादित आचरण से पारस्परिक एकता होती है।

(ज) *कर्मण्यता* :—परिश्रम भय की एक अचूक दवा है। मनोविज्ञान के एक विलायती पंडित ने लिखा है मन में किसी भी प्रकार का भय होने पर चिन्ता-शोक त्यागकर तुरन्त काम में लग जाओ; शारीरिक परिश्रम से भीतर का भय तत्काल निकल जायगा। इसमें सन्देह नही कि जब मनुष्य बेकार बैठा रहता है तो उसके मन में अनेक भयोत्पादक चिन्तायें न-जाने कहाँ से आकर समा जाती हैं। काम में लगने पर वे हवा हो जाती हैं। इसका एक रहस्य तो यह है कि उद्योग से पुरुषार्थ जागृत होता

है। पुरुषार्थ के आगे भय नहीं टिकता। आलस्य में उसका प्राबल्य इसलिये होता है कि तब मनुष्य का पौरुष सोता रहता है। कर्म के साथ आशा रहती है और आलस्य के साथ निराशा। आशावान् प्राणी का उत्साही और निर्भय होना स्वाभाविक ही है।

परिश्रम से भय का निराकरण अनेक प्रकार से होता है। दो-एक उदाहरण लीजिये। यदि आप अपने हाथ से काम कर लेते है तो आपको नौकरों या सहायकों के चले जाने का भय न होगा। स्वावलम्वी पुरुषों को दूसरो का कृपापात्र नहीं होना पड़ता। यदि आप उद्योगी है तो आपको जीविका-संकट नहीं होगा, आप अपनी मेहनत से अपना पालन-पोषण करने में समर्थ होंगे। कौटिल्य ने ठीक ही कहा है कि उद्योगी को अपनी वृत्ति के विषय में भय नहीं होता—'न चेतनवतां वृत्तिभयम्।' आप अपनी शक्तियों का पूरा लाभ ले सकते है। इसके अतिरिक्त, यदि आप कर्मण्य हैं तो आप वाहरी कष्टो के भय से भी व्यथित नहीं होंगे। इसका कारण यह है कि निरन्तर परिश्रम से मनुष्य कष्ट सहने का अभ्यासी हो जाता है। अभ्यासी काम की कठिनाइयों से नहीं डरता। अनभ्यस्त के लिये जो असह्य होता है, वह उसके लिये सुसह्य वन जाता है। अभ्यास से तो लोग विष को भी सुपथ्य वना लेते है। कर्माभ्यासी को जाड़े या गरमी की व्यथा नहीं होती। इस प्रकार की सहिष्णुता चिरकर्मण्यता अर्थात् अभ्यासमय जीवन से ही साध्य है।

उचित परिश्रम से मृत्यु का भी भय दूर होता है। किसी भी महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य में जुट जाने पर लोग मृत्यु को याद भी नहीं करते। कर्मवीर तो आपत्ति और मृत्यु का सामना करने के लिये प्रत्येक क्षण तैयार रहता है। इन सवकी चिन्ता कर्मभीरु को ही होती है।

(ट) संघर्ष :—एक विचारक ने कहा है कि किसी आपत्ति से नित्य आशंकित रहने की अपेक्षा उसका एक वार साहस के साथ सामना कर लेना अधिक अच्छा है। अमेरिका के सुप्रसिद्ध साहित्यकार एमर्सन

का मत है कि जिस कार्य से तुम्हें डर लगता है उसी को करो तो भय निश्चय ही मर जायगा—'Do the thing that you fear and the death of fear is certain.' जान लेकर भागने या दबकर बैठने से जान नहीं बचती। सत्य तो यह है कि जो लोग जीवन-संग्राम में अपनी जान को हथेली पर रखकर पराक्रम दिखाते है, उन्ही की जान सुरक्षित रहती है। जो लोग 'सर से कफ़न लपेटे क़ातिल को ढूढते हैं' उन्हें क़ातिल नहीं मिलते। भय जिस रूप में भी आये—चाहे वह कठिन कार्य के रूप में हो या किसी घोर विपत्ति के रूप मे अथवा अत्याचारी शत्रु के रूप में—उससे युक्ति और शक्ति के साथ भिडना चाहिये। भिड़ने से वह उसी प्रकार नष्ट होता है, जैसे रगड़ने से मैल कटती है। रूस के एक प्रसिद्ध सेनापति का यह आदर्श-वाक्य था—'Advance and strike'—बढ़ो और प्रहार करो। प्रत्येक जीवन-रणयात्री का भी यही आदर्श होना चाहिये। इससे कष्ट भले ही हो, भय का कारण निर्मूल हो जाता है। दुःख से बचने की अपेक्षा उसको झेलने में लाभ है। ताली पीटने से जैसे साँप भागता है, वैसे ही ताल ठोकने से भय-संकट।

जिस कार्य से आपका मन भागता हो, हृदय नहीं, उसी काम को कीजिये तो भय मिट जायगा। जिस अत्याचारी से आपको आतंकित रहना पड़ता है, उसके सामने साहस के साथ जाइये, उसके अत्याचार का दृढ़ता के साथ विरोध कीजिये, आपके भय का कारण दूर हो जायगा। भय की जड़ को फूलने-फलने का अवसर न देकर यथाशीघ्र काटने का प्रयत्न करना चाहिये।

(ठ) *प्रकाश*:—भय एक तामसी भाव है। अँधेरे में, मलिन और संकीर्ण स्थानो में वह स्वभावतः उत्पन्न होता है और बढ़ता है। जहाँ रास्ता नहीं सूझता वहाँ आगे बढ़ने में भय लगता हीं है। यह मानसिक अन्धकार भी लौकिक अन्धकार की भाँति प्रकाश से नष्ट हो जाता है। प्रकाश में भय नहीं लगता। सुप्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने कहा है कि

प्रकाश ईश्वर की ज्योति है। ईश्वर की छाया में रहने पर भय कैसे ठहरेगा? स्वयं प्रकाश में रहने से और भय को प्रकाशित करने से मनुष्य निर्भय हो जाता है।

प्रकाश में रहने का अर्थ धूप में बैठना नहीं है। इसका अर्थ है, आध्यात्मिक तेजस्विता प्राप्त करना, [illegible], स्पष्ट और ज्ञान से युक्त होना। कोई व्यक्ति [illegible] दुविधा या भ्रम-सन्देह से ग्रस्त अर्थात् धोखे में रहता है, तब यही कहा जाता है कि वह अँधेरे में है। इस प्रकार के अन्धकार से मुक्त होना ही प्रकाशयुक्त होना है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मन, वचन, बुद्धि और व्यवहार से स्वच्छ, पवित्र और प्रभावशाली बनना चाहिये; अपने व्यक्तित्व को संकुचित, रहस्यपूर्ण एवं कलंकित नहीं होने देना चाहिये। मनुष्य को कोई भी ऐसा लोकनिन्दित कार्य नहीं करना चाहिये, जिसे गुप्त रखना पडे क्योंकि उससे उसके प्रकट होने का भय उत्पन्न होता है। छिपकर पाप करने पर उसके खुलने का भय रहता ही है।

भय को प्रकाशित करने का अर्थ यह है—मन में किसी प्रकार की व्यथा, ग्लानि, शंका या पाप हो तो उसे छिपाकर न रखिये, तत्काल प्रकाशित कर दीजिये। छिपाने से दुर्भावनायें बढ़ती हैं। भय को छिपाना वैसा ही है जैसे गुप्त रोग को छिपाना। वह भीतर-ही-भीतर निरन्तर बढता है और प्रबल हो जाता है। यदि आपके मन में भय की बात समा गई हो तो उसे अपने मित्रो से तुरन्त बता दीजिये। इससे मन साफ हो जायगा, भय को निकलने का एक रास्ता मिल जायगा। यदि किसी रहस्य को न समझने के कारण आपके मन में शंका होती है तो उसका उद्घाटन कीजिये, उसके कारण का पता लगाकर अपने भ्रम का निवारण कीजिये। उसके सम्बन्ध में कोई मिथ्या कल्पना करना ठीक नहीं है। हितोपदेश में लिखा है कि किसी शब्द के कारण को जाने बिना उससे अर्थात् शब्दमात्र से भयभीत नहीं होना चाहिये—'शब्दमात्रान्न भेतव्य-

मज्ञातं शब्दकारणम् ।' संदिग्धावस्था भयंकर होती है। मन को सब प्रकार से निर्विकार, निष्कपट और संशय-रहित रखने में कल्याण है।

(ड) *प्रार्थना* :—प्रार्थना से चाहे पुण्य हो या न हो, अतीत के दोषों का निराकरण हो या न हो, किन्तु भविष्य का लाभ अवश्य होता है। उससे अनेक आत्मदुर्बलतायें मिटती है, चेतना-वृद्धि होती है। चेतना ही तो जीवन है। प्रार्थना से मनुष्य के बाह्य संकट टलें या न टलें, प्राण-सकट तो बहुत कुछ टल ही जाता है। उससे हृदय सजीव होता है, विचार शुद्ध एवं संयत होते हैं और चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। ध्यान से सम्पूर्ण शक्ति का उद्दीप्त और केन्द्रित होना स्वाभाविक है। आत्मशक्ति के उत्कर्ष से मन में भय के लिए स्थान नहीं रहता।

प्रार्थना के अलौकिक प्रभाव की बात जाने दीजिये, उसके द्वारा स्वभाव और विचार का जो परिष्कार होता है, उसी पर ध्यान दीजिये। आस्तिकता से हृदय में दैवी भावनाओं का संचार होता है। दिव्य शक्ति के ध्यान से स्वभाव में दिव्यता, पवित्र शक्ति के ध्यान से पवित्रता आती है। महावीर के ध्यान से मन में वीरता की भावना तो भर ही जाती है। इसी प्रकार भव-भय-भंजन भगवान् के स्मरण से उनके गुणो का आभास अपने अन्तःकरण में मिलता है। 'भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्, गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्' को अपने हृदय में धारण करने से मनुष्य को निर्भयता और शान्ति की अनुभूति होती ही है। प्रार्थना-उपासना के ये प्रत्यक्ष लाभ है।

प्रार्थना में क्या होता है ? लोग अहंकार त्यागकर शुद्ध शान्त भाव से अपने उपास्य देव का आह्वान और उसका गुण-गान करते है, मांगलिक द्रव्यों से मंगलमय एवं शक्तिमान् देवता को पूजते है, अपने अपराधो का प्रायश्चित्त और कष्टों का निवेदन करके उससे सुमति, सद्गति और शांति मांगते हैं। मन को प्रसन्न, बलवान् और निर्भय बनाने का क्या यह एक उत्तम उपाय नहीं है ? मंगल-कार्य से अमंगल की आशंका कैसे होगी ?

मंत्रो और भजनो पर भी ध्यान दीजिए। जो लोग मंत्र-शक्ति में विश्वास करते हैं, उनका तो कहना यह है कि मंत्रो से दैवी शक्तियों की सहायता अवश्य प्राप्त होती है। राजस्थान सरकार के आयुर्वेद विभाग के डायरेक्टर और काशी विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष सुप्रसिद्ध कविराज श्री प्रतापसिंह ने 'कल्याण' के जून, १९५० के अंक में अपना एक अनुभव छपवाया है। वे कुछ समय पूर्व किसी कठिन व्याधि से पीड़ित होकर अत्यन्त निर्बल तथा जीवन से हताश होगये थे। किसी भी औषधि से लाभ नहीं हो रहा था। तब उन्होंने एक दिन रात्रि में इस महामृत्युंजय मंत्र का जाप किया—"ॐ अघोरेभ्योऽपि घोरेभ्यः घोर-घोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते, अस्तु तत्पुरुषाय विद्महे वियो रुद्रः प्रचोदयात्।" थोड़ी ही देर में उनकी वेदना शान्त होगई और वे सुख से सो गये। दूसरे दिन से वे स्वस्थ होने लगे।

मंत्रों का ऐसा चमत्कारी प्रभाव देखा-सुना जाता है। जो लोग इसमें विश्वास नहीं करते, उन्हे भी यह मानना पड़ेगा कि अन्तःकरण-चिकित्सा के लिये वे उपयोगी हैं। उनसे भावनाओ का संस्कार होता है। मंत्रों और भजनो के भाव हृदय को स्वस्थ, सरस और सचेत बनाते हैं। कभी-कभी प्रार्थना का एक छोटा-सा गीत भी हृदय के निराशाजनक अन्धकार में आशा की ज्योति जगा देता है।

निश्चय ही प्रार्थना से सात्त्विक गुणो की वृद्धि होती है। मनुष्य यदि भगवान् को आगे रखकर काम करे तो उसे आत्म-पराभव का भय कदापि न होगा। प्रार्थना का यही मुख्य प्रयोजन है।

(ढ) *शब्द-ब्रह्म* :—शब्द में भय को नष्ट करने की अद्भुत शक्ति है। भयभीत होने पर लोग प्रायः चिल्लाते हैं। चिल्लाने से भय अवश्य कम हो जाता है। इसी प्रकार बोलने से, गाने से और ताली पीटने से भय के स्थान पर उत्साह बढ़ता है। अँधेरी रात में शून्य स्थान मे प्रायः लोग खाँस कर या गुनगुना कर अपना भय मिटाते हैं। उनके शब्द से सोई

हुई दिशायें जग जाती हैं, हृदय का सूनापन मिट जाता है। जिस समय किसी प्रतियोगिता में या किसी कठिन कार्य में लोग शिथिलता या थकावट का अनुभव करते हैं, उस समय निकटस्थ व्यक्तियों के उत्साह-वर्द्धक शब्द या करतलध्वनि से उनमे एक नवीन स्फूर्ति भर उठती है। उनकी दुर्बलता मिट जाती है। 'शाबाश' कहने से मनुष्य क्या घोड़े तक विशेष उत्तेजित हो जाते हैं। वे जी तोड़कर पराक्रम दिखाते हैं। शब्द-शक्ति के कुछ प्रमाण हम और देते हैं। जुझाऊ या युद्ध-गीत से सैनिको में जूझने का उत्साह उत्पन्न होता है। जिस समय लोग जयजयकार करते हुये कर्मक्षेत्र में बढ़ते हैं, उस समय उनके चरण पीछे नहीं पड़ते। उस समय तो वे मृत्यु का आलिंगन करने को तैयार हो जाते हैं। नारो के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अवश्य ही उनसे भय का वातावरण नष्ट हो जाता है। क्यो नष्ट होता है, यह अतर्क्य है। प्रत्यक्ष के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। आप स्वयं अनुभव करके देख सकते हैं कि एकान्त में चुपचाप बैठने से मन अनेक भयजनक चिंताओं से व्यथित हो जाता है; मिलने-जुलने, बोलने-बतलाने से उस प्रकार के भाव उठते ही नही। चहल-पहल में भय कहाँ मालूम होता है ?

एक कहावत है—'शंख बाजे, भूत भागे।' इसका अर्थ यह है कि जहाँ शंख बजता है, वहाँ से भूत-प्रेत भग जाते हैं। भाव यह है कि मंगल-शब्द से भय-शंका मिट जाती है। शब्द को ऋषियो ने ब्रह्म माना है। उसमें निस्सन्देह ब्रह्म के गुण हैं। उस ब्रह्मशक्ति की उपासना कीजिये। उसकी उपासना संगीत, भगवद्‌भजन, मगल-पाठ, श्रवण-कीर्तन और युक्तिपूर्ण भाषण से होती है। अपनी हृत्तन्त्री को झंकृत करते रहिये तो उसपर भय का मोर्चा न लगेगा। शब्द-ब्रह्म द्वारा भय-निवारण का सबसे सरल और सुन्दर उपाय गोस्वामी तुलसीदास ने बताया है। गाँधीजी सफलतापूर्वक इस उपाय का प्रयोग कर चुके हैं। हमें और आपको भी करके देखना चाहिये। वह यह है—

"राम-नाम सुन्दर करतारी ।
संसय-विहँग उड़ावन हारी ।।"—मानस ।

(ए) अति सर्वत्र वर्जयेत् :—अब इस सम्बन्ध में हमें केवल एक भयनाशक उपाय का निर्देश और करना है । वह है—'अति सर्वत्र वर्जयेत् ।' किसी भी विषय मे कहीं भी अति न कीजिये । अति, अर्थात् मर्यादा के अतिक्रमण, से सदा दुर्गति होती है । आवश्यकता से अधिक सद्गुण और सत्कर्म भी भयोत्पादक हो जाते है । इसके हम कुछ उदाहरण देते है ।

अत्यधिक सरलता से उल्लू बनने का और ठगाये जाने का भय रहता है । साथ ही, मान-हानि का भी भय होता है । सीधे आदमी को प्रायः लोग शक्तिहीन मानकर उसकी उपेक्षा करते हैं ।

बहुत अनुराग से वियोग का भय तो रहता ही है । इसके अतिरिक्त प्रेम की अधिकता मे छोटे-मोटे सन्देह भी भय और क्लेश के कारण बन जाते है ।

अति विश्वास से मनुष्य दूसरो के वश में हो जाता है, उसे कृतघ्नों और वंचको से धोखा खाना पड़ता है ।

अति सावधानी से प्रायः भूल हो ही जाती है । जो लोग इस चिन्ता में रहते है कि कहीं कोई कमी या त्रुटि न हो जाय, उनके कार्य प्रायः बिगड़ जाते है और समय पर पूरे भी नही होते । बहुत सावधान रहने वाले व्यक्ति छोटी-मोटी बातो में भी शंका करते है ।

अतिशय दान से धन-हानि के अतिरिक्त बलि की भाँति वंचित और बन्धन-ग्रस्त होने की संभावना रहती है । अति वरदानी शिव को अनेक भयानक परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था । सब का बहुत अधिक अभयदान भी प्रशंसनीय नहीं है । पुलिस यदि चोरो को अभयदान दे-दे तो सोचिये कितना अनर्थ होगा !

बहुत अधिक मान से अपमान का भय होता है । मनुष्य को निरन्तर इसका ध्यान रखना पडता है कि कहीं मान-मर्दन न हो जाय । बहुत

ऊँचे चढ़ने पर गिरने का भय भी अधिक हो जाता है। ज़रा-सा फिसले कि गिरे और चकनाचूर हुये।

ज्ञान की अधिकता भी विकल्पशीलता और अकर्मण्यता का कारण होती है। उससे मनुष्य इस सन्देह में पड जाता है कि क्या करें और क्या न करें क्योंकि श्रुति कुछ कहती है, स्मृति कुछ कहती है। मनुष्य अपनी सूझ-बूझ खोकर बड़ी उलझनों में पड जाता है।

अधिक आत्मविश्वास या स्वावलम्बन से भी काम नहीं चलता। साँप को आप घूँसे से नहीं मार सकते। हाथ में लाठी न हो तो भयभीत होकर आपको भागना पड़ेगा। अपने ऊपर ही बहुत भरोसा करने से प्रायः ऐसा हो जाता है।

अधिक साहस भी दुःखदायक है। योग्यता से अधिक पराक्रम या महत्त्वाकाँक्षा से मनुष्य को नीचा देखना पड़ता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर कहा है कि 'ईश्वर की सृष्टि में सबसे दु.खी व्यक्ति वह है जिसका साहस तो बढा-चढ़ा हो, परन्तु जिसकी शक्ति उसके लक्ष्य से न्यून हो।'—'साहित्य'।

बहुत लज्जा-संकोच से मनुष्य की साहस-हीनता प्रकट होती है। झेंपने वाला डरपोक हो जाता है। इसी प्रकार जामे से बाहर होना भी लज्जा एवं आपत्तिजनक है।

अधिक भोग से रोग का भय तो होता ही है, अधिक इन्द्रिय-सयम भी स्वास्थ्य के लिये हानिकर है। इसी प्रकार बहुत अधिक या बहुत कम खाना भी अपने शरीर को मिट्टी में मिलाना है। बहुत बोलना या बहुत चुप रहना भी अनिष्टकर है। बहुत बैठने या बहुत दूर जाने से भी हानि होती है—'जिय संसय कछु फिरती बारा।'

कहने का तात्पर्य यह है कि 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' असर्यादता महा अनर्थकारी एवं सर्वथा त्याज्य है। अधिक निर्भयता भी प्रशंसनीय नहीं है। उसकी भी एक सीमा है। प्रत्येक मनुष्य को एक हद तक ही निर्भय

होना चाहिये। उसके पार जाना धृष्टता और उच्छृङ्खलता है। इससे अपना ही विनाश होता है।

७—निर्भयता की मर्यादा

सत्पुरुषों को सर्वप्रथम तो भगवान् और उसके काल-चक्र से डरना चाहिये क्योंकि, कवि अकबर के शब्दो में, 'तोपो की मार से भी खुदा की पकड़ वड़ी।' उसके बाद अपनी अन्तरात्मा से, क्योंकि उसका अपमान करके कोई आत्म-सम्मान नही पा सकता। लोक-धर्म भी अनुल्लंघनीय है। इसके अतिरिक्त लोकमत का सत्कार करना भी मनुष्य के लिये अत्यावश्यक है। राम जैसे सर्वशक्तिसम्पन्न महापुरुष भी उसकी अवहेलना करने का साहस नही कर सके और उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि लोकापवाद मुझसे भी अधिक प्रवल है—'लोकापवादो वलवान्मतो मे'—रघुवंश। जनता के कोप का सामना कोई भी शक्ति नहीं कर सकती। अपने पूज्य जनों से भी डरना चाहिये। शुक्राचार्य ने कहा है कि जो शाप और अनुग्रह में समर्थ है उनकी आज्ञा सर्वोपरि है—'शापानुग्रहयोः शक्तो यस्तस्याज्ञा गरीयसी।' अपने उपकारियों से भी डरना उचित है। उनका कुछ भी अपकार होने से मनुष्य को कृतघ्नता का महाकलंक लगता है—'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः'—वाल्मीकि। कृतघ्न के उद्धार का कोई उपाय नहीं है। इन सब के साथ-साथ निरपराध व्यक्तियो से भी डरना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है। निरपराध व्यक्ति, चाहे वे स्त्री हो या बच्चे, अपनी एक आह से वड़े-से-वड़े आततायी को भस्म करने की शक्ति रखते हैं।

इन बातों को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक व्यक्ति को अपनी योग्यता के बल पर निर्भय और स्वतंत्र होकर सम्मानपूर्वक जीवन बिताने का प्रयत्न करना चाहिये।

: १० :

संगति का प्रभाव

१—एक प्राचीन दृष्टान्त

एक प्राचीन कथा है। एक प्रसिद्ध चोर ने अपनी मृत्यु के पूर्व अपने पाँच बेटों को बुलाकर यह अन्तिम शिक्षा दी—कभी किसी मंदिर में न जाना, किसी साधु-महात्मा से न मिलना और सत्संग से दूर रहना।

बाप के मरने के बाद पाँचो बेटे बड़ी सावधानी से अपना पैतृक व्यवसाय चलाने लगे। एक दिन बडे भाई ने राजा के महल में चोरी करने का निश्चय किया। रात में वह लुकता-छिपता महल की ओर चला। रास्ते मे एक मन्दिर मे एक महात्मा बैठे हुये कथा सुना रहे थे। चोर को अपने बाप का उपदेश याद आया। लेकिन महल की ओर जाने का कोई दूसरा रास्ता नहीं था। इसलिये वह अपने दोनों कानो में रूई डालकर उसी रास्ते से आगे बढ़ा। संयोग से मन्दिर के सामने पहुँचते ही उसके एक कान की रूई गिर गई। उस समय किसी कथा के प्रसंग में महात्माजी कह रहे थे कि पृथ्वी पर न तो देवताओ की छाया दिखाई पड़ती है और न उनके पैर लगते है। यह वाक्य चोर के कान में भी चोर की तरह घुस गया। वह वहाँ से भागता हुआ महल के पास पहुँचा और सेंध काट कर राज-कोष से बहुत-सा धन लेकर निर्विघ्न लौट आया। उस धन को उसने अपने घर में चुपचाप गाड़ दिया।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजधानी में हलचल मच गई। राजा के गुप्त-चर चोरों का पता लगाने निकले। बहुत जाँच-पड़ताल के बाद भी कुछ पता नहीं चला। तब रात में राजा का चतुर प्रधान-मंत्री स्वयं रूप बदल

कर इस काम के लिये निकला। उसने मुँह में तो काली स्याही पोत ली और हाथ में खप्पर ले लिया। इस वेष में वह उपरोक्त पाँचो चोरो के द्वार पर आधी रात को पहुँचा और बाहर से चिल्लाकर बोला—आओ, आओ, महाकाली को भेंट दो, नहीं तो सबका सर्वनाश हो जायगा।

पाँचो चोर बाहर निकले और प्रत्यक्ष काली को देखकर हाथ जोड़कर बोले—माई, तुम्हारा क्या सत्कार किया जाय ?

'काली' ने पैर पटककर कहा—हम चंडी हैं, अपने घर का आधा धन हमें चढ़ा दो, नहीं तो अभी हम सबका सिर काट लेंगी।

'काली' का उग्र रूप देखकर सब काँपने लगे। एक ने काँपते हुये कहा—भगवती, इस समय हमें प्राण-दान दो, सवेरे हम तुम्हारी इच्छा पूरी कर देंगे।

'काली' ने कहा—हम यहाँ से या तो तुम्हारा आधा धन लेकर जायेंगी या तुम्हारे सिर; हमें तुम्हारे धन का पूरा पता है।

ये बातें हो ही रही थीं, इतने में बड़ा भाई लट्ठ लेकर 'काली' पर टूट पड़ा। 'छोड़ो-छोडो, माई को मत मारो'—कहता हुआ प्रधानमंत्री खप्पर फेंककर वहाँ से भाग खड़ा हुआ। उसके जाने पर चारों भाइयों ने बड़े से कहा—भैया, हम लोग तो अधमरे होगये थे; इस घोर संकट में कैसे आपको सूझा कि यह ठग है ?

बड़े भाई ने कहा—कल चोरी के लिये जाते समय मन्दिर के महात्मा की दो बातें मेरे कानों में पड़ गई थीं; उन्हीं से मैंने पहचाना कि यह देवता नहीं धूर्त है—दीपक के प्रकाश में इसकी छाया दिखाई पड़ती थी और यह भूमि पर खड़ा भी था। जब दो बातो में इतनी शक्ति है कि वे समय पर इतना काम दे सकती है तो पूरी कथा का तो कहना ही क्या है ! हमें प्रतिदिन सत्संग करके ऐसी बातों का संग्रह करना चाहिये, जिनसे हम अपने जीवन-धन की रक्षा कर सकें।

पाँचो भाई प्रतिदिन मंदिर में जाकर साधु-महात्माओं का सत्संग करने लगे। परिणाम यह हुआ कि उनकी चोरी की आदत छूट गई। उन्हें उस

काम की बुराई मालूम हो गई। वे सदाचारी बनकर परिश्रम की कमाई खाने लगे। उनका जीवन सुधर गया।

२—एक पौराणिक वृत्तान्त

अब एक पौराणिक वृत्तान्त सुनिये। धेन्वास्य नामक एक ऋषि वन में शान्तिपूर्वक कन्द-मूल-फल खाकर दिन-रात ईश्वर-चिन्तन में लगे रहते थे। एक दिन कोई आदमी अपनी कुल्हाड़ी सम्हालकर रखने के लिये उन्हे दे गया। कुल्हाड़ी कई दिनों तक ऋषि की कुटी के एक कोने में पड़ी रही। कुछ समय बाद एक दिन धेन्वास्य ने उसे देखने के लिये हाथ में लिया और फिर वहीं रख दिया। दूसरे दिन भी उसे लेकर इधर-उधर घुमाया। तीसरे दिन उसे लेकर उन्होंने सोचा कि इस पड़ी हुई वस्तु का उपयोग करना चाहिये। बस, फिर क्या था! साधुजी पूजा-पाठ छोड़कर हाथ में कुल्हाड़ी लेकर जंगल में शिकार खेलने निकल पड़े। ध्यान लगा कर बैठने की अपेक्षा उन्हे जीवों के पीछे कुल्हाड़ी लेकर दौड़ने मे अधिक आनन्द आने लगा। छोटे-मोटे पशुओं को मारकर वे उनका मांस भी चाव से खाने लगे। इस प्रकार वे एक कुल्हाड़ी के कारण साधुता त्यागकर हिंसक बन गये।

३—'संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति'

तत्त्व की बात यह है कि मनुष्य के गुण-दोष संसर्ग से उत्पन्न होते हैं, संसर्ग से ही फैलते हैं। 'संगति ही गुन ऊपजै संगति ही गुन जाय।' बच्चे बोलना कैसे सीखते हैं?—केवल दूसरो की सगति से। देखते-देखते, सुनते-सुनते वे स्वयं बोलने लगते है। गाली देना, चोरी करना, झूठ बोलना, सिगरेट पीना लोग कैसे सीखते हैं?—निश्चय ही सगति से। इनके लिये कोई विद्यालय नहीं है। मनुष्य जिस प्रकार के वातावरण में रहता है, वैसा ही उसका व्यक्तित्व बन या बिगड़ जाता है। मनुष्य क्या, पशुओं का भी यही हाल है। तोता मनुष्य के साथ रहने पर राम-राम

रटने लगता है। पालतू जानवर, सिंह तक, नम्र हो जाते हैं। वही जानवर जंगल में उच्छृङ्खल बने रहते हैं। यह सब संगति का प्रभाव है।

एक ही जल नदी में तो मीठा रहता है, लेकिन समुद्र में जाकर खारा हो जाता है। एक ही हवा गन्ध-भेद से सुगन्धित होकर सर्वप्रिय हो जाती है और दुर्गन्धित होकर दूषित एवं अप्रिय लगती है। एक ही जगत् सूर्य के प्रकाश में जीवित-जागृत बन जाता है और अन्धकार में वही मलिन तथा स्तब्ध प्रतीत होता है। एक पौधा जो ठीक हवा, पानी, प्रकाश पाने पर बढ़कर फूलता-फलता है, वही इनके अभाव में मुरझा जाता है। मनुष्य का भी ठीक यही हाल है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि एक ही व्यक्ति सुसंग से भला और कुसंग से उसी प्रकार नीच हो जाता है जैसे एक ही लोहा नाव और वीणा में अच्छे काम आता है और तीर-तलवार में घातक बन जाता है—

"तुलसी भलो सुसंग तें, पोच कुसंगति होइ।
नाउ, किन्नरी, तीर, असि लोह बिलोकहु लोइ॥"

हितोपदेश के एक श्लोक में यही बात दूसरे ढंग से कही गई है—

"अश्वः शस्त्रं च शास्त्रं च वीणा वाणी नरश्च नारी च।
पुरुषविशेषं प्राप्ता भवन्ति योग्या अयोग्याश्च॥"

अर्थात्—घोड़ा, शस्त्र, शास्त्र, वीणा, वाणी, पुरुष, स्त्री जिस प्रकार के व्यक्ति के हाथ में पड़ते हैं, वैसे ही योग्य-अयोग्य या अच्छे-बुरे हो जाते हैं।

शेख़ सादी ने 'गुलिस्ताँ' में कहा है कि यदि फ़रिश्ता (देवदूत) भी शैतानों के साथ रहने लगे तो कुछ दिनों में वह शैतान बन जायगा। अँगरेज़ों की संगति से कितने ही भारतवासियों की भारतीयता नष्ट हो ही गई थी। कितने ही भले लड़के अँगरेज़ी स्कूलों में जाकर बिगड़ जाते थे और कितने ही बापों को सिर पीटकर कहना पड़ता था कि 'अब कॉलेज में पढ़ि बी० ए० हुये, मानो सारे अनर्थ के बीये हुये।' सत्य यह है कि कोरी शिक्षा से मनुष्य के गुण-चरित्र का विकास नहीं होता। कहावत

है कि पढ़ाये पूत से दरबार नहीं होता। भोजपुरी में भी एक कहावत है—'सिखावलि बुद्धि अढ़ाई घरी।' अर्थात्—मौखिक शिक्षा का प्रभाव अधिक देर तक नहीं रहता। मनुष्य तो आदर्श का अनुकरण करता है। माता-पिता-गुरु-संगी-साथी की बातचीत, रहन-सहन को वह स्वाभाविक रूप से ग्रहण कर लेता है और उन्हींके जैसा आचरण करने लगता है। उसके स्वभाव-चरित्र पर निकटस्थ व्यक्तियों के आचार-विचार की छाप पड़ जाती है। इतना ही नहीं, संगति का प्रभाव मनुष्य की सामाजिक स्थिति पर भी पड़ता है। उसके सुख-दुःख, उत्थान-पतन, मान-अपमान प्रायः संगति के गुण-दोष के कारण होते हैं। सुसंगति से वह कुलीन, सुपात्र तथा सभ्य बन जाता है और असत्संगति से अभद्र, अयोग्य एवं असभ्य।

महाभारत में ठीक ही कहा है कि मनुष्य जैसे मनुष्यों की संगति में रहता है, जैसे मनुष्य की सेवा करता है तथा जैसा बनना चाहता है, वैसा ही हो जाता है।—

"यादृशैः सन्निविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः॥"

४—सत्संगति की महिमा

संगति के प्रभाव का अनुभव करके विद्वानो ने कहा है कि संशयशील व्यक्ति के साथ कभी न रहे; सदाचारी पुरुषो का तो आधे क्षण का भी संग प्रशंसनीय है।—

"नासमञ्जसशीलैस्तु सहासीत कथञ्चन।
सद्वृत्तसन्निकर्षो हि क्षणार्धमपि शस्यते॥"

—विष्णुपुराण।

देवर्षि नारद का मत है कि महापुरुषो का संग दुर्लभ, अगम्य और कभी व्यर्थ न जाने वाला होता है—'महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च'—भक्ति-सूत्र। महापंडित कौटिल्य ने सत्संग को ही स्वर्गवास कहा है—'सत्संगः स्वर्गवासः।' उन्हींका यह कथन भी सर्वथा सत्य है कि सज्जन

असज्जनों के साथ नहीं रहते; हंस श्मशान में नहीं रहता—'सन्तोऽसत्सु न रमन्ते; हंसः प्रेतवने न रमते।' तुलसी के शब्दों में—'बुध नहिं करहिं अधम कर संगा'—मानस। सत्संगति को इतना महत्व क्यों दिया गया है, आइये हम इस पर विचार करें।

(क) पहली बात तो यह है कि सज्जनों की संगति से सदा कल्याण ही होता है। सत्पुरुष सदा दूसरों का हित ही करते हैं। यदि वे कारण-वश हित नहीं कर पाते तो अहित भी नहीं करते। जिस प्रकार अंजलि में रक्खा हुआ पुष्प दोनों हाथों को समान रूप से सुगन्धित करता है, उसी प्रकार सज्जन मित्र-शत्रु दोनों के प्रति कृपालु ही रहते हैं।—

"अंजलिस्थानि पुष्पाणि वासयन्ति करद्वयम्।
अहो सुमनसां प्रीतिर्वामदक्षिणयोः समा॥"

उनसे यह भय नहीं रहता कि वे जबतक अनुकूल हैं तबतक तो शुभ-चिन्तक बने रहेंगे और प्रतिकूल होते ही हानि करने को उद्यत हो जायँगे। वे प्रत्येक दशा में स्वयं भले ही रहते हैं; एक बार जिसको अपनाते हैं, उसको यथासंभव त्यागते नहीं। व्यास ने महाभारत में कहा है कि सज्जनों का एक बार मिल जाना भी बड़ा अच्छा है, उसके बाद वे परस्पर मित्र हो जाते हैं; सत्पुरुष के साथ संगति होना निष्फल नहीं जाता; इसलिये उत्तम पुरुष को सज्जनों की संगति में रहना उचित है।—

"सतां सकृत् सङ्गमीप्सितं परं, ततः परं मित्रमिति प्रचक्षते।
न चाफलं सत्पुरुषेण सङ्गतं, ततः सतां सन्निवसेत् समागमे॥"
—वनपर्व।

(ख) सत्संगति से मनुष्य का बौद्धिक विकास होता है। महाभारत में कहा है कि धैर्य से मनुष्य द्वितीय साथी से युक्त होता है और बड़ों की सेवा या संगति से बुद्धिमान्—'धृत्या द्वितीयवान् भवति बुद्धिमान् वृद्ध-सेवया।' श्रेष्ठ पुरुषों की संगति से अज्ञान, अहंकार तो मिटते ही हैं, कितनी ही अनुभव की बातें मालूम होती हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि से ही

प्रत्येक बात का निश्चय नहीं कर सकता। बहुत-सी बातों के लिये उसे मार्ग-प्रदर्शक, शुभ सम्मति देने वाले चाहिये। यह सत्संगति से ही सुलभ होता है। कबीर के निम्नलिखित दोहे में यही भाव है—

"बहे-बहाये जात थे, लोक वेद के साथ।
रस्ता में सतगुरु मिले, दीपक दीन्हा हाथ॥"

महापुरुष अपने मुख से चाहे शिक्षा न दें, तो भी उनके आचरण से सन्मार्ग का पता चल जाता है। एक नीतिकार का कहना है कि सज्जनों की उपासना करनी चाहिये, चाहे वे उपदेश न भी करते हों क्योंकि जो उनके निजी वार्त्तालाप हैं, वही सदुपदेश हो जाते हैं।—

"परिचर्तव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नोपदेशं ते।
यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति सदुपदेशाः॥"

श्री प्रेमचन्द ने अपनी एक कहानी ('विश्वास') में सत्य ही कहा है कि "सच्चा आदमी एक मुलाकात में ही जीवन को बदल सकता है, आत्मा को जगा सकता है और अज्ञान को मिटा कर प्रकाश की ज्योति फैला सकता है।" महात्मा गाँधी की संगति और उनके प्रभाव से कितने ही लोगों की विचारधारा बदल गई, इसे हम अच्छी तरह जानते हैं। जो लोग किंकर्त्तव्यविमूढ़ थे, उनमें गाँधीजी ने एक नई चेतना उत्पन्न कर दी। महापुरुष भवसागर के प्रकाश-स्तम्भ होते हैं।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान अपने से बड़ों के साथ रहने से ही होता है। विवेक की कुंजी उन्हीं के पास रहती है। विद्या-बुद्धि का सदुपयोग कैसे करना चाहिये, इसे वे ही बता सकते हैं। 'बिनु सतसंग विवेक न होई'—तुलसी।

(ग) सतसंगति का एक बड़ा लाभ यह है कि उससे मनुष्य के स्वभाव का संस्कार होता है। कहा भी है कि सज्जनों की संगति औषधि है—'सतां संगो हि भेषजम्।' अनेक मनोव्याधियाँ सतसंग से नष्ट हो जाती हैं। सज्जन के प्रति मन में स्वाभाविक अनुराग-भक्ति होने से

मनुष्य उसकी सज्जनता को अपना लेता है और विनय-नम्रता का अभ्यास करता है। सत्सगति से स्वभाव की कर्कशता, मलिनता और उच्छृङ्खलता मिट जाती है, बहुत-सी मिथ्या धारणायें निर्मूल हो जाती है और स्वाभाविक सरसता, उदारता एवं सहिष्णुता आदि सद्वृत्तियो का प्रस्फुरण होता है।

साधु पुरुषो की सगति से मानस-मल धुल जाता है, इसीलिये उन्हें चलता-फिरता तीर्थ कहते है—'तीर्थभूता हि साधवः'।—

"मुद मंगलमय सन्त-समाजू।
जिमि जग जंगम तीरथराजू॥" —तुलसी।

उनकी सद्भावनाओ का प्रभाव चुपचाप पडता है। उनके सम्पर्क में रहने मात्र से स्वभाव में सात्विकता आ जाती है।

(घ) सत्संग द्वारा गुणवान् के आश्रय से निर्गुणी भी गुणी बन जाता है—'गुणवदाश्रयान्निर्गुणोऽपि गुणी भवति'—कौटिल्य। इसके लिये प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। बहुत-से लोग विशेष पढ़े-लिखे नहीं होते, परन्तु वे बहुसंख्यक पढ़े-लिखो से भी अधिक व्यवहार-चतुर, शिष्ट, सभ्य और कार्य-कुशल होते है। सद्गुणी व्यक्तियो के सम्पर्क में रहकर वे बहुत कुछ सीख लेते है, जिसे विद्या-व्यसनी नही सीख पाते। सद्गुणो की शिक्षा तो सत्संग से ही प्राप्त होती है। अल्पज्ञ के विशषज्ञ होने का यही श्रेष्ठ उपाय है।

(ङ) सत्संगति से मनुष्य को व्यावहारिक सफलता भी विविध प्रकार से मिलती है। संस्कृत के एक नीतिकार ने कहा है कि विद्वानो की संगति से शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होता है, शास्त्रीय ज्ञान से विनय (शिष्टाचार, सौजन्य) और विनय से लोग अनुराग करते है—लोकानुराग प्राप्त होने से फिर क्या नहीं हो सकता ?—

"श्रुतं कृतधियां संगाज्जायते विनयः श्रुतात्।
लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः ॥"

सद्व्यवहार से तो सिद्धि मिलती ही है, इसे कौन अस्वीकार करेगा ? सद्व्यवहार सद्ज्ञान से सफल होता है और सद्ज्ञान सत्संग से। सभ्यता के साथ सफलता प्राप्त करने का यही ढंग है।

(च) सत्संग के बल से असमर्थ व्यक्ति भी अपने लक्ष्य तक पहुँचने में उसी प्रकार समर्थ हो जाता है, जैसे क्षुद्र पहाड़ी नदी गंगा के साथ मिलकर समुद्रगामिनी बन जाती है।—

"समर्थ के आश्रय से सुयोग में,
कृतार्थ होता असमर्थ व्यक्ति भी।
सुरापगा-संगम-लाभ से यथा,
नगापगा भी बनती समुद्रगा ॥"

—आनन्दकुमार।

कार्य-सिद्धि के लिये मनुष्य को सज्जनों का सहयोग तो मिलता ही है, उनसे प्रेरणा भी प्राप्त होती है। बड़ों के साथ छोटे भी उत्साह के साथ आगे बढ़ जाते हैं। महात्मा गाँधी के पीछे चलकर कितने ही साधारण लोग नेता नहीं बन गये ? सत्संगति से निश्चय ही सर्वसाधारण को सद्-गति मिल जाती है। असाध्य कार्य भी उसके द्वारा सुसाध्य हो जाता है।

(छ) लोक-प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये भी सत्संग आवश्यक है। भले आदमियों के साथ रहने वाला भला ही माना जाता है। बड़ों के साथ रहने से बड़प्पन मिल ही जाता है।—'गगन चढ़ै रज पवन-प्रसंगा'—तुलसी। सुन्दर नेत्रों के साथ काला काजल भी अच्छा लगता है। विद्वान् के हाथ में पड़कर लेखनी भी सम्मानित होती है। 'अंगराज' के शब्दों में—

"बना रहेगा वह व्यक्ति नीच क्या,
जिसे मिले सज्जन-प्रीति-पात्रता ?

निकृष्ट होती रज के समान क्या,
पुनीत गंगा-तट-रेणु पुण्यदा ??"
—अंगराज।

प्रतिष्ठित पुरुषों के परिचय-मात्र से साधारण व्यक्तियों को समाज में सिद्धि-प्रसिद्धि मिल जाती है। लोग उसीका विश्वास करते हैं जिसको चार भले आदमी जानते और मानते हैं। पुजारी लोग पत्थर को भी पुजवा देते है।

(ज) सत्संगति का एक बड़ा लाभ यह भी है कि उससे मन को शान्ति मिलती है। शान्ति इसलिये मिलती है कि एक तो मन मे यह विश्वास रहता है कि हमारे साथ सच्ची सहानुभूति रखने वाले उपकारी लोग हैं, दूसरे अपयश का भय नही रहता। गिरिधर कविराय ने ठीक ही यह सम्मति दी है—

"कह गिरिधर कविराय, छाँह मोटे की गहिये।
पत्ता सब झरि जाय, तऊ छांहै माँ रहिये॥"

आत्मिक शान्ति मिलने का एक कारण और भी है। सत्पुरुष के प्रति भक्ति रहने से हृदय को स्वाभाविक आनन्द मिलता है। उनके प्रति द्रोह-भावना रखने से चित्त प्रसन्न नही होता। यह मनुष्य की प्रकृति है।

सत्संगति के सम्बन्ध में अधिक न लिखकर हम नीति का यह वाक्य उद्धृत कर देना ही यहाँ पर्याप्त समझते हैं—

"जाड्यं धियो हरति, सिंचति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति, पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति, दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्॥"—भर्तृहरि।

अर्थात्—सत्संगति बुद्धि की जड़ता नष्ट करती है, वाणी को सत्य से सींचती है, मान बढ़ाती है, पाप मिटाती है, चित्त को प्रसन्नता देती है, संसार में यश फैलाती है—सभी कुछ तो करती है। जीवन की सफलता

के लिये और क्या चाहिये ! अन्यत्र भी कहा है—'महाजनस्य संसर्गः कस्य नोन्नतिकारकः ।' महात्मा तुलसीदास का यह कथन सत्य ही है—'सत्संगति महिमा नहि गोई ।' सत्संग सिद्धि का प्रथम सोपान है ।

५—कुसंगति क्यों त्याज्य है

इस प्रसंग में कुसंगति के कुछ दोषों पर भी विचार कर लेना चाहिये । हमारे ऋषि-मुनियों ने कुसंग का पूर्ण रूप से परित्याग करने का आदेश दिया है—'दुःसगः सर्वथा त्याज्यः'—नारद । एक संस्कृत कवि ने लिखा है कि सत्पुरुषो द्वारा अपमानित होना अच्छा है, परन्तु मूर्खों के बीच में गौरवान्वित होना अच्छा नहीं है; घोड़े के प्रहार से भूमि पर गिर पड़ना अच्छा है, परन्तु गधे के ऊपर चढ़कर चलना मनुष्य के लिये शोभा की बात नहीं है ।—

"वरं सखे सत्पुरुपापमानितः,
न नीचसंसर्गगुणैरलंकृतः ।
वराश्वपादेन हतो विराजते,
न रासभस्योपरि संस्थितो नरः ॥"

तुलसीदास ने तो यहां तक कहा है कि—

"वरु भल बास नरक कर ताता ।
दुष्ट संग जनि देहिं विधाता ॥"—मानस ।

सन्त कबीर भी कुसंगति से बहुत घबड़ाते थे—

"कबिरा संगति साधु की, हरै और की व्याधि ।
संगति बुरी असाधु की, आठौ पहर उपाधि ॥"

सत्संग से जो लाभ होते हैं, उन पर ध्यान देने से सहज ही में कुसंग से होने वाली हानियाँ समझ में आ सकती हैं । फिर भी कुछ मुख्य-मुख्य बातों का निर्देश कर देना आवश्यक है ।

कुसंगति का एक मुख्य दोष तो यह है कि उसमें 'पहिल मीठ पीछे

कठआई' का अनुभव होता है। दुर्जनो के प्रति आकर्षित होकर मनुष्य को अन्त मे स्वयं धोखा खाना पडता है—'खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं'—तुलसी। खलों के सम्बन्ध में यह कहावत सर्वथा सत्य सिद्ध होती है—'रीझे तो चाटे, खीझे तो काटे।' इसीलिये तुलसी ने कहा है—'खल परिहरिय स्वान की नाई।' उनसे प्रत्येक दशा में भयभीत रहना पड़ता है क्योकि उनकी प्रीति कृत्रिम होती है।

दूसरा मुख्य दोष यह है कि नीचों के साथ नीच बनकर और नीच कर्म करके ही उनकी मित्रता निभाई जा सकती है। मूर्ख के साथ मूर्ख और धूर्त के साथ धूर्त बनना ही पड़ेगा, क्योकि 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्।' एक नीतिकार का कथन है कि मूर्ख मूर्ख को देखकर चन्दन से भी अधिक शीतलता का अनुभव करता है, परन्तु यदि वह किसी विद्वान् को देखता है तो उसे अपने पिता का घातक ही मानता है।—

"मूर्खो मूर्खमपि दृष्ट्वा चन्दनादतिशीतलम् ।
यदि पश्यति विद्वांसं मन्यते पितृघातकम् ॥"

कहने का तात्पर्य यह है कि कुसंग मे वही प्रवृत्त हो सकता है जो अपनी आत्मा को पतित और बुद्धि को भ्रष्ट बना देता है। कुसंगति से आत्म-नाश, बुद्धि-विनाश अनिवार्य है। दुष्कर्म के लिये ही तो लोग दुष्टों का संग करते है। दुष्टो की संगति से भले आदमी भी बुरे बन जाते है। दुर्जनों के बीच में मनुष्य की विवेक-शक्ति उसी प्रकार मन्द हो जाती है, जैसे अन्धकार में दृष्टि। अनेक मनोविकार, दुर्गुण संक्रामक रोग की भाँति उसे पीड़ित करने लगते है। 'को न कुसंगति पाई नसाई'—तुलसी।

तीसरी हानि यह है कि बहुत-से अयोग्य व्यक्ति मिलकर भी आत्मोद्धार का मार्ग उसी प्रकार नहीं ढूंढ सकते जैसे सौ अन्धे मिलकर देखने में समर्थ नहीं होते—'शतमप्यन्धानां न पश्यति।' बुरे लोग किसी की भलाई कैसे करेगे? 'अन्धे को अन्धा मिला राह बतावै कौन'—कबीर।

अविवेकियो के समाज में तो यही होता है—'अन्धै अन्धा ठेलिया, दून्हूँ कूप परन्त'—कबीर।

कुसंगति का प्रधान दोष यह है कि उसके कारण मनुष्य को समाज में अप्रतिष्ठा और अकीर्ति मिलती है। 'कबहुँक दाग लगावई कारी हाँड़ी हाथ'—कबीर। सज्जन भी दुर्जन के साथ वैसा ही लगता है, जैसे 'दूध कलारिन हाथ।' इसलिये नीति का यह उपदेश है कि कुसग का शीघ्रातिशीघ्र परित्याग करके सदा सत्संग करो; दुर्जनो की संगति से सज्जन भी उसी प्रकार अशंसनीय होता है जैसे विधवा के मस्तक का सिन्दूर-विन्दु।

"रे पुत्र, सत्संगमवाप्नुहि त्वमसत्प्रसंगं त्वरितं विहाय।
धन्योऽपि निन्दां लभते कुसंगात्सिन्दूरविन्दुर्विधवाललाटे॥"

६—सत्संग कैसे करना चाहिये

कुसंग से वचना और सत्संग करके उससे लाभ लेना सहज नही है। कुसंग पद-पद पर अनेक प्रलोभनो के साथ मिलता है, सत्सग दुर्लभ और कठिन है। सत्संग कैसे सफल होता है, इस सम्बन्ध मे हम यहां कुछ उपयोगी बातें देते है।

(क) सर्वप्रथम तो यह समझ लेना चाहिये कि सत्संग कई प्रकार से होता है, और उसे सभी प्रकार से करने मे लाभ है। उसका एक प्राचीन ढंग है—तीर्थ, मन्दिर, सभा, साधु-समाज मे जाना; कथा-कीर्तन-उपदेश सुनना; महात्माओ के दर्शन करना। यह प्राचीन परिपाटी, जो अभी तक चली आती है, सम्भवतः सत्संग के लिये ही प्रचलित की गई थी।

दूसरा ढंग है—प्रभावशाली सज्जन, विद्वान्, गुरुजन, सद्गुणी तथा अनुभवी वृद्धो की कृपा, मैत्री प्राप्त करना, उनसे घनिष्ठता बढ़ाना।

सत्संग का एक तीसरा ढंग और है; वह है—ध्यान-उपासना द्वारा भगवान् और स्वर्गवासी महात्माओ की आध्यात्मिक संगति करना।

चौथा उपाय है—सद्ग्रन्थों द्वारा श्रेष्ठ पुरुषों का बौद्धिक साहचर्य प्राप्त करना। मुख्यतः जब हम किसी महापुरुष की जीवनी पढ़ते हैं, तब हम अपने को उसके साथ ही रखते हैं।

(ख) प्रत्येक प्रकार के सत्संग के लिये अपने हृदय में श्रद्धा-भक्ति और स्वभाव मे सरलता एवं सरसता चाहिये। इन सद्भावनाओं से ही सत्संग सफल होता है। तीर्थ और मन्दिरों में जब कोई सद्भावनाओं के साथ, हृदय को शुद्ध और विकार-मुक्त बनाकर जाता है, तब उसे पत्थर में भी परमात्मा मिलते हैं। कथा-कीर्तनो का प्रभाव तभी पड़ता है, जब कान के साथ हृदय-द्वार भी खुले हों। इसी प्रकार विद्वानों आदि की संगति का लाभ तभी मिलता है, जब उनके प्रति हृदय मे श्रद्धा-भक्ति और स्वभाव में मृदुता हो। इनके बिना केवल ऊपरी मिलना-जुलना निष्फल होता है। अभिलाषा से ही आत्मीयता होती है। जिसके साथ सत्संग करना है, अपनी चित्त-वृत्तियों को उसके अनुकूल रखना आवश्यक है।

(ग) सज्जन-दुर्जन, योग्य-अयोग्य को परखने के लिए सद्विवेक की भी बड़ी आवश्यकता होती है। किस समय कैसे लोगों की संगति करनी चाहिये और किसकी कौन-सी बाते अनुकरणीय है—इन बातों का निर्णय मनुष्य स्व-विवेक से ही कर सकता है। आँख मूँदकर किसी महात्मा का दास बन जाना सत्संग नहीं कहलाता। वह तो मानसिक पराधीनता है।

मनुष्य को एक उद्देश्य सामने रखकर उसके अनुसार निश्चय करना चाहिये कि किस प्रकार के साथियो से घनिष्ठता बढ़ाने में उसका लाभ है और उन साथियो का चुनाव विवेक के साथ करना चाहिये।

(घ) कोई भी व्यक्ति स्वयं सद्गुणी होकर ही गुण-सम्पन्न व्यक्तियों कोअपनी ओर आकर्षित कर सकता है। स्वयं भला होकर ही वह भले आदमियो का साथ दे सकता है। यदि वह अधीर अथवा असहिष्णु है, तो बड़े लोगो के साथ अधिक दिन नहीं टिकेगा। सत्संग के लिये तो संयम चाहिये। उसका प्रभाव प्रायः एक दिन में नहीं, वर्षों के अभ्यास से प्रकट

हो सकता है। सत्पुरुषों की विभूतियाँ सहज ही में नहीं प्राप्त होतीं। आँख मूँद लेते ही भगवान् हृदय-मंदिर को प्रकाशित नहीं कर देते।

(ङ) सत्संगी को मक्षिकावृत्ति का नहीं, मधुप-वृत्ति का अवलम्बन करना चाहिये। 'मधुकर सरिस सन्त गुनग्राही'—तुलसी। उसे सिद्ध-प्रसिद्ध व्यक्ति के दुर्गुणों को नहीं, उसके सद्गुणों को ही अपनाना चाहिये। मनुष्य यदि इस प्रकार का दृष्टिकोण बना ले तो वह अपने संगी-साथियों की विशेषताओं का पूर्ण लाभ ले सकता है। मक्षिकावृत्ति से तो उसे बड़े-से-बड़े आदमी, अच्छे-से-अच्छे ग्रन्थ में भी दोष ही मिलेंगे।

(च) दुष्ट मित्रों से ही नहीं, दुश्शील स्वजनों से, दुष्ट पशुओं से, विकारोत्पादक वस्तुओं के व्यसन और दूषित वातावरण से भी दूर ही रहना चाहिये क्योंकि इनसे प्रकृति विकृत हो जाती है। जंगली पशुओं के बीच में रहने वाला मनुष्य जंगली ही हो जाता है। इसी प्रकार पास में विकारोत्पादक वस्तु रहने से चित्त में किस प्रकार दुर्वासना बढ़ती है, इसका दृष्टान्त ऊपर धेन्वास्य की कथा में स्पष्ट है। दूषित वातावरण से मन गन्दा हो जाता है, इसे सभी मानते हैं।

स्थानाभाव से अधिक न लिखकर अन्त में हम यही कहेंगे कि आत्मोन्नति के लिये प्रत्येक व्यक्ति को, जिस प्रकार भी हो, नित्य सत्संग करना चाहिये। जिन महापुरुषों का सत्संग सदा-सर्वदा सुलभ नहीं है, उनसे क्षण भर के लिए मिलने से अथवा उनके दर्शनमात्र से भी निश्चय ही कल्याण हो सकता है।

: ११ :

धन्य कौन है ?

१—धन्यवाद की धूम

आजकल धन्यवाद बहुत सस्ता और हवा की भाँति सर्वसुलभ हो गया है। किसी को एक सिगरेट या एक प्याला चाय पीने को दे दीजिए, वह धन्यवादों की झड़ी लगा देगा। कुछ भी न देकर किसी को केवल मिथ्यावचन देने से, अर्थात् झूठा वादा करने से, भी आप तत्काल उसका धन्यवाद पा सकते है। जिसके पास कुछ भी नही है, वह भी धन्यवाद का धनी है। जो कुछ नही दे सकता, वह भी आपको बहुत-बहुत धन्यवाद दे सकता है। आधुनिक सभ्यता यही है कि छोटी-छोटी बात के लिये भी धन्यवाद देते रहो। उससे किसी का गौरव बढ़े या न बढ़े, किन्तु अपनी सभ्यता का विज्ञापन होता है और विना पैसे के काम निकलता है। जिसने धन्यवाद देने की प्रथा चलाई, वह बहुत-से लोगो के धन्यवाद का पात्र है। लोग एक-दूसरे को धन्यवाद देकर बड़े सस्ते मे छूट जाते है।

प्रश्न यह है कि इस प्रकार के धन्यवाद से क्या सचमुच कोई धन्य हो जाता है ? यदि ऐसा हो तो इस समय धूर्तमण्डली में भी शायद ही कोई अधन्य मिले। स्वार्थी चाटुकार लोग पापमूर्तियो की भी स्तुति करके नित्य कहते हैं—'धर्मावतार, आप धन्य है।' मूढ़ लोग किसी भाग्यवान् या धनी अथवा सत्पुरुष के कापुरुष बेटे को भी धन्य कहते है। क्या वे वास्तव मे धन्य या धन्यवाद के पात्र है ? धन्यवाद मे तो प्रशंसा और प्रतिष्ठा की भावना रहती है। प्रशंसा और प्रतिष्ठा के अधिकारी सब नहीं हो सकते। किसी अयोग्य व्यक्ति को सुयोग्य कहकर आप उसकी

योग्यता नहीं बढा सकते। किसी मित्र, स्वजन या कृपापात्र के धन्यवाद मात्र से काई अधन्य व्यक्ति गौरवान्वित नहीं हो सकता। किसी अनुचित कार्य में किसी असाधु से अनुचित सहायता लेकर आप उसे भले ही साधुवाद दें, परन्तु उससे वह साधु नहीं बन जायगा। तब ऐसे धन्यवाद या साधुवाद का महत्त्व क्या है? उसका महत्त्व उस खिजाब से अधिक नहीं है, जिसको लगाकर बुड्ढे जवान-जैसे लगते है।

मुग्ध मन से या केवल मुख से जो धन्यवाद दिया जाता है, उसका विशेष मूल्य नहीं है। उसमें सद्भाव कम और छल अधिक रहता है। उसे हम ढोंग या स्वार्थसिद्धि का मंत्र भी कह सकते है। सभ्य समाज में उसकी उपयोगिता इतनी ही है कि वह ऊपरी शिष्टाचार का एक अंग है। ऊपरी ठाठ-बाठ से कहीं किसी को आत्मगौरव मिलता है? उसके धोखे में नही रहना चाहिये।

२—धन्यता का रहस्य

धन्यता किसी की मिथ्या स्तुति से नहीं मिलती। क्षणिक प्रतिष्ठा के कारण अपने को धन्य मान लेने से भी वह किसी को नहीं मिलती। बड़ी दौड़धूप और अधिकारियो के पद-पूजन के बाद नौकरी पाने पर किसी के मन में धन्यता की जो अनुभूति होती है, वह एक मिथ्या वासना है। अनुचित रीति से कृतकार्य होकर आप अपने को भले ही धन्य मान लें और आपके साथी लोग भले ही आपको धन्य घोषित कर दें, लेकिन उससे आपको वास्तविक धन्यता नहीं मिलती। 'सौ-सौ जूते खायँ तमाशा घुस के देखें'—इस श्रेणी का व्यक्ति अपने को धन्य मान सकता है और बहुत-से तमाशबीन भी उसे धन्य कह सकते है, परन्तु क्या वह सचमुच धन्य है? नीचता से किसी की उच्चता नहीं सिद्ध होती, तब उसे धन्यता का अधिकारी कैसे माना जायगा?

अपने और अपने-जैसे संगी-साथियों के कहने तथा मानने से कोई धन्य नहीं होता। एक विलायती कहावत है, जिसका अर्थ यह है कि

प्रत्येक कुम्हार अपने बरतन की, मुख्यतः जब उसमें कोई दोष हो, बड़ी प्रशंसा करता है। मूढ़ लोग उसके धोखे में पड़ सकते हैं। चतुर लोग तो स्वयं परीक्षा करके ही किसी वस्तु को लेते याद यागते हैं। संसार किसी से कम चतुर नहीं है। वह कठोर परीक्षक है—एक-एक वस्तु को सहस्र नेत्रों से बड़ी सूक्ष्मता के साथ देखता है; एक-एक मनुष्य को बहुत ठोक-बजाकर सुपात्र-कुपात्र का निर्णय करता है और उसीको गौरव प्रदान करता हैं जो उसकी दृष्टि में खरा उतरता है। हमें संसार की दृष्टि से देखना चाहिये। संसार जिसको धन्य कहे, वास्तव में वही धन्य है।

लोक में धन्य होने के लिये मनुष्य में कुछ विशिष्टता—गुण-चरित्र की असाधारण योग्यता—होनी चाहिये। एक कहावत है—'चमत्कार के बिना नमस्कार नहीं मिलता।' सर्वसाधारण की अपेक्षा जिस व्यक्ति में कोई विलक्षणता होगी, वही तो लोक-दृष्टि में असाधारण एवं सम्माननीय होगा। सामान्य गुण-कर्म से कोई सम्मान्य कैसे होगा? किसी की महत्ता उसके असामान्य लक्षणों से प्रकट होती है। बुढ़ापे में भी जब कोई युवकों-जैसा उत्साह और पराक्रम प्रकट करता है, या अल्प आयु में भी जब कोई ज्ञानवृद्ध और यशस्वी बन जाता है, अथवा नश्वर जगत् में जब कोई मर कर भी अमरता प्राप्त कर लेता है, तब हम कहते हैं कि वह अद्भुत पुरुष है। तभी हम उसे साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं। ऐसे व्यक्ति को लोक हृदय से धन्य कहता है। हमें यह स्वीकार करना चाहिये कि अपनी वि शेषताओंके कारण जो प्रशंतसि और प्रतिष्ठित होता है उसीको संसार का हार्दिक धन्यवाद प्राप्त होता है। सत्पुरुषों के समाज में लोक-हृदय से ध्वनित धन्यवाद का ही मान होता है। वही मनुष्य के गौरव का परिचायक है।

अब हमें यह देखना चाहिये कि किस प्रकार के मनुष्य अपनी किन विभूतियों के कारण संसार में गण्य-मान्य और धन्य माने जाते हैं।

३—धन्य कौन है

(क) *स्वात्माभिमानी* :—स्वात्माभिमानी पुरुष धन्य है। स्वात्माभिमानी वह है जो प्रत्येक अवस्था में आत्मसम्मान का ध्यान रखता है। उसका आदर्श महामनस्वी कर्ण के इन शब्दों से समझा जा सकता है—

"मद्विधस्यायशस्यं हि न युक्तं प्राणरक्षणम् ।
युक्तं हि यशसा युक्तं मरणं लोकसम्मतम् ॥"

—वनपर्व ।

अर्थात्—मुझ-जैसे मनुष्य का अपकीर्ति के साथ प्राणों की रक्षा करना उचित नहीं है; कीर्ति के साथ तो मर जाना भी अच्छा है—ऐसा ही संसार मात्र का मत है। महाभारत में अन्यत्र भी कहा है कि जबतक माननीय पुरुष मान पाता रहता है, तबतक ही वह जीवित है; ज्योंही उसे घोर अपमान सहना पड़ा, त्योंही वह मृतक माना जाता है।—

"यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके ।
यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः ॥"

—कर्णपर्व ।

स्वात्माभिमानी वह है जो घोर संकट में भी प्रबल शत्रु या अन्यायी अथवा नीच पुरुष के आगे दीन एवं नतमस्तक नही होता। ऐसा व्यक्ति जीवन या सम्पत्ति के मोह से कभी किसी के सामने आत्म-समर्पण नहीं करता। विद्वानों के मत से 'संसार में वे ही लोग धन्य हैं जो विपत्ति में पड़ जाने पर भी दीनता से प्रेरित होकर धन से मलिन चित्त वाले पुरुषों के आँगन में कभी नही जाते।—

"विपद्यपि हि ते धन्या न ये दैन्यप्रणोदिताः ।
धनैर्मलिनचित्तानामालभन्तेऽङ्गनं क्वचित् ॥"

—स्कन्दपुराण ।

स्वात्माभिमानी पुरुष वह है जो सरकारी पदों से भी अधिक परम पद

का ध्यान रखता है। वह काठ के पदों पर नहीं, अपने पदों पर खड़े होकर आत्मवत्ता का परिचय देता है। वाह्य साधनो के भरोसे नहीं, एकमात्र आत्मबल के सहारे वह अपना मस्तक ऊँचा किये रहता है और कर्त्तव्य करता है। जहां वाह्य विवशताओं के कारण साधारण मनुष्य मन से हारकर कर्त्तव्य-विमुख हो जाते हैं, वहाँ स्वाभिमानी पुरुष लेशमात्र भी विचलित नहीं होता। राम ऐसे ही महापुरुष थे। उनके सम्बन्ध में किसी हिन्दी-कवि, संभवतः केशवदास, ने कहा है—

"पौढ़न को तृण के पथरे अरु ओढ़न को पटु द्वै वकली के।
भोजन यास मिलै कवहूँ कबहूँक भखै फल द्वै कदली के॥
सम्पति को परिवेश इहैऽरु महादुख देह विदेहलली के।
ता दिन लंक दई जु विभीषन हाथ बदौं रघुनाथ बली के॥"

स्वात्माभिमानी वह है जो देश, समाज, कुल और धर्म की मान-मर्यादा की रक्षा के लिये मर मिटने को तैयार रहता है। इनके सम्मान पर न तो वह स्वयं आघात करता है और न किसी दूसरे का आघात सहन करता है। इनके गौरव में वह अपना गौरव मानता है।

इस प्रकार जो व्यक्ति स्वतंत्र और स्वावलम्बी होकर अपने आत्म-सम्मान की रक्षा में तत्पर रहता है उसको लोकसम्मान भी मिलता है, जैसा की ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट होगया होगा। इसके विपरीत, आत्मगौरवहीन व्यक्ति की वही दशा होती है जो नादिरशाह के आगे दिल्ली की वेगमो की हुई थी। विजयी नादिरशाह ने दिल्ली दरबार में आकर मुगल बेगमो को सामने लाने का आदेश दिया। थोड़ी ही देर में वेगमो का जत्था उसके आगे आकर खड़ा होगया। नादिरशाह ने उनकी ओर आँख उठाकर देखा; इसके वाद वह अपनी तलवार को दूर रखकर स्वयं सिर झुकाकर वैठ गया। वेगमें चुपचाप खड़ी राज्य-विजेता का मुँह ताकती रहीं। थोड़ी देर में नादिरशाह ने गर्व से सिर उठाया और कड़क कर कहा—निर्लज्ज स्त्रियो, भागो यहाँ से; तुममें से एक में भी मुगलों

का जातीय अभिमान नही है; तुम्हें तो इज्जत से भी ज्यादा जान प्यारी है; तुम्हारी जैसी बाजारू औरतें दिल्ली के सिंहासन पर बैठने के योग्य बहादुर बेटे नहीं पैदा कर सकतीं। बेगमों का मान मिट्टी में मिल गया।

स्वाभिमान-रहित प्राणी लोक में इसी प्रकार तिरस्कृत होता है। स्वात्माभिमानी का आदर उसके शत्रु भी करते है।

(ख) *संयमी* :—संयमी धन्य है क्योकि वह सर्वसाधारण की अपेक्षा अधिक स्वाधीन, शक्तिशाली और सच्चरित्र होता है। संयमी वह है जो कामदेव के वशीभूत नही होता। यह बड़ा कठिन कार्य है। साधारण लोग तो 'हे विधि, मिलै कवन विधि बाला' का जाप करते हुये स्त्रियो के पीछे धन, प्रतिष्ठा और जीवन तक नष्ट कर देते है। उनके संसार में बाला का ही बोलबाला रहता है। बहुसंख्यक लोगो का यह हाल है कि पत्नी के घर में आते ही वे दयिताधीन होकर माता-पिता, भाई-बहन को अपनी काम-मूर्ति के पैरो की धूलि के बराबर भी नहीं मानते। वास्तव में, नारी पुरुष की स्पर्शमणि (कसौटी) है। बहुत कम लोग उस पर खरे उतरते है। कामी और स्त्रीजित् तो खोटे ही प्रमाणित होते है। जो खरे उतरते है, वे ही सच्चे संयमी माने जाते है। राम ऐसे ही पुरुष थे। लंका में सीता ने स्वयं हनूमान् से कहा था कि लक्ष्मण मुझ से बढकर राम के प्यारे है। लक्ष्मण राम से भी बढकर संयमी थे। उन्हे कर्त्तव्य के आगे चौदह वर्ष तक अपनी स्त्री का ध्यान भी नहीं आया। ऐसे सयमी की वन्दना कौन नहीं करेगा!

संयमी वह है जो लोभ को जीत लेता है। लोभ को जीतना सहज नही है। एक विलायती पंडित ने कहा है कि सोने की परीक्षा कसौटी से होती है और मनुष्य की परीक्षा सोने से—'Gold is tested by hard stones, men are tested by gold.'—*Chilo* साधारण व्यक्ति पैसे का प्रलोभन नहीं त्याग सकता; वह तो सोने-चाँदी के टुकड़ों पर अपना व्यक्तित्व बेच देता है। अर्थलोलुपता जन-साधारण की बड़ी भारी दुर्बलता है। उससे मुक्त रहने वाला अवश्य ही धन्य कहा जायगा।

संयमी वह है जो अहंकार के वश मे नहीं होता। साधारण मनुष्य थोड़ा-बहुत मान-दान पाकर प्रायः बहक जाते है। एक भोजपुरी कहावत है—'पिपीडीकाँ पाँखि जनमये अनल करये झपान।' अर्थात्—चींटी के जब पंख निकलते है, तो वह आग मे कूदने दौड़ती है। असंयमी पुरुषों को यही दशा होती है। वे विवेक-भ्रष्ट होकर गौरव-भ्रष्ट हो जाते है। एक पाश्चात्य विचारक ने सत्य ही कहा है कि सफलता पाकर बहुत-से भले आदमी भी बुरे बन जाते है। संयमी पुरुष ही ऊँचे स्थान पर पहुँचकर अपने को फिसलने से बचा सकता है। इसलिये वह प्रशंसनीय होता है।

इस प्रकार जो विकार-ग्रस्त, अधिकार-प्रमत्त नही होता वही उन्नति करता है। संसार उसीका सत्कार करता है क्योकि उसके द्वारा सदाचार की रक्षा होती है और सदाचार से लोक-व्यवहार चलता है।

(ग) *कृती*:—कृती धन्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली, उर माल' से सुसज्जित कृष्ण की मूर्ति को देखकर एक बार कहा था—

"का बरनौ छबि आपकी, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुप-बान हो हाथ॥"

संसार की मनोवृत्ति भी ऐसी ही होती है। वह पुरुषार्थी का आदर करता है। कोई कैसा भी भाग्यवान् और उच्च विचारो का विद्वान् क्यों न हो, यदि वह कर्मशील नहीं तो किसी काम का नही है। मनुष्य की योग्यता उसके कार्यो से प्रकट होती है, हवाई किले या बातें बनाने से नहीं। इसलिये कोरे कल्पनाशूर तथा वचनवीर को कोई गौरव नहीं देता। महाभारत मे कहा है कि जो केवल बड़ी-बड़ी बातें करता है और कुछ करके नहीं दिखाता, उसको विद्वान् लोग कायर कहते है—'अकर्मणा कत्थितेन सन्तः कुपुरुषं विदुः'—उद्योगपर्व। कायर का मान कौन करेगा ? मान लीजिये, हम आपको बड़े-बडे आश्वासन दें और कुछ करके न दिखायें अथवा कुछ करने की चेष्टा भी न करें तो आप हमें हृदय से धन्य नहीं

कहेंगे। करने और न करने से मनुष्य का मान इसी प्रकार बढ़ता-घटता है।

हम एक उदाहरण और देते हैं। मान लीजिये, हमने एक ग्रन्थ लिखा। बहुत-से लोग उसे देखकर कह सकते है कि ऐसा या इससे अच्छा तो हम भी लिख सकते थे। जबतक वे स्वयं वैसी कोई रचना प्रस्तुत नहीं करते, तबतक उनके दंभ का कुछ भी मूल्य नही है। इसी भाव को कवि रवीन्द्र-नाथ ठाकुर ने इस प्रकार व्यक्त किया है—'शहद की मक्खी कहती है कि तू इससे भी छोटा बनाकर देख—बनता है कि नहीं।' कहने की अपेक्षा करने वाले का गौरव कहीं अधिक है। संसार यह नही देखता कि हम क्या कर सकते हैं। वह तो केवल यह देखता है कि हम क्या करते है और उसीके अनुसार वह हमें मान-स्थान प्रदान करता है। एक सुप्रसिद्ध अँगरेजी कवि ने कहा है कि अपनी योग्यता के सम्बन्ध में हम कोई धारणा उन कामों के आधार पर बनाते हैं जिन्हे हम सोचते है कि हम कर सकते हैं; इसके विपरीत दूसरे लोग हमारी परीक्षा उन कामो के आधार पर करते हैं जिन्हें हम करके दिखा चुके हैं—"We judge ourselves by what we feel capable of doing, while others judge us by what we have already done"—*Longfellow*.

वास्तव में, कृती होने में जीवन की सार्थकता है। ऐसा व्यक्ति अपने कर्म से अपना उद्धार ही नहीं, लोक का उपकार भी करता है, इसलिये वह संसार में प्रतिष्ठित होता है। काम से ही नाम होता है।

(घ) *शूर-वीर* :—'वीरभोग्या वसुन्धरा' में शूरवीर धन्य है। एक नीतिकार ने कहा है कि शूर का सर्वत्र मान होता है और भीरु सर्वत्र मारा जाता है—'सर्वत्र लाल्यते शूरो, भीरुः सर्वत्र हन्यते।' पराक्रमी की प्रशंसा उसके शत्रु भी करते हैं। जिस समय महावीर रावण राम के साथ प्राणान्तक संग्राम करने आया, उस समय, कालिदास के शब्दों में, लोक-पालों को जीतने वाले, अपनी मुंड-मालिका से महादेवजी को पूजने वाले, कैलाश पर्वत को उठाने वाले उस वैरी की राम ने मन-ही-मन बड़ी सराहना की—

"जेतारं लोकपालानां, स्वमुखैरर्चितेश्वरम ।
रामस्तुलितकैलाससमरातिं बहमन्यत ॥"—रघुवंश ।

शूरवीर कौन है ? तुलसीदास ने कहा है—

"जरहिं पतंग विमोह-वश, भार वहहिं खर-वृन्द ।
ते नहिं शूर कहावहीं, समुझि देखु मतिमन्द ॥"

मूढ़ता-वश आग में कूद पड़ने वाले दुस्साहसी पतंगो को तथा बोझ लेकर चलने वाले किंकर्त्तव्यविमूढ़ गधो को कोई पराक्रमी नहीं कहता। इसी प्रकार दुर्बलों को दबाने वाले को शूर की पदवी नहीं मिलती। उसे क्रूर कहते हैं। घर बैठे मच्छर मारने वाले या तीस मक्खियो को मौत के घाट उतारने वाले तीसमारखां को कोई धन्य नही कहता। उनकी तो हँसी ही होती है। भले आदमियो पर कीचड़ उछालना, बड़े-बड़ो को नीचा दिखाना, किसी का मान लूटना, डाका डालना, अवसर का अनुचित लाभ लेना और छल-कुचक्र से दूसरो को हराना आदि शूरवीर के नहीं, शठ के लक्षण हैं। जन-बल, धन-बल या स्थान-बल के भरोसे ऐंठना भी शूरवीर होने का प्रमाण नही है। दंभी, हिंसक और अकारण उछल-कूद मचाने वाले दुष्ट तथा दुराग्रही कलही को हम शूर नहीं कहेंगे। प्रमत्त, प्रलापी तथा दूषक-विदूषक शूर-समुदाय मे स्थान नही पाते। अन्धेरनगरी या साधारण परिस्थिति में प्रतिष्ठित होने वालो की यही दशा होती है—'तौ लौं तारा जगमगै, जौ लौं उगै न सूर।'

शूरवीर वह है जो कर्मक्षेत्र में अपने बल-विक्रम, साहस-धैर्य और कर्त्तव्य-परायणता के कारण प्रशंसित हो। एक प्राचीन दार्शनिक विद्वान् ने लिखा है कि संसार में तीन प्रकार के घोड़े होते हैं: एक तो लद्दू—जो जीवन भर दूसरो का बोझ लादते-लादते मर जाते है; दूसरे कोतल—जो शोभा के लिये द्वार पर या अस्तबल मे बँधे रहते है और कभी-कभी क्रीड़ा-कौतुक के लिये बाहर लाकर सवारों द्वारा नचाये जाते है; तीसरे लड़ाई के घोड़े—जो गोली-गोलो के बीच से निर्भय होकर आगे दौड़ते

है। इन्हीं की प्रशंसा होती है। मनुष्यो के सम्बन्ध मे भी यही बात सत्य है। जो लोग जीवन-भर घर का ही बोझ ढोते रहते है उन्हे नर-रूपी लद्दू घोड़ा समझना चाहिये। जो लोग बैठे-बैठे आराम से खाते-पीते है और एक बँधे ढर्रे पर चलते है या दूसरो के इशारो पर नाचते है वे कोतल है। जो लोग साहसपूर्वक जीवन-संग्राम मे आगे बढ़ते है, विघ्न-बाधाओ के बीच में भी निर्भय होकर दौड़ते है और यथाशक्ति पौरुष-पराक्रम दिखाते है उनकी तुलना युद्धाश्व से की जा सकती है। वे ही नरवीर माने जाते है। लोक मे उन्हीका गुण-गान होता है।

वीर की परीक्षा विपत्ति मे होती है। जो संकट और संघर्ष मे पड़ कर भी नही घबड़ाते वे ही बुद्धिमान् तथा शूरमा माने जाते है—'संकटे हि परीक्ष्यन्ते प्राज्ञाः शूराश्च संगरे।' ऐसे व्यक्ति को विजय मिले या न मिले, उसका बल-विक्रम ही उसके लिये गौरव-प्रद होता है। संस्कृत मे एक जनोक्ति है—'दन्तभङ्गोऽपि नागानां श्लाघ्यो गिरिविदारणे।' पहाड़ से भिड़ने के कारण यद्यपि हाथी के दाँत टूट जाते है, फिर भी इस बात से उसकी प्रशंसा होती है कि उसने पर्वत को तोड़-फोड़ डाला। विष-पान से शंकर का कंठ भले ही काला हो गया, परन्तु उससे लोक को उनकी अलौकिक क्षमता का परिचय मिला और उनका यश अधिकाधिक उज्ज्वल होगया। कठिनाइयो मे शूरवीर की महिमा इसी प्रकार प्रमाणित होती है। पुरुषार्थी आपत्तियो का आह्वान करता है।—

"कठिनाइयों दुखों का इतिहास ही सुयश है।
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में।।"

—रामनरेश त्रिपाठी।

जिस समय विषम परिस्थितियो में कोई व्यक्ति केवल अपने बल पर असाधारण पराक्रम दिखलाता है, तभी उसके रूप में आत्मवीर का दर्शन होता है। अमेरिका के अनन्य विचारक एमर्सन का कथन है कि 'जब कोई आदमी समस्त विजातीय सहायता को छोड़कर एकदम अकेला खड़ा

होता है, तभी वह मुझे शक्तिशाली एवं विजयी दीखता है।'—"It is only as a man puts off all foreign support and stands alone that I see him to be strong and to prevail."

जिस समय कोई पुरुष सत्य और न्याय के सिद्धान्तो पर दृढ़ होकर आक्रमणकारियों के वार को झेलते हुये भी अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, तव हम कहते है कि वह धीर-वीर है, धन्य है।—'न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।' गाँधीजी ने कहा है—

"सच्चा वीर वही है जो गोलियों की वर्षा में भी अपने स्यान पर दृढ़तापूर्वक खड़ा रहे। राजा अम्बरीष ऐसे वीर थे। वे अपने स्यान पर बरावर खड़े रहे। और यद्यपि दुर्वासा ने जो-कुछ बुरे-से-बुरा करना चाहा, वह सव-कुछ कर डाला, तथापि उन्होंने उँगली तक न उठाई।"

शूरवीर के और भी लक्षण है, जिनमें से एक विशेष रूप से उल्लेखनीय यह है कि वह शत्रुओं का भक्षक भले ही हो, किन्तु दीनों का और सज्जनो का रक्षक ही होता है। उठे हुये लोगों को गिराने में उतना गौरव नहीं है जितना गिरे हुये लोगों को उठाने में। मारने वाले से तारने वाला श्रेष्ठ होता है। विध्वंस करने की अपेक्षा निर्माण करना मनुष्य के लिये श्रेयस्कर है। सच्चे शूर के चरित्र में ये विशेषतायें मिलती है। इस प्रकार के लक्षणों से युक्त पुरुष की धन्यता में किसको सन्देह होगा!

(ङ) *त्यागी* :—त्यागी धन्य है। उसे दुनिया पुण्यात्मा, सुकृती और देवतास्वरूप मानती है। त्यागी वह है जो अपनी विभूतियो को दूसरों के लिये दान कर देता है—अर्थात्, जो दूसरों के काम आता है। संसार में देने वाले का ही मान होता है, छीनने वाले का नहीं। दीपक इसलिये धन्य है कि वह स्वयं जलकर भी दूसरों को प्रकाश देता है, छोटा होकर भी समय पर सव के काम आता है। साहित्यिक धन्य है क्योंकि वह दूसरो को अपना रस देकर स्वयं सूखता है, दीपकवत् जलता है। माता धन्य है क्योंकि वह अपने रक्त से पुत्र का पोषण करती है।

इस प्रकार त्यागी द्वारा लोक का उपकार होता है। जिसका आप उपकार करेंगे उसकी दृष्टि में अवश्य धन्य होंगे। साधारण व्यवहार में ही देखिये—आपको दूसरों से धन्यवाद तभी मिलता है जब आप उनकी सुविधा के लिये कुछ त्याग करते है। रेल-यात्रा में स्वयं थोड़ा कष्ट उठाकर किसी सहयात्री को बैठने या लेटने का स्थान दे दीजिये वह आपको कृतज्ञतापूर्वक धन्यवाद देगा। त्याग में जो दूसरो के काम आने की भावना रहती है, वही गौरवदायिनी है। जिस प्रकार शरीर को त्यागकर आत्मा परमात्मा में मिल जाती है, उसी प्रकार स्वार्थ को त्याग कर मनुष्य लोक में व्याप्त हो जाता है।

किसी के आत्मत्याग से उसकी व्यक्तिगत हानि भले ही हो, लेकिन उससे जीवन के नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा होती है। इसलिये समाज उसके प्रति ऋणी रहता है। राम ने लोकमर्यादा की रक्षा के लिए राज्य और स्त्री का परित्याग किया था, इसलिये लोक उनको धन्य कहता है। लक्ष्मण ने भ्रातृ-सेवा के लिए अपनी सत्ता ही मिटा दी थी, इसलिये आजतक भारतीय जनता उनकी सराहना करती है। जिस सुमित्रा ने पुत्र-मोह त्यागकर लक्ष्मण से वार-वार कहा था—जाओ, (राम के साथ वन को) स्वच्छन्द मन से जाओ—'सुमित्रा गच्छ गच्छेति, पुनः पुनरुवाच तम्' (रामायण)—उसे कौन नहीं धन्य कहेगा ? इस प्रकार के और भी उदाहरण दिये जा सकते है। उनसे यही सिद्ध होगा कि नैतिक सिद्धांतों की रक्षा के लिये जो व्यक्ति अपनी भौतिक सम्पदाओ का जितना ही अधिक त्याग करता है, वह संसार का उतना ही अधिक अनुराग पाता है।

मनुष्य का सबसे बड़ा त्याग है प्राण-त्याग। कर्मवेदी पर अपने जीवन का बलिदान करने वाला प्राणी मर कर भी अमर होता है। वीरगति पाने वाले को विजयी से भी अधिक गौरव मिलता है। उसके लिये संसार अपने असंख्य कंठों से एकस्वर से घोषित करता है कि वह नृदेव है, अक्षय कीर्ति का अधिकारी है, धन्य है। कबीर के शब्दों में—

"सिर राखे सिर जात है, सिर काटे सिर सोय।
जैसे बाती दीप को, काटि उँजियारा होय॥"

हमारे ही छन्दोबद्ध शब्दो में—

"चढ़ती देव-पदारविन्द पर ज्यों अंजली सुमन की।
राष्ट्रदेवता-चरणों पर त्यों बलि चढ़ती सज्जन की॥
शिरोधार्य होते प्रसून वे शाखा-च्युत होकर भी।
मान्य नहीं होते हैं कंटक रहकर द्रुमदल पर भी॥"

—अंगराज।

भोगी का भव-वैभव तो क्षणिक होता है, किन्तु त्यागी की विभूतियाँ कभी नष्ट नहीं होतीं। भोगी (विषयी, सर्प) से लोग भागते है, त्यागी को अपनाते है।

(च) *विजयी* :—संघर्षमय जीवन में विजयी धन्य है। दंगल जीतने वाले का भी लोग सत्कार करते है, महत्कार्यों में सफलता प्राप्त करने वाले का अभिनन्दन क्यों न करेंगे! कर्म-सिद्धि से कर्मवीर को गौरव मिलता ही है। उससे उसकी आत्मयोग्यता प्रमाणित होती है।

मानव-समाज में छल, प्रपंच और अधर्म से कृतकार्य होने वाला विजयी नहीं माना जाता। दूसरों के अधिकार छीनकर और बुरे-से-बुरे शत्रु को भी अन्याय से पराजित करके कोई विजयी नहीं हो सकता। संख्याबल से जीतना भी प्रतिष्ठाजनक नहीं है। क्रूरता और धृष्टता से क्षणिक प्रतिष्ठा पाना भी विजयी होने का प्रमाण नहीं है।

विजयी वह है जो नैतिक सिद्धान्तो के अनुसार अपने पौरुष-पराक्रम से विरोधी शक्तियो का दमन करने मे समर्थ होता है। सत्य और न्याय जिसके पक्ष में रहते है, उसको विजयी मानना चाहिये। ऐसा व्यक्ति शत्रु को ही नहीं, लोक-हृदय को भी जीत लेता है।

शस्त्र द्वारा शत्रु पर अधिकार पाने वाला ही विजयी नहीं कहलाता। शास्त्र, अर्थात् ज्ञान और तर्क से विरोधियों को परास्त करके वशीभूत

करने वाला भी विजयाधिकारी होता है। सबसे अधिक प्रभावशाली विजयी वह है जो प्रेम और सद्व्यवहार से दूसरो को अपने आधीन कर लेता है। पत्नी के हृदय को प्रेम से जीतने वाला ही तो उसका वीर (पति) माना जाता है। कठोरता की अपेक्षा मृदु उपाय से जीतने की महिमा अधिक है। कामदेव ऐटम बम नहीं मारता। वह बडी सुकुमारता से पुष्पबाण ही चलाता है, फिर भी वह सर्वविजेता है। सारा संसार उसके आगे नित्य दंडवत् प्रणाम करता है।

जननायकत्व लोकरंजक चरित्र से सिद्ध होता है। शासन करने वाला उतना लोक-प्रिय नहीं होता जितना लोक-सेवक। लोक-सेवा से मनुष्य जनता का हृदय-सम्राट् बन जाता है।—

"सेवा है महिमा मनुष्य की, न कि अति उच्च विचार द्रव्य-बल।
मूल हेतु रवि के गौरव का, है प्रकाश ही न कि उच्च स्थल।।"

—स्वप्न।

'जन-गण-मन-अधिनायक' का जय-गान कंठ-कंठ से होता है।

(छ) *सज्जन* :—मानव-समाज में सज्जन धन्य है। सज्जन होना सहज नहीं है। संसार में किसी भी वस्तु का बनना कठिन है और बिगड़ना सहज। मनुष्य का भी सीधा होना कठिन है और टेढा होना सहज। कुटिल और कपटी होना सरल है, परन्तु सरल और साधु होना बहुत कठिन है। इसलिये सज्जन को धन्य मानना ही चाहिये।

सज्जन अपने जिन गुणो से प्रशंसित होता है, उनमें से दो-चार यहाँ उल्लेखनीय है।

सज्जन की एक पहचान यह है कि वह बाहर-भीतर से एक अर्थात् सरल, निष्कपट होता है। यह एक असाधारण गुण है। बड़े-बड़े विद्वान् भी साधुता से वंचित होने पर शठ हो जाते है। उनका कोई विश्वास नहीं करता।—

"दादू कथनी और कछु, करनी करैं कछु और।
तिनते मेरा जिउ डरै, जिनके ठीक न ठौर॥"

ऐसे वंचकों को सभ्य समाज तुलसी के शब्दो में यह कहकर दुतकारता है—

"करि हंस को वेष बड़ो सबसों,
तजि दे बक वायस की करनी।"

वास्तव मे, मनुष्य की सरलता उसे सर्वप्रिय, सबका विश्वासपात्र बनाती है। सरलता का अर्थ है आडम्बरशून्यता, मन-वचन-कर्म की एकता, व्यक्तित्व की स्पष्टता। सरल जीवन और उच्च विचार का सुसंस्कृत व्यक्ति ही सज्जन माना जाता है।

लोकधर्म की मर्यादा मे स्थिर रहना भी सज्जन का एक मुख्य लक्षण है। प्रत्येक वस्तु अपने स्थान पर ही सुन्दर लगती है। गाय भी जबतक अपने स्थान पर रहती है, तबतक वह भली लगती है। लोग उससे प्रेम करते है। लेकिन वही जब किसी के खेत में चली जाती है, तो वह उसे लाठी लेकर मारने दौड़ता है। मनुष्य का भी यही हाल है। जबतक वह अपनी मर्यादा का पालन करता है, उसका व्यक्तित्व प्रभावशाली बना रहता है। मर्यादा का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति लोक-निन्दित हो जाता है। स्त्री को गृहिणी का और पुरुष को गृहस्थ का गौरव तभी मिलता है जब वे अपनी-अपनी मर्यादा को निभाते है। सभी विषयों मे ऐसा ही समझना चाहिये। मर्यादा-भ्रष्ट होने से मनुष्य का गौरव नष्ट हो जाता है। सज्जन अपनी सच्चरित्रता के कारण श्रेष्ठ एवं सम्मान्य होता है।

सज्जन को हम उसके सद्व्यवहार से पहचानते है। वह विनयी, मृदुभाषी, शिष्ट और शान्त तथा परोपकारी होता है। साधारण व्यक्ति में ये सद्गुण नहीं मिलते। नीच पुरुष थोड़ा-बहुत सम्पन्न होते ही दुर्विनीत और प्रमादी हो जाता है, परन्तु सत्पुरुष उन्नति के साथ अधिकाधिक विनयी, सुशील और उदार बन जाता है। एमर्सन ने कहा है कि बड़ा

आदमी सदा छोटा बनने को (झुकने को) तैयार रहता है—'A great man is always willing to be little' अपनी सौम्यता से वह समाज में चन्द्रमा की भाँति सुशोभित होता है।

मृदुभाषिता ही सज्जनता की पूरी पहचान नही हैं। सत्यवादिता उससे भी अधिक आवश्यक है। सज्जन बात का धनी होता है, प्राण देकर भी वह अपने प्रण की रक्षा करता है। संसार पैसों के धनी की अपेक्षा बात के धनी को अधिक गौरव प्रदान करता है। सत्यवादी, दृढ़-प्रतिज्ञ का सत्कार और मिथ्यावादी एवं प्रतिज्ञादुर्बल का तिरस्कार सभ्य जगत् में सदा से होता आया है। जनता ऐसे ही मनुष्य को धन्य कहती है जिसका आदर्श होता है—'प्रान जाइ वरु बचन न जाई'—मानस। सज्जन की महत्ता इस प्रकार के गुणो से सिद्ध होती है।

(ज) *ज्ञानी* :—ज्ञानी धन्य हैं। संसार मे मूर्खों की उपासना नहीं होती, चाहे वे कितने ही वैभव-सम्पन्न क्यो न हो। मनुष्य का भूषण उसका ऊपरी ठाठ-बाठ नही, उसका ज्ञान है। नीति का एक श्लोक है—

"अक्षराणि परीक्ष्यन्ताम्बराडम्बरेण किम्।
शम्भुरम्बरहीनोऽपि सर्वज्ञः किं न जायते॥"

दीन-हीन मनुष्य भी यदि ज्ञानी हो तो वह मान्य है। बालक भी यदि ज्ञानवृद्ध हो तो वह वयोवृद्ध अज्ञानी से श्रेष्ठ है। ज्ञानी का मस्तक सदा ऊंचा रहता है।

ज्ञानी कौन है? बहुत-से शास्त्रो को रट कर परीक्षा पास कर लेने वाला ज्ञानी नहीं माना जाता। दुष्कर्म में प्रवीण को भी ज्ञानी नहीं कह सकते क्योकि कुकर्म मे तो सभी निपुण होते हैं—'कुकृत्ये को न पंडितः।' ज्ञानी वह है जो विद्वान् हो, एक या अनेक विषयों का मर्मज्ञ, दोषज्ञ, विशेषज्ञ हो। उपयोगी विद्या के जानकार को विद्वान् कहते हैं। इस प्रकार की 'विद्या से शीघ्र ख्याति मिल जाती है'—'विद्यया ख्यापिता ख्यातिः'—कौटिल्य। इसके लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। 'विद्वान् सर्वत्र

पूज्यते ।' उसकी पूजा का रहस्य यह है कि वह सर्वसाधारण से अधिक ज्ञान-सम्पन्न, दूरदर्शी और विवेकी होता है ।

ज्ञानी वह है जो गुणी हो, जिसे किसी विषय का रचनात्मक ज्ञान हो । कलाकार को हम ज्ञानी कह सकते हैं । सफल वक्ता, व्यवहारदक्ष और कार्यकुशल को ज्ञानी ही माना जाता है । उनके गुणों से मानवीय योग्यता का परिचय मिलता है, इसलिये वे प्रशंसा के पात्र होते हैं ।—

"साहव तें सेवक बड़ो जो निज धरम सुजान ।
राम बाँधि उतरे उदधि, लाँघि गये हनुमान ॥"

हनूमान् कार्य-दक्ष होने के कारण राम की दृष्टि में भी धन्य थे । कृष्ण नीतिज्ञ होने के कारण सर्वोपरि थे । इसी प्रकार कितने ही लोग अपनी वाग्मिता के कारण प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा पा चुके हैं ।

ज्ञानी उसे कहते हैं जो प्रतिभावान्—मौलिक विचारों का स्रष्टा हो । कवि, विचारक, सुलेखक, आविष्कारक आदि इसी श्रेणी में आते हैं । उनकी कृतियों से उनकी अद्भुत क्षमता का पता तो चलता ही है, लोक का उपकार भी होता है । इसलिये वे सर्वसाधारण के सम्मान-पात्र होते हैं । सुप्रसिद्ध क्रियोद्यमी स्वर्गीय हेनरी फ़ोर्ड ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि विचार करना किसी भी मनुष्य के लिये सर्वाधिक दुष्कर कर्म है; संसार में विचारकों की संख्या बहुत कम होने का संभवतः यही कारण है—"Thinking is the hardest work any man can do, which is probably the reason why we have so few thinkers."

—*My Life And Work.*

दुर्लभ नर-चिन्तामणि का मान होना उचित ही है । ज्ञानी की महिमा के सम्बन्ध में और भी लिखा जा सकता है । परन्तु यहाँ एक ही बात और कहना पर्य्याप्त है—'यः क्रियावान् स पंडितः'—विराट् पर्व । क्रियावान् की मान्यता के सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं ।

सारांश :—सारी बातों का सारांश यह है कि संसार में सच्चा

गौरव पाने के लिये मनुष्य को गुण और चरित्र से महान्—मानी और नामी—होना चाहिये। क्षणमात्र का गौरवपूर्ण जीवन भी एक शताब्दी के गौरवहीन जीवन से कहीं अच्छा माना जाता है। उसीका जीवन धन्य है जो अपनी योग्यता से उत्तरोत्तर गौरवोपार्जन करता है और अपने यश को कलंकित नहीं होने देता।

: १२ :

आत्म-निरीक्षण

१—व्यक्तित्व का खोटापन

पुराण-प्रसिद्ध राजा बलि से एक भूल हुई थी। वे वामन के विराट् रूप को नही पहचान सके। संसार मे बहुत से लोगो को इस प्रकार का धोखा होता है। वे कितनी ही बातो या वस्तुओ को साधारण एवं उपेक्षणीय समझते है। यह समझ की भूल है। वामन मे विराट्, बिन्दु मे सिन्धु और क्षण में युग समाया रहता है। नेपोलियन ने कहा है कि बहुत सी घटनाये देखने मे तो बहुत छोटी ज्ञात होती है, परन्तु उनका परिणाम प्रायः बहुत बड़ा होता है—'Events that seem very small often have very great results.' कोई भी बात या कोई भी वस्तु अथवा घटना केवल ऊपर से छोटी होने के कारण तुच्छ नही हो सकती।

साधारण खाँसी क्षय की जननी बन जाती है और मामूली हँसी झगड़े की जड़। एक छोटे-से फोड़े में भी असह्य वेदना छिपी रहती है। एक छोटी-सी मक्खी के रूप में कभी-कभी मृत्युवाहिनी धूमधाम से धावा करती है। अच्छे-से-अच्छे भोजन को भी एक मक्खी दूषित एवं विषवत् त्याज्य बना देती है। पैर मे चुभे हुये काँटे से सम्पूर्ण शरीर व्यथित हो जाता है। एक कील के निकल आने पर बढ़िया-से-बढ़िया जूता भी नही पहना जा सकता। बहुत-सी वस्तुयें देखने मे तो छोटी लगती है, परन्तु वास्तव में बड़ी खोटी होती है। उनके महत्त्व को अस्वीकार नही किया जा सकता।

उस छिद्र को सोचिये जिसके कारण किसी सुपात्र की उपयोगिता

कम या नष्ट हो जाती है। सिक्के का खोटापन देखने में बहुत छोटा होता है, लेकिन उसीके कारण तो सारा सिक्का बेकार हो जाता है। उसे कोई दो कौड़ी को भी नहीं पूछता। पंडितराज जगन्नाथ ने सत्य कहा है कि जैसे औषधियों में श्रेष्ठ लहसुन अपने तीक्ष्ण गन्ध के कारण निन्द्य है, उसी प्रकार अनेक गुण-सम्पन्न पदार्थ एक दोष के होने पर भी निन्दित माना जाता है।—

"अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनमहितो गन्धेनोग्रेण लशुन इव॥"

—भामिनी-विलास।

दोषों को साधारण नहीं मानना चाहिये। अनेक गुणों के सामने एक दोष देखने में कम या छोटा भले ही लगे, परन्तु उसका प्रभाव वैसा ही हो सकता है जैसे दूध में पड़ी मक्खी का। एक दुर्गुण सौ सद्गुणों को ढँक सकता है। प्रायः कुछ लोगों के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उसमें यदि अमुक दोष न होता तो वह कुछ-का-कुछ होता। इस कथन में सचाई है। एक दोष से भी मनुष्य का व्यक्तित्व खोटा हो जाता है। शेख सादी ने कहा है कि पचास वरसों की बहुत-सी नेकनामी को केवल एक बदनामी मटियामेट कर देती है।

मनुष्य के स्वभाव, चरित्र, विचार, दृष्टिकोण, बात-व्यवहार आदि में किसी भी प्रकार की त्रुटि या कमी उपेक्षणीय नहीं है। उपेक्षणीय होती तो किसी विद्वान् की कोई छोटी भूल लोगों को बहुत न खटकती। इसे तो सभी जानते हैं कि कभी-कभी एक असावधानी से भी बड़े-बड़े काम बिगड़ जाते हैं और एक मामूली गलती के लिये मनुष्य को बाद में बहुत पछताना और दबना पड़ता है। समझ की थोड़ी भूल से बड़े-बड़े भ्रम और अनर्थ होते हैं। मन में एक छोटा शक पैदा होकर बहुत दिनों के प्रेम-विश्वास को जड़ से उखाड़ देता है। विचारों की थोड़ी संकीर्णता या तुच्छता बड़े-बड़ों को हल्की या छोटी तबीयत का आदमी बना देती है।

मन की दुर्भावना से मनुष्य का सम्पूर्ण व्यवहार दूषित हो जाता है। इसी प्रकार व्यवहार की एक चूक या साधारण उपेक्षा से अच्छे मित्रों में भी परस्पर मनोमालिन्य हो जाता है। आपका कोई स्नेही या स्वजन यदि आपकी कोई छोटी-सी बात न माने तो आपको कितना बड़ा धक्का लगता है! अवहेलना साधारण हो सकती है, परन्तु उसका परिणाम साधारण नहीं होगा।

कितनी ही ऐसी साधारण प्रतीत होने वाली बातें हैं जिनसे मनुष्य की अभद्रता, अदूरदर्शिता और अयोग्यता प्रमाणित होती है। जिस प्रकार एक छोटे धब्बे से भी किसी सुन्दर चित्र की शोभा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार एक कलंक से मानव-चरित्र की महिमा घट जाती है। एक अंग की दुर्बलता का प्रभाव सम्पूर्ण जीवन पर पड़ता है। अतएव उन्नतिकाम मनुष्य को अपने छोटे दोषों के प्रति भी असावधान नहीं रहना चाहिये। उनसे प्रतिष्ठा-हानि के अतिरिक्त कर्म-हानि भी होती है। छोटी बातों में सतर्क रहना ही कार्य-दक्षता का प्रमाण है। कारीगर के हाथ की सफाई का पता तभी चलता है, जब बारीक-से-बारीक काम में कहीं कोई भूल-चूक न हो। मामूली छूट से उसकी अयोग्यता प्रकट होती है। जीवन की कारीगरी में भी इसी प्रकार की निर्दोषता चाहिये। एक विलायती विचारक ने ठीक ही कहा है कि छोटी-छोटी बातों से पूर्णता प्राप्त होती है और पूर्णता साधारण वस्तु नहीं है। जबतक किसी वस्तु में कोई कमी है, तबतक तो वह अपूर्ण और सदोष ही रहेगी। उस कमी को दूर करना चाहिये जिससे सारी वस्तु का महत्त्व कम होता है।

अपने दोषों की उपेक्षा अथवा उनको छिपाने की चेष्टा करना मूर्खता है। आप स्वयं उनकी उपेक्षा कर सकते हैं, परन्तु जाँच करने वाले तो उन्हें पकड़ ही लेंगे। दुष्टों की आँखें तो उन्हीं पर रहती हैं क्योंकि उन्हीं के द्वारा आपकी हानि हो सकती है। छिद्र पर प्रहार करके ही तो शत्रु विजयी होते हैं। एक नीतिकार ने सत्य कहा है कि अपने दोषों को सुधारना ही शत्रु से बदला लेने का सर्वोत्तम उपाय है। उनकी ओर ध्यान

न देने से आत्मबल क्रमशः क्षीण हो जाता है। अपने दोषों को आप चुपचाप पचा भी नहीं सकते। इस भ्रम में नहीं रहना चाहिये कि संसार आपको नहीं पहचानेगा। संसार से आप अपने को छिपा नहीं सकते। वह परम पारखी, प्राचीन अनुभवी एवं त्रिकालदर्शी है—सूर्य, चन्द्र और तारों के तथा असंख्य प्राणियों के नेत्रों से आपको प्रत्येक क्षण घूर-घूर कर देखता है। उसके पास पवन-जैसा गुप्तचर है जो आपके अन्तस्तल में भी प्रवेश कर सकता है। आप उससे अपने दुर्विचारों को भी छिपाकर नहीं रख सकते। आपके सुमन या कुमन की सुगन्ध या दुर्गन्ध दूर-दूर तक पहुँच ही जाती है। दुर्गुणों का विज्ञापन बिना अखबार में छपाये ही हो जाता है। आप स्वयं उसे चाहे न पढ़िये, लेकिन दूसरे लोग तो बिना पढ़े मानते ही नहीं।

२—स्वछिद्रान्वेषण

ऐसी दशा में प्रत्येक व्यक्ति को उचित है कि वह जीवन एवं तत्सम्बन्धी प्रत्येक विषय को सूक्ष्म दृष्टि से देखे और अपनी त्रुटियों को पहचान कर यत्नपूर्वक उनका सुधार करे। एक पाश्चात्य पंडित ने लिखा है कि 'प्रत्येक कार्य में छोटी बातों का सूक्ष्म निरीक्षण ही सफलता का रहस्य है।' जिस ढंग से कोई व्यवसायी अपना रोकड़ मिलाता है, उसी ढंग से सबको अपने जीवन का हिसाब-किताब ठीक रखना चाहिये। एक पैसे की भूल से रोकड़ गड़बड़ा जाता है; उसी प्रकार एक भी त्रुटि से जीवन में गड़बड़ी आ जाती है।

मनुष्य को दोषज्ञ होना चाहिये। दोषज्ञ होने का अर्थ परछिद्रान्वेषी होना नहीं है। परछिद्रान्वेषण में तो सभी प्रवीण होते हैं। दोषज्ञ वह है जो अपने दोषों का भी जानकार हो। जैसे, सच्चा ज्ञानी वह है जो आत्मज्ञानी हो। यह बड़ा कठिन कार्य है। दूसरों की पीठ तो हर कोई देख लेता है, लेकिन स्वयं अपनी पीठ कोई आसानी से नहीं देख सकता। उसे देखना भी आवश्यक है।

अब प्रश्न यह है कि कोई मनुष्य अपनी बुराइयों की छानबीन या गलतियों की जाँच-पड़ताल कैसे कर सकता है ? नीति का वचन है कि कोई किसी के सामने उसकी बुराई नहीं करता, अतः अपने दोषों को स्वतः लोक-शास्त्र की दृष्टि से देख लेना चाहिये।—

"प्रत्यक्षं दुर्गुणान्नैव वक्तुं शक्नोति कोप्यतः।
स्वदुर्गुणान्स्वयं चातो विमृशे लोकशास्त्रतः।"

इसीको हम आत्म-निरीक्षण या स्वछिद्रान्वेषण कहते हैं। इस उपाय से अपने स्वभाव, दृष्टिकोण, विचार और व्यवहार आदि की परीक्षा करने से मनुष्य को अपनी बहुत-सी कमजोरियों का पता चल जाता है। संसार को दोष देने के पूर्व अपने दोषों को भी देख लेना चाहिये। संसार को अन्धकारमय कहने के पहले यह देख लीजिये कि कहीं आपके हृदय-सदन में ही तो अँधेरा नहीं है। अपनी उस मनोव्यथा को ढूंढिये जिसके कारण हर्ष में भी आपको विषाद की ही छाया दिखाई पड़ती है। यदि दुनिया धुँधली दिखाई पड़ती है तो उसे ही दोष मत दीजिये। संभव है, आपकी दृष्टि में ही धुँधलापन हो। किसी काम के बिगड़ने पर उस काम को अथवा विघ्न-बाधाओं या बेचारे वृद्ध विधाता को ही दोष मत दीजिये। अपने बुद्धि-दोष और कर्म-दोष पर भी विचार कीजिये। यह देखिये कि आपकी मति तो कुंठित नहीं है, आपकी मानसिक क्लीवता ही तो आपकी असफलता का कारण नहीं है ? जो विकार आपको बाहर दिखाई पड़ता है, उसका मूल स्वयं आपके भीतर हो सकता है। ठीक से पता लगाइये तो अनेक पाप-तस्कर आपके मन के महल में घुसे हुये मिलेंगे। उन्हे स्वयं और दूसरों की सहायता लेकर भी उसी प्रकार पकड़िये जैसे कोई चोर को पकड़ता है।

दूसरों की दृष्टि का लाभ इस प्रकार लिया जा सकता है। मान लीजिये, लोग आपको दुतकराते हैं—आपका तिरस्कार करते हैं। उस अवस्था में उन पर रोष करने के पहिले उनकी दृष्टि से स्वदोष का अवलोकन

कीजिये। अपनी उस गन्दगी की ओर ध्यान दीजिये जिसके कारण लोग आपसे नाक-भौंह सिकोड़ते है। यह देखिये कि कहीं आप ही में तो श्वान-वृत्ति—अर्थात् काटने दौड़ना, भूँकना, जीभ निकाले रहना, दूसरों के द्वार पर पड़े रहना, भगाने से भी न भागना, स्वार्थवश सबके पीछे घूमना, आदि—नहीं है ? यदि आपमे ऐसे लक्षण होगे तो आपका आदर कोई भला आदमी कैसे करेगा ? यदि कोई आपका विश्वास नही करता तो यह देखिये कि आपकी विश्वासपात्रता में कहां कमी है। यदि लोग आपसे चौंकते है तो उन्हें बुरा-भला कहने के पहले अपनी उन दुर्बलताओं को भी देख लीजिये जिनके कारण उन्हे आपसे सावधान रहना पड़ता है। यदि आपको दूसरों से सम्मान नही मिलता तो इस बात पर विचार कीजिये कि आप गुण-चरित्र से, वास्तव में, सम्मान के योग्य भी है या नही। भूख लगने से ही किसी को भोजन नही मिलता। जो अध्यापक यह कहते है कि आजकल के शिष्य पूर्वकाल के छात्रो की भाँति गुरु-भक्त नहीं होते और जो बाप यह कहते है कि आजकल के लड़के पिता को देवता-तुल्य नहीं मानते उन्हें यह भी देखना चाहिये कि उनमे स्वयं गुरुता और देवता-पन का अभाव तो नहीं है। प्रतिष्ठा तो योग्यता के अनुसार ही मिल सकती है। यदि आप स्वयं अभद्रता की मूर्ति होगे तो कोई आपको भद्र-पुरुष मानकर क्यों पूजेगा ? यदि लोग आपकी बात नहीं सुनते तो आपको स्वयं देखना चाहिये कि आपकी बात सुनने या मानने लायक है भी या नही। यदि लोग आपको उल्लू बनाते या समझते है तो उन्हें बाद में दोष दीजिये। पहले यह तो सोचिये कि किसी के बनाने से आप उल्लू क्यों बन जाते है ? आप में कुछ उल्लूपन होगा, तभी तो लोग दूसरों को छोड़कर आप ही को उल्लू बनाते होगे। अपनी उन दुर्बलताओं को देखिये जिनके कारण दूसरे लोग आपको कमजोर समझकर दबाते हैं। यह देखिये कि आप कुछ बुरी आदतो से लाचार तो नही है, आपके स्वभाव मे दब्बूपन, मन में किसी प्रकार की मिथ्या धारणा और व्यवहार में कोई त्रुटि तो नहीं है ? इस प्रकार आपको अपने अनेक दोषों का पता चल

जायगा । उन्हें सुधार कर आप अपने को इस योग्य बना सकेंगे कि दूसरों के आगे आपको नीचा न देखना पड़े । आत्म-निरीक्षण का यही प्रयोजन है ।

आगे हम कुछ दोषों के उदाहरण देते हैं । ऐसे दोष प्रायः स्वभावभूत होने के कारण अपने को स्पष्ट नही ज्ञात होते, परन्तु उनसे मनुष्य का व्यक्तित्व और व्यावहारिक जीवन बहुत-कुछ दूषित हो जाता है । इनके आधार पर आप अपनी स्वयं परीक्षा कीजिये । संभव है, आपको अपनी कुछ अज्ञात भूलों का पता चल जाय ।

३—आत्मवंचना

नारद-मोह की कथा बहुप्रसिद्ध है । उन्होंने अपने अतिसुन्दर रूप की मिथ्या कल्पना करके एक राजकुमारी को मोहित करने की चेष्टा की थी । भगवान् ने उन्हें बन्दर का मुख दे दिया था, किन्तु 'उर अंकरेउ गर्व-तरु भारी' के कारण उन्हे उसका ज्ञान नहीं था । स्वयंवर में लोग उन्हें बनाते थे, लेकिन वे तो अपने को रूपनिधान मान बैठे थे । उचक-उचककर उन्होंने बार-बार राजकन्या को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया, परन्तु उसने उन्हें वानर समझकर उनका तिरस्कार किया । अन्त में बेचारे नारद को मूर्ख बनना पड़ा । शिव के गणों ने उनका उपहास किया । इस पर उन्होंने पानी में अपना मुंह देखा और क्षुब्ध होकर गणों को ही नहीं, भगवान् तक को शाप दे डाला । संक्षेप में यही नारद-मोह की कथा है । इस प्रकार का धोखा अनेक लोगों को होता है । अपने एक मिथ्यारूप की कल्पना करके वे अहंकार में फूले और भूले रहते हैं । दूसरों को तो वे सहस्र दृष्टियो से देखते है, परन्तु अपने को एक दृष्टि से भी नहीं देखते । अपना मुंह न देखना और अपने को कुछ-का-कुछ समझ लेना ही आत्मवंचना या मन का धोखा है । इसे सरल शब्दों में हम समझ की भूल भी कह सकते हैं । इसके परिणामस्वरूप अनेक अनर्थ होते हैं ।

कुछ उदाहरण लीजिये । बहुत-से लोग अपने विषय में इस प्रकार के विचार रखते हैं—मैं सर्वथा निर्दोष हूं, अन्य लोगो में कोई-न-कोई दोष

अवश्य है; एकमात्र मैं ही सच्चा हूँ, दूसरे लोगों का कोई भरोसा नहीं है; मुझ में बुद्धि अधिक है, और अन्य लोगो में मूर्खता; मैं जितने काम का हूं, उतने काम का दूसरा आदमी नहीं हो सकता; जो कुछ मैं समझता हूं वही ठीक है, वैसा ही होना उचित है, आदि-आदि । ये सब मन के धोखे है । इनके कारण लोग बहक जाते है । उन्हे अपनी अयोग्यता का ध्यान नहीं रहता । अमेरिका के एक धर्मगुरु ने कहा है कि जहां कोई व्यक्ति अपने को अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक योग्य या बुद्धिमान् समझता है, वहीं उसकी सबसे बड़ी कमजोरी है— "The weakest spot in every man is where he thinks himself to be the wisest."—*Emmons.*

किसी ज्ञान-दुर्विदग्ध को देखिये तो इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायगी । ज्ञान-दुर्विदग्ध वह है जो अल्पज्ञ होकर भी अपने को सर्वज्ञ मान लेता है । ऐसा व्यक्ति अपने में तो अनेक गुणों की और दूसरों मे नाना दोषो की कल्पना करके स्वयं बहुत चतुर बनने की चेष्टा करता है । उसका गला भले ही खराब हो, लेकिन वह बड़े-बड़े गवैयों का गौरव लूटने का दुस्साहस करेगा ।—'मति अति रंक मनोरथ राऊ'—तुलसी । इसका परिणाम क्या होता है ? परिणाम वही होता है जो 'बीछू मंत्र न जानहिं, सांप पिटारे हाथ' वाले का होना चाहिये । हम एक ऐसे मूर्ख को जानते हैं जो कम पढ़ा-लिखा होकर भी यह समझने लगा है कि वह पुलिस-कप्तान होने की योग्यता रखता है । पुलिस की पोशाक पहनकर वह घर में और साथियो के बीच में कप्तानी का अभिनय करता है और अकारण पैर पटककर चलता है । लोग हँसते है, लेकिन उनकी हँसी का गूढ़ आशय मूढ़ की समझ मे नही आता । असली कप्तान से पत्र-व्यवहार करने का भी उसे शौक है । अपने पत्रो मे वह अपने 'पुलिसत्व' का प्रदर्शन तो करता है, लेकिन वह प्रदर्शन कैसा होता है, इसको इसीसे समझिये कि वह कप्तान को कपत्तान लिखता है । इस प्रकार जब किसी व्यक्ति में जोश अधिक और होश कम होता है, अर्थात् जब उसका मन

बढ़ जाता है या मिजाज नहीं मिलता, तब उसे धोखा होता है। न तो उसे मनोवांछित प्रतिष्ठा मिलती है और न सफलता। पतलून की ताक में वह अपनी लंगोटी भी गंवा देता है।

आत्मवञ्चना का एक दूसरा उदाहरण यह है। कुछ लोग स्वयं अयोग्य होकर भी अपने को केवल बड़े बाप का बेटा होने के कारण बड़ा मानते हैं। बहुत-से कंगाल भी बाप-दादों की रईसी का भार ढोते हुये मिलते हैं। उनके चरित्र से नकली बड़प्पन प्रकट होता है। ऐसे लोगों के लिये यह कहावत है—'रस्सी जल गई पर ऐंठन न गई।' इसी को दंभ कहते हैं—अर्थात्, जो न हो उसका अभिमान और विज्ञापन करना। सामर्थ्य से अधिक अभिलाषायें कभी पूरी नहीं होतीं। जो व्यक्ति शक्ति से अधिक पराक्रम दिखाना चाहता है, वह अपने साथ विश्वासघात करता है।

कुछ और उदाहरण लीजिये। कुछ लोग ऊपरी ठाठ-बाठ, वेश-भूषा को अपना तथा दूसरों का स्वरूप मान लेते हैं। उनकी दृष्टि में जो पतलून पहनता है वह साहब बहादुर है, जो बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहने और बालों को ठीक से कटाये-छँटाये तथा सँवारे रहे वह भला आदमी है। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अच्छी पदवी में अपना बड़प्पन मानते हैं और इस प्रकार की कामना करते हैं कि वेतन 'तीन का ढाई कर दो, पर नाम दारोगा धर दो।' ये सब मन के धोखे हैं।

बहुत-से लोग स्वयं निर्बल या निर्धन होकर सहायकों के भरोसे अपने को समर्थ मानने लगते हैं। उन नौकरों को देखिये जो मालिकों के बल पर अहंकार दिखलाते हैं। उन कूपमंडूकों को देखिये जो बाहर की दुनिया से अपरिचित होने के कारण अपने सीमित क्षेत्र में फूले बैठे रहते हैं। उन गृहशूरों को देखिये जो स्त्री-बच्चो पर अपना बल दिखाकर अपने को बड़ा बहादुर मान लेते हैं। उनकी तुलना कुत्ते से की जा सकती है। कुत्ता गांव का शेर—ग्रामसिंह—कहलाता है क्योंकि गाँव में उसका सामना करने वाला दूसरा जीव नहीं होता। गोष्ठश्व—अर्थात् गोशाले का

कुत्ता—गोशाले में ही गरज सकता है। बाहर उसका साहस नहीं देखा जाता। छोटे से स्थान में अपने को बड़ा मानना आत्मवंचना ही तो है।

किसी भी कारण से अपने सम्बन्ध में किसी प्रकार का धोखा होने पर मनुष्य को दूसरे के सम्बन्ध में भी धोखा होता है। कोई व्यक्ति जब दुनिया की भलाइयाँ अपने में ही देखेगा तो दुनिया की बुराइयों के लिये भी उसे स्थान खोजना पड़ेगा। वे बुराइयां उसे दूसरों में दिखाई पड़ेंगी। जो व्यक्ति अपने को सबसे बड़ा समझेगा, उसकी दृष्टि में आसपास के अन्य व्यक्ति छोटे लगेंगे। अपने को बहुत चतुर समझने वाला, दूसरों को मूर्ख बनाने की ही चेष्टा में लगा रहेगा। भूल तो वह स्वयं करेगा, लेकिन अपना दोष दूसरों के सिर मढ़कर कहेगा कि अमुक की गलती से हम ऐसा नहीं कर पाये। उसकी भूल की ओर कोई उसका ध्यान आकर्षित करेगा तो वह उसे अपमानजनक मानकर अपने शुभसम्मतिदाता को ही दोष देगा। मिथ्या अभिमान होने पर मनुष्य को दूसरों की हितकर बातें भी असह्य हो जाती हैं। सुदामा को अपनी स्त्री का उपदेश इसीलिये तो अप्रिय लगा था कि उसने अपने को जन्म से ब्राह्मण होने के कारण संसार का स्वयंसिद्ध शिक्षक मान लिया था। तभी तो पाँडेजी बिगड़ कर बोले—'सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय, ताको कहा अब देती है सिच्छा'—सुदामा-चरित। अपने को बहुत-कुछ समझने वालों की मनोवृत्ति ऐसी ही हो जाती है।

अपनी अपूर्णता से अनभिज्ञ होने के कारण लोग आपे से बाहर होकर दूसरों के साथ अनुचित व्यवहार करते हैं। मूर्ख यदि इस बात को समझ ले कि वह मूर्ख है तो सम्भवतः दुस्साहसपूर्ण कृत्य नहीं करेगा। मनुष्य को अपने सम्बन्ध में धोखे में नहीं रहना चाहिये। किसी को यह न समझना चाहिये कि मुझ में सद्गुण ही सद्गुण है। अपने दुर्गुणों को भी देखना चाहिये। हर प्रकार के ज्ञान के साथ अपनी मूर्खता का ज्ञान भी आवश्यक है। बड़ाई का पता तो आसानी से चल जाता है, अपनी छोटाई का पता भी होना चाहिये। अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित होकर,

जो जैसी स्थिति में हो, उसे वैसा ही व्यवहार करना चाहिये। इससे अनेक भावी असफलताओं का भय नष्ट हो जाता है।

४—आत्मक्षुद्रता

जिस प्रकार मन का बहुत बढ़ना और बहकना बुरा है, उसी प्रकार मन का छोटा होना और गिरना भी बुरा है। इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते है।

बहुत-से लोग स्वयं अपने विषय में ही अच्छे विचार नहीं रखते। वे इस प्रकार की बाते सोचते है—मुझमें कोई विशेष गुण नहीं है; दूसरे लोग मुझ से हर बात में अच्छे और किसी-न-किसी बात में बढ़े-चढ़े है; दूसरे लोग लाख रुपये के आदमी है, उनके आगे मै दो कौड़ी का भी नहीं हूँ; बड़े आदमियों के आगे मेरे-जैसे नगण्य को कौन पूछेगा; मेरी हस्ती ही क्या है, आदि-आदि। दूसरों से अपनी तुलना करके वे अपने को सर्वथा अयोग्य और तुच्छ मान लेते है और प्रत्येक अवसर पर अपनी असमर्थता एवं नीचता का ही अनुभव करते है। यही आत्मक्षुद्रता है। इसीको हम मन का छोटा होना या गिरना कहते है।

चित्त की दुर्बलता के कारण बहुत-से लोग समर्थ होकर भी किसी प्रकार का उत्तरदायित्व नहीं लेना चाहते क्योंकि उनका मन पहले से ही यह जवाब देकर भाग खड़ा होता है कि मै किसी काम का नहीं हूँ। बहुत से लोग किसी भी नये काम में हाथ नही लगाना चाहते और इस आशंका से प्रायः दबक कर ही बैठे रहते है कि कहीं पकड़ न लिये जायँ। किसी भी प्रकार के सघष से वे दूर, अतिदूर भागते है। कितने ही लोग सार्वजनिक कार्यो से इसलिये तटस्थ रहते है कि उनकी दृष्टि मे वहाँ एक नही अनेक धुरन्धर मिलते है जिनके आगे मूर्ख बनने का भय रहता है। कहीं वे कोई गलती पकड़ लें या हँस दें तो क्षुद्रजी को लज्जा के समुद्र में डूबकर मर जाना पड़ेगा। मन की निर्बलता और कायरता के कारण

मनुष्य को इस प्रकार डूबना-उतारना पड़ता है। वह अकारण झेपता है और साधारण आलोचना से भी भीतर-ही-भीतर चूर हो जाता है।

शिथिल पड़े रहना, बहुत बन-ठन कर निकलना, बड़े लोगो से द्वेष करना, दूसरों को दबाने की कुचेष्टा करना, धमकी देना, पर-निन्दा करना तथा दूसरो की कृपा-सहानुभूति पर अवलम्बित रहना—ये सब मनुष्य की आत्मक्षुद्रता के लक्षण है। अपनी दुर्बलताओ को छिपाने के लिये ही लोग या तो बचे-बचे घूमते है या बाहरी तड़क-भड़क दिखाते है अथवा दूसरों को किसी उपाय से दबाने की चेष्टा करते है। मानसिक दीनता का प्रभाव मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और व्यवहार पर पड़ता है। इससे आत्म-सम्मान नष्ट हो जाता है। एक पाश्चात्य पण्डित का मत है कि जो व्यक्ति अपने को तुच्छ या अयोग्य मान लेता है, वह वास्तव मे स्वयं अपने से घृणा करने लगता है। साथ ही वह उन लोगो से भी घृणा करता है जिनकी दृष्टि में वह अपने को घृणित मान लेता है। जब वह दूसरों से घृणा करने लगता है तो दूसरे भी उससे क्यो न घृणा करेंगे ? इस प्रकार अपनी ही दुर्भावना से मनुष्य अपने लिये एक विषम वातावरण बना लेता है।

अपने गुणों को न पहचानना वास्तव मे एक महादुर्गुण है। किसी को यह समझना ही न चाहिये कि मैं संसार के लिये व्यर्थ की वस्तु हूँ। किसी एक व्यक्ति के रूप में भगवान् सारे दोषो का कोष नही भर देता। कुछ-न-कुछ विशेषता प्रत्येक व्यक्ति मे होती है। उससे परिचित होना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य को यह समझना चाहिये कि मैंने अपने को जितना नगण्य समझ रक्खा है, वास्तव मे मैं उतना नगण्य नही हूँ—संसार को मेरी आवश्यकता है; मैंने अपने को जितना अयोग्य मान लिया है, मैं उतना अयोग्य नहीं हूँ—मुझमे कुछ योग्यता भी है; मेरे पास भी गुणों की कुछ पूंजी है, उससे मैं जीवन-व्यापार चला सकता हूँ। मैं सर्वथा निर्बल और निस्सहाय नहीं हूँ। इस प्रकार गिरे हुए मन को उठाना चाहिये। मनोबल की दृढ़ता से मनुष्य के समस्त गुण स्वयं प्रकट और विकसित हो जाते

है।' उसकी क्षीणता से सहज गुण भी दबे पड़े रहते हैं। मन को छोटा और कमजोर न होने दीजिये।

५—व्यग्रता

चित्त की व्यग्रता भी एक भारी दोष है। व्यग्रचित्त के कुछ लक्षण ये हैं—जल्दी-जल्दी बोलना, हर काम में उतावली और परेशानी, बिना विचारे किसी काम में कूद पड़ना, किसी काम में मामूली अड़चन पड़ते ही उसे छोड़कर नया काम शुरु करने की बेचैनी, छोटी-छोटी बातों को लेकर भी दुविधा में पड़ जाना, अभीष्ट प्रयोजन को तत्काल सिद्ध करने के लिये छटपटाना, झंझट से घबड़ाना, फैसला पहले देना और मामला बाद को सुनना, पुस्तक आरम्भ करने के पहले उसके अन्तिम पृष्ठ को देखने की उत्सुकता, डाक में खत डालकर पछताना, किसी ने यदि कह दिया कि कौआ तुम्हारा कान ले गया तो अपने कान को टटोले बिना ही कौए के पीछे दौड़ना, दूसरे ने क्या कहा—इसे जानने की प्रबल उत्कण्ठा, खतरे का ख्याल आते ही बेदम हो जाना, मुसीबतों के डर से बारबार भगवान् से मौत माँगना, स्त्रियों के आगे झेंपना, उचकना या लज्जा से गड़ जाना, अँधेरे मे चौंकना और तेज चलना, गाड़ी के रुकने के पहले ही उतरने के लिये आतुर होना, किसी से मतभेद होते ही मरने-मारने को तैयार हो जाना, मन की बात होते ही बाँसो उछलना, मजेदार बात सुनते ही बेमौके ठहाका मारकर हँसना, जब देखिये तब उल्लू बन जाना, दाढ़ी-कपड़ों और जूतों आदि की ओर एक नहीं हजार बार ध्यान देना—वे यदि ठीक न हों तो मामूली आदमियो के आगे जाने में भी आगा-पीछा करना, निराधार शंकाओ से नित्य अधीर बने रहना, वादा करके बदल जाना, आदि। जिस व्यक्ति का चित्त व्याकुल रहता है, उसमें इस प्रकार के लक्षण मिलते है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि चारों ओर भगदड़, धरपकड़, छीनाझपटी हो रही है। वह अपने किसी मनोवेग को रोक नहीं सकता। किसी वासना की तीव्रधारा में वह उसी प्रकार बह जाता है जैसे नदी की धारा में शव।

चित्त के इस प्रकार डाँवाडोल होने से वस्तुतः मनुष्य की स्थिति ही गड़बड़ा जाती है। प्रायः धैर्य-विवेक और संयम की कमी से ऐसा होता है। यदि आपका चित्त विकल रहता है तो उसका उपचार धैर्य, विवेक और संयम से कीजिये। इन विटैमिनो से चित्त स्वस्थ हो जायगा।

६—अन्ध-विश्वास

अन्ध-विश्वास एक बहुव्यापक दुर्गुण है। किसी-न-किसी रूप में यह बहुत से लोगों में मिलता है। मनुष्य के मन में जब कुछ मिथ्या धारणायें घर कर लेती हैं तब वह किसी विषय मे स्वतन्त्र बुद्धि से विचार नही कर सकता। उसके विचार और दृष्टिकोण उन्हीं धारणाओ के अनुसार बन या बँध जाते है। इसे हम अन्ध-विश्वास कहते हैं।

कुछ उदाहरणो से अन्ध-विश्वास का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। एक प्रकार का अन्ध-विश्वास तो यही है कि हमारा जीवन लोक के लिये नही, परलोक के लिये है। कितने ही ऐसे लोग है जो परलोक को बनाने की चिन्ता में अपने लोक अर्थात् लौकिक जीवन को नष्ट कर देते है। उनकी लौकिक विफलता का रहस्य उनके पारलौकिक चिन्तन मे मिलता है।

बहुत-से लोग ऐसे है जो पुरानी बातों में अटूट श्रद्धा रखते है। पुराने विचारको ने जो-कुछ लिख दिया उसे वे बिना सोचे-विचारे सत्य मान लेते है। उनके मतानुसार प्राचीन ऋषि-मुनि त्रिकालज्ञ थे, इसलिए वे कोई बात ग़लत लिख ही नहीं सकते थे, उनकी बातों को अतर्क्य मान कर ग्रहण करना चाहिये। वे यह नही देखते कि कौन-सी बात किस परिस्थिति मे कही गई थी। वे इस बात को भी नही देखते कि विश्व परिवर्तनशील है, सब दिन एक-से नहीं होते, इसलिए प्रत्येक बात सब दिनों के लिये लागू नहीं हो सकती और कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता। समय-भेद से जीवन किस प्रकार बदल जाता है, इसे वे नहीं देखते। यदि उन्होंने कहीं पढ़ लिया कि भालू पेड़ पर नही चढ़ता तो वे भालू को प्रत्यक्ष पेड़ पर चढ़ते देखकर भी आँखो देखी बात पर विश्वास

नहीं करेंगे क्योंकि उनके मन में यह बात बैठी रहती है कि पुरखे बड़े पण्डित थे—उनकी बात मिथ्या नहीं हो सकती किसी मुंछमुंडे को देख कर वे उसे गुण्डों का सरदार मान लेंगे क्योंकि यह पुरानी कहावत झूठी कैसे हो सकती है—'न सौ गुण्डा न एक मुंछमुंडा।' किसी तिलकधारी को देखते ही वे उसे महात्मा मानकर दण्डवत् प्रणाम करने लगेंगे क्योंकि प्राचीन परम्परा के अनुसार तिलकधारी होना सन्त का लक्षण है। कोई भली स्त्री भी यदि किसी सत्पुरुष के साथ हँसकर बात करती हुई मिलेगी तो ऐसे लोग तुरन्त अपने मन में यह मान लेंगे कि अब उसके चरित्र का पतन होने वाला है क्योंकि, उनके मत से, पुराने लोगो ने बड़े अनुभव के बाद ही तो यह कहा होगा कि 'हँसी सो फँसी।' ऐसे लोग अपनी दृष्टि का उपयोग बिल्कुल नहीं करते। यह अन्ध-विश्वास का प्रभाव है। इससे उन्हें बड़ा धोखा होता है।

अन्ध-विश्वास के दो-एक उदाहरण और लीजिये। कुछ लोग आपको ऐसे मिलेंगे जो यह मान बैठे है कि अँगरेजी में जैसी पुस्तकें है वैसी हिन्दी मे लिखी ही नही जा सकतीं। उनके सामने अच्छी-से-अच्छी हिंदी-पुस्तक रख दीजिये तो उसे वे अँगरेजी की सड़ी-गली किताब के बराबर भी नहीं मानेंगे दयोंकि उनके स्वभाव में अँगरेजियत समाई रहती है। इस प्रकार कुछ लोग किसी होटल के अन्धभक्त हो जाते है। उन्हें बढ़िया-से-बढ़िया चाय पिलाइये तो भी वे कहेगे कि अमुक होटल में जैसी चाय बनती है वैसी और कहीं बन ही नही सकती। चीन देश की एक दन्त-कथा में एक ऐसे ही व्यक्ति का चित्रण है। बचपन में वह चीन के प्रसिद्ध नगर पेकिंग में कुछ दिन रह चुका था। वहाँ उसे पेकिंग की हवा लग गई। अपने गाँव में आने पर वह बात-बात मे पेकिंग का ही हवाला देता। कोई यदि कहता कि आज मजे की सर्दी है, तो वह चटपट कह उठता कि पेकिंग में जैसी मजेदार सर्दी पड़ती है वैसी यहाँ स्वप्न में भी नहीं मिलेगी। कोई यदि कहता कि आज बड़ा सुन्दर चाँद निकल रहा है, तो तत्काल बोलता कि पेकिंग में जैसा चाँद निकलता है वैसा और

कहीं निकल ही नहीं सकता। एक दिन किसी दावत में लोग किसी चीज की तारीफ़ करने लगे। उससे रहा नही गया। उसने कहा—चीज अच्छी जरूर है, लेकिन पेकिंग की दावतो में जैसी वढ़िया चीजे खाने को मिलती है वैसी यहाँ कैसे मिल सकती है ! इतना सुनते ही उसके वाप ने उठकर उसके गाल पर एक जोर का थप्पड़ मारा और कहा—वेटा, चुप क्यो हो ? जल्दी कहो कि पेकिंग में जैसे थप्पड़ खाने को मिलते थे वैसा यहाँ नहीं मिला। थप्पड़ की चोट के आगे इस मूर्ख को पेकिंग का ध्यान कैसे आता ? इस प्रकार की अन्ध-श्रद्धा वहुत से लोगो में मिलती है और वे उसका दंड भी भोगते हैं।

अपने संकुचित दृष्टिकोण को प्रमाण मानना भी एक प्रकार का अन्ध-विश्वास ही है। कुछ लोगों का हाल उन अन्धों जैसा होता है जिन्होनेहाथी के एक-एक अंग को टटोलकर उसी के अनुसार हाथी का स्वरूप निर्धारित किया था। उन्हे अपनी ही सूझ-बूझ में श्रद्धा होती है। जो वात उनकी समझ में जैसी आ गई वह उनकी दृष्टि मे सवके लिए वैसी ही है। जिस काम को उन्होंने पसन्द कर लिया, वही उनकी दृष्टि मे दुनिया का सवसे वड़ा काम है। वह काम होना ही चाहिये, चाहे उसके पीछे हज़ार वड़े-वड़े काम विगड़ जायँ। ऐसे लोग थोड़े लाभ के लिए अधिक की भी हानि कर देते है। हठ और दुराग्रह प्रायः अन्ध-विश्वास के कारण वढ़ते हैं।

भाग्य और शकुन आदि में लोग किस प्रकार आँख मूंदकर विश्वास कर लेते है, यह सर्वविदित हैं। आजकल पुलिस ने भी भाग्य का स्थान ले लिया है। इस प्रकार सोचने वालों की कमी नही है—पुलिस चाहे तो भ्रष्टाचार मिट जाय, पुलिस पीछे पड़ जाय तो वड़े-वड़ो का मान मिट्टी में मिल जाय, पुलिस प्रसन्न रहे तो कोई किसी का कुछ नहीं विगाड़ सकता, समय पर पुलिस ही हमारा उद्धार कर सकती है, उसकी सहायता के विना कोई काम नही हो सकता, वही सरकारी संकटमोचन है, आदि-आदि। यह अन्ध-विश्वास नहीं तो और क्या है ?

अन्ध-विश्वास से अनेक प्रकार की हानियाँ तो होती ही है, सबसे बड़ी हानि यह है कि उससे मानसिक पराधीनता बढ़ती है और मनुष्य का बौद्धिक विकास रुक जाता है। इस दुर्भावना को मन से निकालना चाहिये। यह मिथ्या धारणाओं के निराकरण से हो सकता है। इसके लिये सद्ज्ञान और सद्विवेक का आश्रय लीजिये। युक्तियुक्त बात को ही ग्रहण कीजिये। अपनी बुद्धि से प्रत्येक विषय के तथ्य को देखिये, समझिये, उचित-अनुचित का निर्णय कीजिये, तभी उसे यथार्थ रूप में स्वीकार कीजिये। अपनी बुद्धि को किसी भी प्रकार के बन्धन मे डाल कर आप स्वाधीन नही हो सकते।

७—मुग्धता

मुग्धता भी साधारण मनुष्य की एक असाधारण दुर्बलता है। मुग्धता क्या है? स्वर्ग की मेनका, तिलोत्तमा और उर्वशी आदि अप्सराओं या काव्य मे वर्णित नायिकाओं के रूप-लावण्य की कल्पना करके उन पर रीझना आपकी मुग्धता कही जायगी।—'ये हूरों पै मरता है वे देखे भाले, नहीं कोई आशिक मुसलमाँ से बढ़कर'—दाग़। फोटो के लड्डू को शौक से चाटना मुग्धता है। किसी से प्रेम की दो-चार बातें सुनते ही दीवाना होना, पागल हो जाना या उसके हाथ बिना बेचे बिक जाना मुग्धता है। किसी से थोड़ा-बहुत आदर पाकर गद्गद् होना, फूल कर कुप्पा होना, उसका गुलाम बन जाना मुग्धता है। बहुत-से लोग किसी से एक सिगरेट पाकर उसके हाथ अपने दिल-दिमाग़ को बेच देते है, कोई छोटी-मोटी वस्तु पाकर लट्टू होकर नाचने लगते है। यह मुग्धता है। किसी भी व्यक्ति, वस्तु या कार्य में अत्यधिक आसक्त होकर अपने कर्त्तव्य को भूल जाना मुग्धता है। दूसरो की चिकनी-चुपड़ी बातों से रीझ कर उन्हे अपना मित्र और शुभचिन्तक मान लेना, उन पर अतिविश्वास कर लेना या उनके साथ शक्कर की तरह घुलमिल कर अपना अस्तित्व खो देना मुग्धता है। मिथ्या प्रलोभनों में फँसना, भावावेश में किसी पर

अपना सब-कुछ न्योछावर करने को तैयार हो जाना, क्षणिक सफलता पर मिथ्या सन्तोष कर लेना मुग्धता के परिचायक है।

मुग्ध होने का अर्थ है मूढ़ बनना। मुग्धधी किस प्रकार मूढ़ बनता है, इसका हम एक उदाहरण देते हैं। अँगरेजी के प्रसिद्ध कवि नाटककार शेरिडन एक बार पैदल घूम रहे थे। संयोग से उसी ओर उनका महाजन एक नई घोड़ी पर चढ़ा हुआ आ निकला। शेरिडन पर उसका ऋण था और वह बहुत दिनो से उनकी खोज में था। साहित्यकार महोदय के पास एक फूटी कौड़ी भी नही थी, इसलिये महाजन उनके लिये महाकाल से कम भयंकर नही था। वे एक बार तो अपने ऋणदाता को एकदम सामने देखकर घबड़ाये, लेकिन दूसरे ही क्षण सावधान होकर बोले—श्रीमान्, आपकी यह घोड़ी तो नई मालूम पड़ती है! महाजन ने तत्काल उत्तर दिया—हाँ-हाँ, इसको अभी हाल ही मे तो खरीदा है, कहिये आपको पसन्द आई? शेरिडन ने कहा—वाह, क्या कहना है! यह तो लाख दो लाख में एक ही है। अवश्य ही आपको इसके लिये बहुत दाम देना पड़ा होगा। लेकिन इसकी चाल कैसी है, यह बताइये। मै तो समझता हूँ, यह हवा से बातें करती होगी! अपनी घोड़ी की प्रशंसा सुनते ही महाजन कर्ज़ की बात भूल गया और घोड़ी की चाल दिखाने के लिये आतुर हो उठा। घोड़ी को आगे बढ़ाता हुआ वह बोला—आप यहीं खड़े-खड़े स्वयं देखिये कि इसकी चाल कैसी बढ़िया है। उधर वह घोड़ी की चाल दिखाने लगा, इधर शेरिडन को बग़ल के रास्ते से भाग निकलने का मौका मिल गया। तरह-तरह की चाले दिखाकर जब वह अपना कर्जा वसूलने के लिये लौटा तो कर्जदार को न पाकर अपनी बेवकूफी पर पछताने लगा। खुशामद-पसन्द लोग इसी तरह उल्लू बनते है।

जिस प्रकार चाटुकारो की मिथ्या स्तुति से लोग धोखा खाते है, उसी प्रकार किसी भी विषय में बिना सोचे-विचारे मोहित होने पर उन्हे मूर्ख बनना पड़ता है। यह मन की बड़ी भारी कमज़ोरी है। किसी भी वस्तु के बाह्य रूप को देखकर ही उसमें अनुरक्त हो जाने से बुद्धिमानी नहीं

है। हरएक चीज़ के दो पहलू होते हैं। एक ही पहलू से उसे देखकर तुरन्त अङ्गीकार कर लेने में हानि हो सकती है। दूर से तो पहाड़ भी बड़े सुन्दर लगते हैं—'दूरतो भूधरा रम्याः।' उन्हे सम, सुगम और मनोरम मानने के पूर्व उनके निकट जाकर उनका वास्तविक रूप भी देखना चाहिये। मीठी बातें तो धूर्तों के मुख से भी निकलती है। उनपर विश्वास करने के पहले उनके हृदय में प्रवेश करके उनके आशय को देखना चाहिये।

किसी के गुण और सौन्दर्य का यथायोग्य सत्कार कीजिये, परन्तु बाहर और भीतर से उनकी अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद ही। बड़े आदमी की बात को भी आँख मूंदकर मत मानिये। बहुत सीधेपन से आदमी का भोंदूपन प्रकट होता है—'बहुत सुधाइहू ते अति दोषू'—तुलसी। जो बहुत सीधा होता है, वह विश्वास के अयोग्य व्यक्ति पर भी सहज में मुग्ध हो जाता है। यह एक दोष है। एक अँगरेजी विचारक के इस मत को ध्यान में रखना चाहिये कि जो लोग साधारण परिचय-मात्र से आपके प्रति बड़ा प्रेम दिखाने लगते है, उनका विश्वास कदापि न कीजिये। बिना जाने-बूझे, छोटी-मोटी बातो के आकर्षण से, किसी पर मुग्ध हो जाना आत्मनाशक होता है। महाकवि शेक्सपीयर के इस उपदेश को ध्यान में रखिये—'Love all, trust a few.' अर्थात्, प्रेम तो सबसे करो, लेकिन विश्वास थोड़े ही लोगों पर करो। अपने मन को अपने हाथ से जल्दी-जल्दी मत निकलने दीजिये।

८—उदासीनता

सांसारिक जीवन से उदासीनता भी मनुष्य की एक बहुत बड़ी कमज़ोरी है। किसी भी कार्य से उदासीन होने पर उस कार्य में आदमी का मन नहीं लगता, उसे वह बराबर भूल जाता है और यदि करता भी है तो उसमें उससे भूलें होती हैं। उसमें उसे रस नहीं मिलता। जीवन से उदासीन होने पर कर्महानि तो होती ही है, मनुष्य के स्वभाव में मलिनता,

शुष्कता और निष्क्रियता आ जाती है। कोई व्यक्ति जब संसार के प्रति उदासीन हो जाता है तो वह संसार की प्रत्येक वस्तु से घृणा करने लगता है। वह संसार के लिये और संसार उसके लिये निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार सार्वजनिक कार्यों से विरक्त होने पर मनुष्य को समाज से और समाज को उस मनुष्य से कोई लाभ नही मिलता। ऐसे ही, घर से उदासीन होने पर 'जैसे कन्ता घर रहें, तैसे गये विदेस'—मनुष्य गृह-सुख से वंचित हो जाता है और उसका घर भी बिगड़ता है। जीवन पर उदासीनता का ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। उससे मनुष्य के अनेक गुण निष्फल हो जाते है और चरित्र का विकास रुक जाता है।

उदासीनता और कर्मभीरुता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रायः लोग कहते है कि अमुक कार्य होना तो चाहिये, लेकिन जब कोई करता ही नहीं तो हम क्यों करें ? यह क्या है ? निश्चय ही यह कर्त्तव्य की ओर से उनकी उदासीनता है। इससे प्रकट होता है कि कर्त्तव्य कर्म में उनकी सच्ची लगन नहीं है। बहुत-से लोग बुरे आदमियो को बुरा कर्म करते हुये देख कर कहते है—हमे क्या पड़ी है जो हम उन्हे रोकें, हमारा क्या बिगड़ता है ? इससे समाज के प्रति उनकी उदासीनता ही प्रकट होती है। सामाजिक जीवन के प्रति उनके मन मे सच्चा अनुराग होता तो वे किसी का अनाचार कदापि नहीं सह सकते। इसी प्रकार लोग अनेक बातो से उदासीन होकर अपने कर्त्तव्य से चूक जाते है।

उदासीनता के अनेक रूप है। कुछ लोग किसी एक विषय या स्वार्थ में आसक्त होकर अन्य उपयोगी कार्यों से विरक्त हो जाते है और अपनी दुनिया को बहुत छोटी बना लेते है। कुछ लोगो को हँसने-बोलने, मिलने-जुलने और किसी भी प्रकार की चहल-पहल से अरुचि हो जाती है। न तो वे स्वयं प्रसन्न रहते है और न दूसरो को प्रसन्नतापूर्वक रहते देख सकते है। उन्हे एकान्त-सेवन ही प्रिय लगता है। समाज को श्मशान बनाकर वे उसमें स्वयं मुर्दे की तरह रहना चाहते है। कुछ लोग अपनी असमर्थता का अनुभव करके अथवा अपनी किसी विफलता का स्मरण

करके अच्छे कामो से उदासीन हो जाते है। उनकी ओर वे भूलकर भी ध्यान नहीं देते।

इन उदाहरणों से यह समझा जा सकता है कि उदासीनता मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के लिये कितनी हानिकारक है। आपकी साधारण उदासीनता आपके बड़े-बड़े काम बिगाड़ सकती है। आप कितने भी शक्तिशाली हों, यदि आप अपने कर्म की ओर से उदासीन रहते हैं तो आप अपनी शक्ति की गर्मी से झुलसने के सिवा कुछ नहीं कर सकते। उस दशा में आप शान्ति और जीवन का सच्चा आनन्द नहीं पा सकते। जीवन और जीवन-सम्बन्धी किसी भी उपयोगी विषय में मन मारकर बैठना मनुष्य के लिये श्रेयस्कर नहीं है। अपने को अयोग्य या भाग्यहीन मानकर लौकिक जीवन में पुरुषार्थ त्याग देना मूर्खता और कायरता है। यदि किसी शुभ प्रयत्न में एक बार सफलता नहीं मिलती तो उसकी ओर से और उसके कारण सारे जीवन की ओर से उदासीन नहीं होना चाहिये। बाइबिल के इस उपदेश को ध्यान में रखिये—'दरवाजे को बारबार खटखटाओ; यह मत समझो कि हर बार भीतर से शैतान ही निकलेगा।' अपने प्रत्येक कर्म-द्वार को बारबार खटखटाते रहिये। अपने किसी भी अंग को अपनी उपेक्षा के कारण निर्बल और निर्जीव न होने दीजिये। जीवन के किसी भी क्षेत्र में सूखा नही पड़ना चाहिये।

९—कुछ व्यावहारिक दोष

अब हमें कुछ व्यावहारिक त्रुटियो के सम्बन्ध में भी विचार करना चाहिये। ऊपर हम संकेत कर चुके है कि मनुष्य की बहुत-कुछ सफलता सद्व्यवहार पर और विफलता दुर्व्यवहार पर अवलम्बित रहती है। अच्छे-अच्छे विद्वानो को भी कभी-कभी सभ्य समाज में केवल इसलिये यथोचित आदर नहीं मिलता कि वे व्यवहारदक्ष नही होते। यहाँ हम, संक्षेप में, कुछ ऐसी बातो का उल्लेख करेंगे जिनसे मनुष्य की व्यावहारिक

अयोग्यता प्रकट होती है और जिनके कारण समाज में उसकी अप्रतिष्ठा होती है।

(क) मुख-दोष :—मुख-दोष मनुष्य का एक मुख्य दोष है। साँपों के मुख में यदि विष न होता तो संभवतः लोग उन्हें प्रेम से पालते या कंठहार बना लेते। बहुत-से मनुष्यों के सम्बन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि यदि उनमें मुख-दोष न हो तो वे सर्वप्रिय हो सकते है।

मुख-दोष के अनेक भेद है। उनमें से दो-एक के विषय मे ही यहाँ पर कुछ लिखना संभव होगा। सर्वप्रथम वाचालता को लीजिये। बहुत से लोग अपनी वाचालता का कटु फल भोगते है। बहुत बोलने से मनुष्य का बड़प्पन नहीं साबित होता। अँगरेजी में एक कहावत है—'The horse-shoe that clatters has lost a nail' अर्थात्—घोड़े की जो नाल खड़खड़ाती है उसकी कोई-न-कोई कील जरूर निकली रहती है। बहुत बड़बड़ाने वाले आदमी के दिमाग की भी कोई-न-कोई कील अपने स्थान से हटी हुई मिलती है। जो बहुत बोलते है, प्रायः वे बहुत काम के नहीं साबित होते। ऐसा व्यक्ति किसी को प्रिय नहीं लगता क्योंकि एक तो वह केवल बातें ही बनाता है, दूसरे बेकार के लिये दूसरो की खोपड़ी खाता या चाटता है। अपनी खोपड़ी खिलाना या चटवाना किसे अच्छा लगेगा ? बातूनी का कोई विश्वास नहीं करता क्योंकि उसके पेट में कोई बात पचती ही नही। बिना बोले उसकी साँस फूलती है। दमा वाले के दम का कौन भरोसा करेगा ! मनुष्य अपनी वाचालता से अपने व्यक्तित्व को बहुत हलका बना देता है।

दुर्मुखता एक और भी बड़ा दुर्गुण है। कटुभाषिता, कुतर्क, परनिन्दा, प्रतिकूलवादिता, मिथ्या दोषारोपण, तुच्छ बातों को लेकर उछल-कूद मचाना, बात-बात में धमकी देना, कलह करना, धृष्टतापूर्वक झूठ बोलना, अनुचित कटाक्ष और सभ्य पुरुषो का अपमान करना आदि इसके अन्तर्गत आ सकते है। इन सबसे मनुष्य की दुर्जनता प्रकट होती है। दुर्वचन या शब्दस्फोट किसी को प्रिय नहीं लगते। मिथ्या लांछन और निन्दा से

बोलने वाले के भीतर की गन्दगी का ही पता चलता है। कबीर ने ठीक ही कहा है—'एक निन्दक के सीस पर कोटि पाप का भार।' निन्दक स्वयं महापापी-जैसा लगता है क्योंकि वह दूसरो के पापो का गट्ठर अपने सिर पर लिये घूमता है। उसके द्वारा समाज में दुर्भावना का प्रचार होता है, इसलिये लोक उसका आदर नहीं करता। इसी भाँति जो लोग छोटी-छोटी बातों को लेकर उछल-कूद मचाते है, वे सबके आगे अपने ओछेपन का विज्ञापन स्वयं कर देते है। दूसरों का अहित वे कर पायें या नहीं, किन्तु अपनी हानि तो कर ही लेते है। दूसरों की पोल खोलने वाले अपनी भी पोल खोल देते है। दूसरों की शिकायत करने से दुनिया में अपनी भी शिकायत होती है। किसी के कर्कश वचनों से सुनने वालों को तो कष्ट होता ही है, उनसे वक्ता की कुटिलता और हृदयहीनता भी व्यक्त होती है। अपनी दुर्मुखता से मनुष्य अपने लिये चारों ओर एक प्रतिकूल वातावरण बना लेता है। उस वातावरण में पारस्परिक सद्व्यवहार नष्ट हो जाता है। तीक्ष्णवादी की कठोर और अनुचित बातों के कारण उसके निकटतम सम्बन्धी और स्नेही भी उससे दूर ही रहना चाहते है। और प्रायः यह भी होता है कि 'जीभ तो कहि भीतर गई, जूता खात कपाल।'

इन उदाहरणो से मुख-दोष का महत्व समझा जा सकता है। स्थानाभाव से इस सम्बन्ध में अधिक नहीं लिखा जा सकता। कुछ दोषों का उल्लेख कर देना ही पर्य्याप्त होगा :—(१) वचन-दरिद्रता—समय पर उचित बात बोलने में चूक जाना, सोचते ही रहना, अनावश्यक मौन। (२) शुष्क और सारहीन वचन बोलना। (३) असामयिक प्रलाप। (४) मिथ्या आश्वासन देना—वादा करके उसे पूरा न करना, बदल जाना, भूल जाना, अब-तब में दूसरो को लटका रखना। (५) चाटुकारिता—मिथ्या स्तुति, हाँ-मे-हाँ मिलाना। (६) किसी विषय को अतिरंजित करना—तिल का ताड़ बनाना। (७) गोलमोल या पेंचदार बात बोलना। (८) बात-बात मे सिद्धान्त घुसेड़ना। (९) हठ-दुराग्रह-पक्षपात करना। (१०) अनुचित आलोचना करना। (११) कहीं-की ईंट और

कहीं का रोड़ा जोड़ना। (१२) छोटे मुँह बड़ी बात कहना। (१३) दूसरों की गुप्त बात पूछना। (१४) जो कुछ जहाँ भी सुना उसे अकारण चारों ओर गाते फिरना। (१५) दो तरह की बातें करना। (१६) मुँह-तोड़ उत्तर देना। (१७) नीचों के साथ तू-तू, मैं-मैं करना। (१८) उचक-उचककर ठहाका मारते हुये दूसरो को आत्म-कथा या पुरखा-पुराण सुनाना। (१९) भले आदमियों की बात काटना। (२०) खीझना, पछताना, अपना ही रोना रोना। (२१) भद्दा हास-प्रहास। (२२) बात-बात में हँसकर अपने मस्तिष्क का खोखलापन प्रकट करना। (२३) मुँह खोले रहना। (२४) दाँत पीसना। (२५) नाक-भौं सिकोड़ना, आँख दिखाना, लाल-पीला होना और बात-बात मे मुँह लटकाना तथा गाल फुलाना, आदि।

मनुष्य के व्यक्तित्व और व्यावहारिक जीवन पर इस प्रकार के दोषों का बुरा प्रभाव पड़ता है। इनसे बचना चाहिये।

(ख) *अनुचित साहस* :—अब अनुचित साहस के कुछ उदाहरण लीजिये :—

(१) 'बरसत बारिद-बुन्द गहि चाहत चढ़न अकास'—तुलसी। इसका भाव स्पष्ट है।

(२) 'पाथर डारै कीच में उछरि बिगारै अंग'—वृन्द। दुर्जनो को छेड़ना या हठी मूर्खों से भिड़ना अनुचित साहस ही है। उनके साथ उलझने से अपनी मान-हानि होती है।

(३) 'पाहन में क्या मारिये चोखा तीर नसाय'—कबीर। किसी कठोरहृदय को रिझाने की चेष्टा करना, जहाँ प्रेम का सत्कार न हो वहाँ प्रेम प्रदर्शित करना या किसी से जबर्दस्ती प्रेम करना, मूढ़ो के आगे विद्वत्ता दिखाना आदि वैसा ही है जैसे पत्थर में तीर मारना। जहाँ सफलता की कोई आशा न हो, वहाँ व्यर्थ का श्रम करना और अपना बल दिखाना अनुचित साहस ही है।

(४) 'जहाँ बन्दूक चलती है, वहाँ जादू नहीं चलता'—अकबर। रणभूमि मे जहाँ बन्दूकें चल रही हो, वहाँ जादू के जोर से शत्रु को जीतने की चेष्टा करना अनुचित साहस ही माना जायगा। इसी प्रकार 'नख छेदन के लाव कुठार'—अर्थात्, नाखून काटने के लिये कुल्हाड़ा लेकर दौड़ना भी अनुचित साहस है। उचित साधनो की उपेक्षा करके अनुपयुक्त साधनों से किसी कार्य को सिद्ध करने का दुष्प्रयत्न करना अनुचित साहस है।

(५) दूसरों के काम मे अनुचित रीति से हस्तक्षेप करना दुस्साहस है। महाभारत मे कहा है—

"अनाहूतः प्रविशति ह्यपृष्टो वहु भापते।
अविश्वसिते विश्वसिति मूढ़चेताः नराधमः॥"

अर्थात्—विना बुलाये कहीं पर स्वयं पहुँच जाना या किसी काम में कूद पड़ना, बिना पूछे बोलना—वकवक करना, सलाह देने लगना,—जो विश्वास के अयोग्य हो उस पर विश्वास करना, ये मूढ़ के लक्षण हैं। इस प्रकार की अनधिकार चेष्टाओं से मनुष्य का निरादर होता है और उसे मूर्ख वनना पड़ता है।

(६) किसी भी प्रकार की कुचेष्टा को हम अनुचित साहस कहेंगे। जैसे—विना काम के नाम और विना कमाई के पैसा चाहना, किसी से काम कराके उसकी कमाई मार लेना, खरे सिक्के लेकर खोटा माल देना, मिथ्या विज्ञापन करके दुनिया को धोखा देना और ठगना, यह सोच कर स्वेच्छाचार करना कि कोई हमारा क्या कर लेगा, अपना दोष न मान कर उसे दूसरों पर आरोपित करना—अर्थात्, स्वयं चोर होते हुये भी कोतवाल को डाँटना, दूसरों पर धौंस जमाना, नकली रोव दिखाना, भय-प्रदर्शन से दूसरों की सद्भावना पाने की इच्छा करना, किसी अवसर का अनुचित लाभ लेना, किसी की विवशता का लाभ लेकर उसके अधिकारों को दबाना या हड़प लेना, दूसरों के सिर पर बैठने का यत्न करना या

उनके लिये भारस्वरूप होना, स्वयं अशिष्टता करके दूसरो को शिष्टता की शिक्षा देना, अन्याय करके न्याय माँगना, जानबूझ कर आग से खेलना— अपने से अधिक सामर्थ्यवान् से टक्कर लेना, शक्ति से अधिक शौर्य दिखाने का दम भरना—अर्थात् सीधे कलम पकड़ना न आता हो फिर भी पत्रकार होने का दावा करना, दूसरो के बल पर कूदना और मँगनी की वस्तु से अपना ठाठबाठ दिखाना तथा उधार के पैसो से मौज करना, आदि।

इस प्रकार के प्रमादपूर्ण कार्यों से किसी को क्षणिक सफलता भले ही मिल जाय, परन्तु अन्त में इनसे स्थायी हानि होती है। कोई भी व्यक्ति बहुत दिनो तक दुनिया की आँखों में धूल झोंककर अपना प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। स्वेच्छाचारिता और वंचकता के परिणामस्वरूप मनुष्य का एक-न-एक दिन पराभव अवश्य होता है। इसलिये इस प्रकार के साहस सराहनीय नही कहे जा सकते। इनसे अपनी शक्ति का दुरुपयोग होता है।

उत्तेजितावस्था में कोई घोर कर्म करना या दिनदहाड़े डाका डालना ही अनुचित साहस नहीं है। अनुचित साहस तो मनुष्य साधारण अवस्था में और मामूली कामों मे कर सकता है और बहुत-से लोग करते ही है। उपरोक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट होगया होगा। प्रत्येक असामयिक एवं मर्यादाविरुद्ध कर्म अनुचित साहस माना जाता है। बुद्धिमान् को यथायोग्य कर्म यथाकाल और यथोचित ढंग से ही करना चाहिये।

(ग) *असावधानी* :—अन्त में हम कुछ ऐसी असावधानियो की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक समझते है, जिनसे मनुष्य की अभद्रता और अनुभवहीनता प्रकट होती हैं।

(१) लेन-देन में असावधानी :—सबसे अधिक भूलें लोग लेन-देन में करते है। इसका अर्थ रुपये-पैसे की गिनती करने में गलती करना नहीं है। अर्थ यह है—लेने वाले चाहते है कि कम-से-कम वस्तु या काम का

भी अधिक-से-अधिक मूल्य मिले और यथासम्भव पेशगी मिले। इसके विपरीत, देने वाले चाहते हैं कि अधिक-से-अधिक वस्तु या काम का कम-से-कम दाम देना पड़े और जितनी ही देर से देना पड़े अच्छा है। इस प्रकार की अर्थ-लोलुपता से व्यवहार में गड़बड़ी आ जाती है। देने वाले को चाहिये कि वह किसी वस्तु का उचित समय पर उचित मूल्य देने में न चूके और लेने वाले पर किसी प्रकार का उपकार न प्रकट करे। इसी प्रकार लेने वाले को चाहिये कि वह किसी के अनुग्रह का नहीं, अपनी सेवा का ही मूल्य ले और देने वाले को पूर्णतया सन्तुष्ट करने के बाद ही ले। इससे दोनो का सम्मान और पारस्परिक विश्वास बना रहता है। बृहदारण्यक में इसका एक सुन्दर दृष्टान्त है। महाराजा जनक को महर्षि याज्ञवल्क्य ने कुछ ज्ञानोपदेश दिया। उसके बदले में जनक उन्हें भारी दक्षिणा देने लगे। याज्ञवल्क्य ने कहा—राजन्, मेरे पिता का उपदेश है कि शिष्य को भली प्रकार बोध कराये और कृतार्थ किये बिना दक्षिणा न लेनी चाहिये। महर्षि का यह आदर्श प्रत्येक स्वात्माभिमानी पुरुष के लिये अनुकरणीय है। काम को पूरा करके ही अधिकारपूर्वक उसका पारिश्रमिक लेना चाहिये। देने वाले को भी कभी पिछड़ना नहीं चाहिये।

पैसे के ही नहीं, अन्य प्रकार के लेन-देन में भी बहुत-से लोग असावधान रहते हैं। कितने ही ऐसे व्यक्ति मिलेंगे जो दूसरो से माँगते तो बहुत है, लेकिन स्वयं किसी को कुछ देने में आनाकानी करते है। ऐसे भी लोग बहुत मिलते है जो मँगनी की चीज समय पर वापस करना नहीं जानते। उन लोगों को देखिये जो खाना जानते है, खिलाना नही जानते; दूसरों से आदर-सत्कार लेने को उद्यत रहते है, परन्तु स्वयं मान-दान में कृपण होते हैं। दूसरो से भेंट लेकर कुछ लोग धन्यवाद भी नहीं देते; किसी का पत्र पाकर या तो उत्तर नहीं देते और यदि देते भी है तो अधूरा। कौन ऐसा है जो दूसरों का सहयोग नही चाहता ? लेकिन कितने ऐसे है जो स्वयं दूसरों के साथ सहयोग करना चाहते हैं ? इसपर विचार

कीजिये तो ज्ञात होगा कि सहायता लेना तो सब चाहते है, परन्तु देना बहुत कम लोग चाहते है।

व्यावहारिक जीवन तो आदान-प्रदान से ही चलता है। उसमें जो सावधान नहीं रहता, वह अन्त में घाटे में रहता है। लेन-देन की साधारण त्रुटि भी लोगो को बहुत खटकती है। यदि आप चाहते है कि दूसरे आप के काम आयें तो आप भी उनके काम आइये।

(२) समय का ध्यान न रखना :—अपने और दूसरे के समय का ध्यान न रखना भी मनुष्य की एक बड़ी भूल है। बहुत-से लोग कहीं पर ठीक समय से पहुँचने और किसी से ठीक समय पर मिलने में असावधान रहते है। इससे काम तो बिगड़ता ही है, उनकी लापरवाही भी साबित होती है। कुछ लोग समयानुसार व्यवहार में चूक जाते है। और कुछ तो समय-कुसमय की परवाह ही नही करते। वे अकालमेघ की तरह जब जहाँ चाहते है पहुँच जाते है और दूसरो की सुविधा-असुविधा का विचार नहीं करते। दूसरों की दृष्टि में ऐसे लोग मूर्तिमान् संकट या वसन्त ऋतु के उल्लू अर्थात् उल्लू-वसन्त जैसे लगते है। यदि कोई आपका बहुत आदर करता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि आप उसका जितना समय चाहे ले सकते है और जब चाहे उसके काम में बाधा पहुँचा सकते है। यह अनुचित और अप्रतिष्ठाजनक है। किसी घनिष्ठ मित्र के यहाँ भी यदि आप बेमौके पहुँच जायँगे तो वह हृदय से आपका स्वागत नहीं करेगा। कोई भी असामयिक कार्य उचित नहीं माना जाता। समयोचित आचार-विचार का ध्यान रखिये।

(३) मित्रों को तंग करना :—बहुत-से लोग अपने मित्रो को अपनी बुरी आदतों और कमजोरियो से बहुत तंग करते है। जिस काम को वे स्वयं कर सकते है, उसके लिये भी वे मित्रो की सहायता पर अवलम्बित रहते है और उसके लिये उनके सिर पर सवार रहते है। उनकी दृष्टि में उनके मित्र बिना वेतन के नौकर होते है। ऐसे व्यक्तियो से कौन नहीं परेशान होगा!

मित्रों को अन्य प्रकार से भी लोग तंग करते हैं। जैसे—उनकी व्यक्तिगत घरेलू बातों में पड़ना, उनके कमरे में जाकर उनकी अनुपस्थिति में उनकी तलाशी लेने लगना; अर्थात् उनकी चीजों को अकारण उलट-पलट कर देखना, विना पूछे उनकी वस्तुओं का उपयोग करना, उनके बिस्तरे पर लेट जाना, उनके भीतरी कमरे में झाँकना और जहाँ चाहे धड़धड़ाते हुये चले जाना, यदि वे घर के भीतर हो तो वाहर से भद्दी-भद्दी बातें करना, उनकी बैठक में इस तरह चहकना, खिलखिलाना और गजल गाना कि भीतर की स्त्रियाँ भी सुन सकें और जब देखिये तब उनके यहाँ पहुँचे रहना। ऐसी बातों से मित्रगण तंग आ जाते हैं और अपने असावधान मित्र से घृणा करने लगते हैं। अपने मित्र के लिये एक रोग नहीं बनना चाहिये। इस बात का सदा ध्यान रखिये कि आप किसी प्रकार अपने मित्र की प्रसन्नता मे बाधक तो नही हो रहे हैं ?

(४) टीमटाम में पड़े रहना :—बहुत-से लोग ऐसे हैं जो ऊपरी टीमटाम मे ही पड़े रहते हैं और असली काम को भूल जाते हैं। किसी अतिथि के आने पर वे उसे चुपचाप बैठा देते हैं और स्वयं खिलाने-पिलाने की चिन्ता मे इधर-उधर दौड़ने लगते हैं। उनकी परेशानी देखकर ऐसा लगता है मानो उनके घर मे मेहमान के रूप में कोई बला आ गई है। अतिथि अपने कारण उनकी असुविधा का अनुभव करके कष्ट ही पाता है। उनकी जिस सज्जनता और प्रीति के लिये वह आता है, उसे वे नाममात्र की मिलती है। गृहस्थ जी को इतना अवकाश कहाँ कि थोड़ी देर बैठकर प्रेम से बाते करे ! वे तो 'यह लाओ, वह लाओ' के चक्कर में पड़े रहते हैं। उनकी टीमटाम से अतिथि का पेट भले ही भर जाय, हृदय सन्तुष्ट नहीं होता।

यह तो एक उदाहरण है। इसी प्रकार अन्य कार्यों में भी बहुत ऊपरी बनावट अच्छी नहीं लगती। उससे लोगो को स्वभावतः अरुचि हो जाती है। नकली बड़प्पन की अपेक्षा आपका प्रेम कहीं अधिक मूल्यवान् है। उसी का प्रदर्शन और उसी का दान अधिकाधिक मात्रा में करके आप

दूसरों को प्रसन्न कर सकते हैं। बिना प्रेम का खिलाना-पिलाना किस काम का ! वह तो होटल वाला भी आपसे अच्छा कर सकता है। आपका प्रेम मुख्य है। उसके साथ आप किसी को एक छोटी-सी इलायची भी दे दे तो वह रत्न बन जाती है।

(५) बुरा मान जाना :—जल्दी-जल्दी बुरा मान जाना भी एक बुरी बात है। कुछ लोगों को दूसरों की हर-एक राय बुरी लगती है। कोई उनके प्रस्ताव का उचित विरोध करे और उनकी भूलो की ओर उनका ध्यान दिलायें या अच्छा सुझाव दे तो भी वे चिढ़ जाते हैं। इसका कारण है—अहंकार। अहंकार-वश ऐसे लोग शुभ सम्मति को भी अपनी आलोचना एवं अपने व्यक्तित्व पर आक्रमण मान लेते है। यह प्रवृत्ति व्यवहार में बाधक होती है। कुछ लोग अशिक्षितो के बीच में किसी नवीन स्थान पर जाने पर यदि योग्य रीति से सम्मानित नही होते तो बुरा मानकर दूसरो को बुरा-भला कहने लगते है। यह भी एक भूल है। इससे समझ लेना चाहिये कि आपका सत्कार वही कर सकता है जो आपके गुणो से परिचित हो। तुलसीदास ने कहा है—'जाने बिनु न होइ परतीती; बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती'—मानस। इस मनोवैज्ञानिक रहस्य को समझ लीजिये तो आपको अनाड़ियो की उपेक्षा की परवाह नहीं होगी। मान-लोलुपता स्वयं अपमानजनक है।

(६) सर्वत्र चतुराई दिखाना :—चतुराई से काम लेना एक गुण भी है, परन्तु सर्वत्र नहीं। बहुत-से लोग घर में और मित्र-मंडली में भी बुद्धि की चाले चलते हैं और कृत्रिम प्रेम से स्वजनो को अधिकाधिक रिझाने या मूर्ख बनाने में अपनी सफलता समझते हैं। वे घर वालो को भी दावपेंच से अपनी मुट्ठी में रखना चाहते है। परिणाम होता है—गृह-दाह। अपनी दुरंगी चालो से वे अपने ही आदमियो का प्रेम और विश्वास खो देते हैं। जहाँ प्रीति से ही काम लेना चाहिये, वहाँ नीति का प्रयोग करना वैसा ही है जैसे आँख में सुरमे की जगह लाल मिरचे का

चूर्ण लगाना। हृदय के साम्राज्य में बुद्धि का अधिक हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये।

(७) बहुत सरल, शांत और मृदु होना :—व्यावहारिक जीवन में अत्यन्त सरल, शान्त और मृदु होना भी बुरा है। इसलिये बुरा है कि इससे दुष्टों को स्वेच्छाचार करने का मौका मिलता है। वे भले आदमियों की साधुता का लाभ लेते हैं। समाज में दुर्जनों की प्रबलता सज्जनों की सरलता और मृदुता के कारण बढ़ती है। जो व्यक्ति अधिक मृदु होता है उसे कोई भी जैसा चाहता है मोड़कर अपना काम निकाल लेता है। जो सबकी सहायता करने को तैयार रहता है, उसका लाभ शठ लोग ही सबसे पहले दौड़कर लेते हैं। जो बहुत शान्त रहता है वह तो कापुरुष मान ही लिया जाता है। उस मनुष्य की मूर्ति की लोग पूजा भले ही करें, उसे और किसी काम का नहीं समझते। संसार में आवश्यकता से अधिक सरल, शान्त और कोमल नहीं होना चाहिये।

ऊपर हमने मनुष्य की कुछ छोटी-बड़ी त्रुटियों का विवरण दे दिया है। इन्हे आप दूसरो में बड़ी सुगमता से ढूँढकर पकड़ लेते हैं। अधिक अच्छा यह होगा कि इन्हे अपने स्वभाव और चरित्र में से भी खोजकर निकालिये। दूसरो पर तो आप बराबर दृष्टि डालते ही हैं, कभी-कभी अपने ऊपर भी एक दृष्टि डालना न भूलिये। दूसरों के रोग की अपेक्षा आपका रोग अधिक कष्टदायक हो सकता है। उसकी उपेक्षा मत कीजिये।

: १३ :

महाजनो येन गतः स पन्था

प्राचीन काल में शिष्यगण जब विद्योपार्जन करके गुरुकुल से विदा होने लगते थे तो उनके आचार्य अपने दीक्षान्त-भाषण मे अन्य अमूल्य उपदेशो के साथ एक उपदेश यह भी देते थे—

"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्त्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।"—तैत्तिरीयोपनिषद्।

अर्थात्—कर्त्तव्य-निश्चय अथवा सदाचार के सम्बन्ध में तुम्हे यदि कभी कोई शंका हो तो समाज में जो विद्वान्, परामर्श देने में कुशल, सत्कर्मशील, पवित्रात्मा, धर्माभिलाषी श्रेष्ठ पुरुष हों वे उन कर्मो मे जैसा आचरण करते हों, तुम्हें भी वैसा ही करना चाहिये; तथा यदि किसी दोष से दूषित मनुष्यो के साथ व्यवहार करने में सन्देह हो तो समाज में जो विद्वान्, परामर्श देने में कुशल, सत्कर्मशील, पवित्रात्मा, धर्माभिलाषी श्रेष्ठ पुरुष हों वे जैसा व्यवहार करते हो, तुम्हे भी वैसा ही करना चाहिये। यही शास्त्र की आज्ञा है, यही उपदेश है, यही वेदो का रहस्य है, यही परम्परागत शिक्षा है। तुमको इसी भाँति अनुष्ठान करना चाहिये, इसी प्रकार यह अनुष्ठान करना चाहिये।

यह गुरु-ज्ञान व्यावहारिक जगत् में प्रवेश करने वाले नवयुवकों के ही

काम का नहीं, सर्वसाधारण के लिये उपयोगी है। लोक में श्रेष्ठ पुरुषों का आचरण ही प्रमाण माना जाता है। उनके चरित्र की छोटी-छोटी बातो से भी साधारण व्यक्ति बहुत-कुछ सीख सकते है। आगे हम अधिकारी व्यक्तियो के जीवन की कुछ शिक्षापूर्ण घटनायें दे रहे है।

१—प्रतिष्ठा का रहस्य

संस्कृत के सुप्रसिद्ध साहित्यकार क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य-विचार चर्चा' नामक ग्रन्थ में कवि-कुल-गुरु कालिदास का सुन्दर श्लोक दिया है। कहते है, कालिदास एक बार राजदूत होकर कुन्तल-नरेश की राजसभा में गये और वहाँ उपयुक्त आसन आदि के चक्कर में न पड़कर जमीन पर ही बैठ गये। कुन्तलराज जानता था कि वे प्रतिष्ठित पुरुष है, उच्चासन के अधिकारी है; अतएव उसने उनसे सम्मानपूर्वक यथायोग्य स्थान पर बैठने को कहा। इसपर स्वात्माभिमानी महाकवि ने उत्तर दिया—यह पृथ्वीतल शेषनाग के फण-स्तंभ पर विराजमान है, इस पर पर्वतो में श्रेष्ठ मेरु और सातो समुद्र स्थित है, यह स्थान मेरे लिये भी अनुपयुक्त नहीं है—अर्थात्, पृथ्वी पर बैठना मेरे लिये अप्रतिष्ठाजनक नहीं है।—

"इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा-
मिह विनिहितभाराः सागराः सप्त चान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं
धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥"

प्रायः लोग यह समझते है कि ऊँचे पद पर या सबके आगे बैठने से प्रतिष्ठा होती है। सभा-सम्मेलनो में, संस्थाओ में कितने पद-लोलुप लोग उच्चासन की प्राप्ति से अपना गौरव बढ़ाने की कुचेष्टा करते है। वे उच्चासन पर भले ही बैठ जायँ, सर्वसाधारण के हृदयासन पर नहीं बैठ सकते है। सच्ची प्रतिष्ठा लोगों के हृदयासन पर बैठने से ही मिलती है। उस पर सुयोग्य, सद्‌गुणी ही स्थान पाता है। और उसपर अधिकारपूर्वक बैठने वाला प्रत्येक परिस्थिति में प्रतिष्ठित ही बना रहता है। कालिदास

के उपरोक्त कथन का यही रहस्य है कि मनुष्य का आत्मगौरव—व्यक्तित्व—न तो ऊँचे पद के कारण बढ़ता है और न नीचे पद के कारण घटता है।

इस प्रसंग में विदुर का यह कथन स्मरण रखने योग्य है—

"यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः।
न मान्यमानो मन्येत न मान्यमभिसंज्वरेत्॥"

—उद्योगपर्व।

अर्थात्, जो स्वयं दूसरो से अपना सम्मान कराने का प्रयत्न नहीं करता, परन्तु लोग यदि उसे मानते है, तो वह सचमुच सम्मान्य है। प्रतिष्ठा पाकर मनुष्य को स्वयं अहंकार नही करना चाहिये और दूसरे को प्रतिष्ठित होते देखकर जलना नही चाहिये।

२—असाधु को साधुता से जीतो

हमारे शास्त्रों का आदेश है कि पापी के साथ स्वयं पापी न बन जावे; स्वयं तो सदा सज्जन ही बना रहे।—'न पापे प्रतिपापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्'—महाभारत। कीचड़ को कीचड़ से नहीं, शुद्ध जल से धोने मे लाभ और बुद्धिमानी है। भगवान् बुद्ध सबको नित्य यही उपदेश देते थे कि कोई यदि तुम्हारे साथ बुराई करता है तो तुम उसका उत्तर भलाई से दो, कोई गाली देता है तो उससे अधिकाधिक प्रेम करो, अपकारी के साथ उपकार करो—अपने चरित्र को निर्दोष एवं गौरवपूर्ण रखने का यही श्रेष्ठ उपाय है कि नीच के साथ स्वयं नीच न बनो।

एक दुष्ट मूर्ख ने इन बातो का यह उलटा अर्थ लगाया कि साधु लोग गाली देने वालों से विशेष प्रेम करते हैं, अतएव आदर-सत्कार की अपेक्षा खरी-खोटी बातो से उन्हे रिझाना सहज है। एक दिन वह जानबूझ कर महात्मा बुद्ध को गन्दी-गन्दी गालियाँ सुनाने लगा। बुद्ध शान्त भाव से सब कुछ सुनते और सहते रहे। अन्त में जब वह थक गया तो वे स्नेह-

पूर्वक बोले—वत्स, यह बताओ कि यदि कोई व्यक्ति किसी की भेंट को स्वीकार न करे तो वह वस्तु किसकी मानी जायगी ?

मूर्ख ने तुरन्त उत्तर दिया—जिसकी थी, उसीकी ।

तब भगवान् ने पुनः कहा—तुम अपने अपशब्दों का कोष अपने ही पास रक्खो, मुझे उनकी आवश्यकता नहीं है। प्रतिध्वनि जिस प्रकार ध्वनि का अनुगमन करती है और छाया पदार्थ के साथ चलती है, उसी प्रकार दुःख अपराधी के साथ लगा रहता है। जिसका अन्तःकरण पवित्र है, उसे तुम दुर्वचनों से दूषित नहीं बना सकते। निर्मल आकाश पर थूकने से अपना ही मुख गन्दा होता है ।

असाधु का वाणी-बाण निष्फल होगया। महात्मा की साधुता और शिक्षा से प्रभावित होकर उसने उनके आगे अपना सिर झुका दिया। उसका दुष्कर्म भीतर-ही-भीतर उसीको पीड़ित करने लगा। विजयी महा-पुरुष से क्षमा-याचना के उपरान्त वह भक्तिपूर्वक उनके धर्म-संघ में सम्मिलित होगया। ऊँट पहाड़ के नीचे आगया।

पंडितप्रवर व्यास का यह कथन सत्य सिद्ध हुआ—

"क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥"

अर्थात्, संसार में क्षमा ही वशीकरण-मंत्र है; क्षमा से सभी कार्य सिद्ध होते हैं; जिसके हाथ में शान्तिरूपी तलवार है उसका दुर्जन क्या बिगाड़ लेगा !

२—अज्ञानी को ज्ञान से जीतो

गुरु नानक का वचन है—'अन्तर तीरथ नानका, सोधत नाहीं मूढ़ ।' अर्थात्, मूढ़ लोग बाहरी तीर्थों को ही महत्त्व देते हैं, अपने हृदय के असली तीर्थ को नहीं खोजते। एक बार उन्हें ऐसे ही मूढ़ों का सामना करना पड़ा। देशाटन करते हुये वे मक्का शरीफ पहुँचे और काबे के सामने थककर विश्राम करने के लिये लेट गये। संयोग से उनके पैर काबे

की ओर थे। उसी समय वहां कुछ अन्धभक्त लोग आये। उन्होंने गुरु नानक को ठोकरों से जगाकर कहा—काफिर, तू पवित्र स्थान का अपमान करता है ? खुदा के घर के सामने पैर फैलाता है ?

उनके दुर्व्यवहार से ज्ञानी गुरु तनिक भी अशान्त या भयभीत नहीं हुये। उन्होंने लेटे-ही-लेटे कहा—भाइयो, नाराज मत हो; जिधर परमेश्वर न रहता हो, तुम लोग सोच-विचार कर खुशी से मेरे पैर उसी ओर कर दो—मुझे कोई आपत्ति नही होगी।

गुरु के तर्क से अज्ञानियो का जोश ठंडा होगया। तब उन्हें होश आया और उन्होंने अतिथि का यथायोग्य सत्कार किया। ऐसे अवसरों पर सन्त कबीर का यह वचन सर्वथा मान्य है—

"बहते को मत बहन दे, कर गहि ऐंचहु ठौर।
कहा-सुना मानै नहीं, वचन कहौ दुइ और ॥"

४—मातृवत् परदारेषु

शिवाजी के जीवन की एक घटना है। एक मुसलमान युवती उन पर मुग्ध होकर एकान्त में प्रणय का हावभाव दिखाती हुई उनसे बोली—'मुझे आप-जैसा एक पुत्र चाहिये।' इसके उत्तर में शिवाजी ने नम्रता-पूर्वक कहा—'माँ, तुम मुझे ही आज से अपना पुत्र समझ लो।'

रमणी का मानस-मल धुल गया। उसके हृदय में शिवाजी के प्रति कामवासना के स्थान पर सात्विक प्रेम भर गया। अपनी पराजय से लज्जित होकर वह वहाँ से चली गई। शिवाजी ने अपने शील-सौजन्य से स्वधर्म की रक्षा के साथ-साथ एक अबला को भी पथ-भ्रष्ट होने से बचा लिया। इस आत्मविजय का महत्त्व कम नहीं है। संस्कृत के एक नीति-कार का कहना है कि मतवाले हाथी के मद को चूर करने वाले शूर-वीर होते है; बहुत-से लोग महाबली सिंह को भी पछाड़ने की शक्ति रखते हैं। किन्तु मैं बलवानों के सम्मुख दृढ़तापूर्वक घोषित करता हूँ कि काम-देव के मद को चूर्ण करने वाले विरले ही होते हैं।—

"मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥"

५—उपकारहतस्तु कर्त्तव्यः

कविश्रेष्ठ शूद्रक ने लिखा है कि अपकारी को शस्त्र से न मारकर उपकार से मारना चाहिये—'शस्त्रेण न हन्तव्यः उपकारहतस्तु कर्त्तव्यः।' सज्जन इसी नीति से अपने विरोधी पर विजय प्राप्त करते हैं। वे बदला नहीं लेते, अपकारी का भी उपकार करते हैं।

एक बार अकबर के माननीय मंत्री रहीम पालकी में बैठकर कहीं जा रहे थे। रास्ते में किसी गरीब ने दूर से पालकी की ओर एक पंसेरी फैंकी। सिपाही उसे पकड़कर रहीम के पास लाये। दण्ड देना या डाँटना-फटकारना तो दूर रहा उदार मन्त्री ने उसे पंसेरी-भर सोना दिया और बड़े प्रेम से यह प्रबोधन देकर विदा किया कि आगे से ऐसा अनुचित कार्य मत करना। वह गरीब अपनी भूल पर पश्चात्ताप करता हुआ रहीम के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता की भावना लेकर चला गया। राजदरबारियों को रहीम के इस व्यवहार पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा, जिसे प्राण-दण्ड मिलना चाहिये था उसे आपने पुरस्कार क्यों दिया?

रहीम ने हँसते हुये कहा—इसने मुझे पारस समझकर मेरी परीक्षा के लिये लोहे की पंसेरी मेरे पास भेजी थी। मैंने उसे सोना बना दिया। ऐसा न करने से मेरी हीनता प्रकट होती।

एक शक्तिशाली मुगल मंत्री की यह सहनशीलता और उदारता साधारण बात नहीं है। सामर्थ्यवान् होकर क्षमावान् भी होना बड़ा कठिन है। व्यास ने विदुर के मुख से कहलाया है कि दो प्रकार के व्यक्ति संसार में स्वर्ग के ऊपर भी स्थित होते हैं—एक तो जो शक्तिशाली होकर क्षमा करता है, और दूसरा जो दरिद्र होकर भी कुछ दान करता रहता है।—

"द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥"

—उद्योगपर्व ।

६—परापवाद की उपेक्षा

यूनान के सुप्रसिद्ध मनीषी अरस्तू से एक दिन किसी ने कहा कि अमुक व्यक्ति ने आपकी अनुपस्थिति में आपको गाली दी है। अरस्तू ने हँसकर कहा—वह मूर्ख चाहे तो मेरी अनुपस्थिति में मुझे पीट भी सकता है।

ऐसे मनस्वियों के सम्बन्ध में शुक्राचार्य ने कहा है—हे देवयानि, जो दूसरे से की हुई अनुचित निन्दा को सहन कर लेता है, सत्य मानो, वह समस्त संसार को जीत सकता है।—

"यः परेषां नरो नित्यमतिवादांस्तितिक्षते ।
देवयानि, विजानीहि तेन सर्वमिदं जितम् ॥"

—महाभारत ।

कम-से-कम पीठ पीछे होने वाली निन्दा की ओर ध्यान देना तो व्यर्थ ही है।

७—शान्तचित्त रहने का अभ्यास

यूनान में डायोजिनीज़ नामक एक तत्त्ववेत्ता होगया है। वह प्रतिदिन एक पत्थर की मूर्ति के सामने कुछ देर तक भीख माँगता था। एक दिन उसके एक मित्र ने इस निरर्थक प्रतीत होने वाले कार्य का रहस्य पूछा। डायोजिनीज़ ने कहा—मैं इससे भीख माँगकर किसी से कुछ न मिलने पर शान्तचित्त रहने का अभ्यास कर रहा हूँ।

चित्तवृत्तियों का संयम इच्छामात्र अथवा कोरे ज्ञान से नहीं, निरन्तर अभ्यास से होता है। प्रायः लोग प्रिय वस्तु के न मिलने पर भीतर-ही-भीतर पीड़ित होने लगते हैं, विक्षुब्ध हो जाते हैं। यह एक मानसिक रोग

है। इससे मुक्त होने का उपाय यही है कि अभ्यासपूर्वक चित्त को शान्त किया जाय। वसिष्ठ ने कहा है कि अपने भीतर ही यदि शान्ति मिल गई तो सारा संसार शान्त प्रतीत होता है।—

"अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत्।" —योगवासिष्ठ।

८—स्वात्माभिमान की रक्षा

एक बार यूनान के अत्याचारी अधिकारियों ने स्वात्माभिमानी डायोजिनीज को पकड़कर बिक्री के लिये गुलामों के बाज़ार में बैठा दिया। बेचने वालों ने उससे पूछा कि तुम कौन-सा काम अच्छी तरह कर सकते हो, बता दो जिससे तुम्हारी विशेषताओं की घोषणा करके उपयुक्त ग्राहक खोजा जाय। डायोजिनीज ने पूर्ण आत्मविश्वास के साथ घोषणा करने वाले से कहा—मैं अच्छा शासन कर सकता हूँ; घोषित करो कि किसी को स्वामी की आवश्यकता हो तो वह मुझे ले सकता है।

वास्तव में, मनुष्य का मान-मर्दन तभी होता है जब वह भय या स्वार्थवश स्वयं अपने को तुच्छ समझने लगता है। आत्मदीनता पतन की पहली सीढ़ी है। भारतीय मनीषियों का मत है कि संसार में दूसरों के सामने छोटा न बनकर सम्मानपूर्वक मर जाना अच्छा है; परन्तु अपमान-युक्त अमरत्वलाभ भी श्रेयस्कर नहीं है।—

"पंचत्वमेव हि वरं लोके लाघववर्जितम्।
नामरत्वमपि श्रेयो लाघवेन समन्वितम्॥"

—स्कन्दपुराण।

प्रसिद्ध नीतिकार भर्तृहरि ने मनस्वी का यही लक्षण लिखा है—

"कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम्।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव॥"

—नीतिशतक।

('जिसका मानस गम्भीर है उसका लोग कैसा ही अपमान क्यों न

करें, वह अपने प्रकृतिजात धैर्यगुण का कदापि परित्याग नहीं करता। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि को उलटा दो तो भी उसकी ज्वाला ऊपर को ही रहती है, नीचे नहीं जाती।')

९—स्वावलम्बन

एक बार डायोजिनीज का गुलाम चुपचाप कहीं भग गया। डायोजिनीज उसकी परवाह न करके सब काम स्वयं अपने हाथ से करने लगा। उसके एक मित्र ने कहा—आप क्यों इतना कष्ट सहते हैं, उस गुलाम को ढूँढकर पकड़ लाइये और उससे काम लीजिये।

डायोजिनीज ने कहा—क्या यह मेरे लिये लज्जा और अपमान की बात न होगी कि मेरा सेवक तो मेरे बिना रह सकता है और मैं उसके बिना अपना काम नहीं चला सकता ? मैं दासानुदास नहीं बनूँगा !

सत्पुरुष कष्ट सहकर भी आत्मसम्मान की रक्षा यत्नपूर्वक करता है। महामुनि व्यास के मत से—क्षुद्र मनुष्यों को जीविका नहीं होने का बड़ा भय रहता है और मध्यम श्रेणी के व्यक्तियों को मृत्यु का भय। उत्तम जनों को अपमान से बड़ा ही भय लगा रहता है।—

"अवृत्तिर्भयं मर्त्यानां मध्यानां मरणाद्भयम्।
उत्तमाना तु मर्त्यानामवमानात्परं भयम्।"

—महाभारत।

१०—विकारों के लिए भी स्थान चाहिये

प्राचीन यूनान के एक रईस ने वहाँ के एक नामी विद्वान् को अपना नवनिर्मित भव्य भवन देखने के लिये बुलाया। उसे साथ लेकर वह बड़ी देर तक एक-एक कमरे की शोभा और स्वच्छता दिखाता रहा। इसी बीच में उस विद्वान् को थूकने की इच्छा हुई, परन्तु वहाँ कहीं इसके लिये उपयुक्त स्थान नहीं मिला। सभी दीवालों पर लिखा हुआ था कि यहाँ थूकना मना है। सम्मान्य अतिथि से रहा नहीं गया। उसने सोच-विचार

कर एक ऐसी बात कही जिससे रईस को हँसी आगई। ज्योंही उसने हँसने के लिये मुँह खोला, विलायती पण्डित ने उसके मुँह में थूक दिया। रईस ने बिगड़कर उससे इस अशिष्टता का कारण पूछा। विद्वान् ने कहा—मुझे यही एक स्थान दिखाई पड़ा जहाँ यह नहीं लिखा है कि थूकना मना है।

प्रायः लोग इस बात को भूल जाते है कि संसार विकारमय है। स्वयं अग्नि भी, जो सब विकारों को जला देती है, निर्धूम नहीं होती। मानव-जीवन में भी विकार होते हैं। धुँआ निकालने के लिये जिस प्रकार छिद्र चाहिये, उसी प्रकार मनुष्य के स्वाभाविक—शारीरिक एवं मानसिक विकारों को मर्यादित करने के लिये उपयुक्त स्थान या मार्ग चाहिये। घर में यदि छोटी-छोटी नालियाँ न हो तो सारा घर गन्दगी से भर जायगा।

११—बातें बनाना व्यर्थ है

एक रोमन दार्शनिक के सामने एक वाचाल डींग हाँकता था कि मैंने भी बड़े-बड़े विद्वानो को देखा है और उनके साथ वार्तालाप किया है।

दार्शनिक ने कहा—मैंने भी अनेक धनिकों को देखा, उनसे बातचीत की, परन्तु इससे मैं धनी नहीं हुआ।

व्यास ने सत्य ही कहा है कि केवल आत्मप्रशंसा से कोई मूर्ख प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता—"न लोके राजते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।"—महाभारत।

१२—गुणग्राहकता

सत्पुरुष अपने विरोधी की भी योग्यता का सत्कार करता है और व्यक्तिगत राग-द्वेष या मतभेद के कारण किसी के साथ अन्याय नहीं करता। महावीर नेपोलियन ने एक बार अपने एक प्रतिकूल आलोचक को राज्य के उच्च पद पर नियुक्त किया। लोगो ने उसे सुझाया कि वह तो आपके विषय में अच्छे विचार नहीं रखता। इस पर नेपोलियन

ने कहा—यदि वह अपना काम योग्यतापूर्वक कर सकता है तो मुझे इसकी चिन्ता नहीं है कि मेरे विषय में उसकी व्यक्तिगत धारणा क्या है; मुझे तो उसके काम से मतलब है।

इसी प्रकार अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने युद्ध-सचिव के पद पर एक ऐसे व्यक्ति को नियुक्त किया जो उसका बहुत पुराना और प्रधान प्रतिद्वन्द्वी था। लोगो ने उसे याद दिलाया कि अनेक अवसरों पर उसने भाँड़, गोरिल्ला आदि कहकर आपकी खिल्ली उड़ाई है। लिंकन ने कहा—यदि वह राष्ट्र के लिये उपयोगी है तो मुझे इन व्यक्तिगत आक्षेपों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये; वह लिंकन की बुराई कर सकता है, राष्ट्रपति का तो सम्मान ही करेगा।

बड़े लोग एक तो छोटी बातो को महत्व नहीं देते, दूसरे वे इस नीति के अनुसार कार्य करते है कि थोड़े-से दोष के कारण बहुत गुण वाले पुरुष को छोड़ नहीं देना चाहिये—'नाल्पदोषाद् बहुगुणास्त्यज्यन्ते'—कौटिल्य। वे शत्रु के भी गुणों को ग्रहण कर लेते है—'शत्रोरपि सुगुणो ग्राह्यः'—कौटिल्य। इँगलैण्ड के इतिहास-प्रसिद्ध प्रधानमंत्री डिज़रायली ने भी अपने एक तीस वर्ष के विरोधी की मृत्यु के बाद उसके बाल-बच्चो के पालन-पोषण के लिये राज्य की ओर से पेंशन दिलाकर अपनी बौद्धिक उदारता का परिचय दिया था। सन् १८७४ में उसने अँगरेजी के धुरन्धर लेखक कार्लाइल को सर्वोच्च राजसम्मान प्रदान किया, यद्यपि व्यक्तिगत रूप से कार्लाइल उसका घोर विरोधी था।

इस प्रसंग में ब्रह्मपुराण की यह प्राचीन उक्ति उल्लेखनीय है—

"एतदेव सुजातानां लक्षणं भुवि देहिनाम्।
कृपार्द्रं यन्मनो नित्यं तेषामप्यहितेषु हि॥"

—ब्रह्मपुराण।

अर्थात्, संसार से सत्पुरुषों का यही लक्षण है कि अहित करने वालों के प्रति भी उनके मन में सदा करुणा ही भरी रहती है।

१३—यत्सारभूतं तदुपासनीयम्

अब्राहम लिंकन के शासन-काल में अमेरिका में एक नये ढंग की बन्दूक का आविष्कार हुआ। राष्ट्रपति की आज्ञा से इस बात की जांच के लिये विशेषज्ञों की एक समिति बैठी कि नई बन्दूक युद्ध के लिये उपयोगी हो सकती है अथवा नहीं। कमेटी ने बड़ी छानबीन के बाद एक लम्बी-चौड़ी रिपोर्ट तैयार करके लिंकन के पास भेजी। लिंकन ने उसे उठाकर अलग रख दिया। मंत्रियों ने जब कारण पूछा तो उन्होंने कहा—इसको आदि से अन्त तक पढ़ने के लिये मुझे नया जीवन चाहिये; यदि मैं किसी को घोड़ा खरीदने का काम सौंपूं तो उसे उचित है कि वह मुझे संक्षेप में उसके गुण-दोष बतला दे, न कि यह कि उसकी दुम में कितने बाल हैं।

कमेटियों में प्रायः छोटी-छोटी अनावश्यक बातों की छान-बीन में समय और श्रम का अपव्यय होता है। जबतक उनकी भारी-भरकम रिपोर्ट प्रकाशित होती है, तबतक अवसर हाथ से निकल जाता है। अधिकारियों को लिंकन की नीति का अनुसरण करना चाहिये। तत्त्व को ग्रहण करने में बुद्धिमानी है। सन्त दादू के शब्दों में—

"गऊ बच्छ का ज्ञान गहि, दूध रहै लौ लाइ।
सींग-पूँछ-पग परिहरै, अस्थन लागै धाइ॥"—दादू।

१४—काम का ढंग जानना चाहिये

अमेरिका के प्रख्यात लेखक और विचारक एमर्सन के पिता भी अध्ययनशील साहित्यिक थे। एक दिन रात को बाप-पूत साहित्य-रचना में मग्न थे, इतने में उनका बछड़ा गोशाले से रस्सी तुड़ाकर बाहर निकल गया। दोनों उसे पकड़ कर अन्दर ले जाने लगे, परन्तु वह ऐसा अड़ गया कि एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा। आगे से बेटा उसके दोनों कान पकड़ कर खींचता था और पीछे से बाप ठेलता था। साहित्यिकों के लिये उसे लेजाकर बांधना एक कठिन समस्या थी। उसी समय बाहर से घर की दासी आई। उसने दोनों को झंझट से छुटकारा देकर उस बछड़े को

थपथपाया और आसानी से लेजाकर बाँध दिया। एमर्सन को विश्वास हो गया कि कोई भी काम, वह चाहे छोटा हो या बड़ा, उसके करने का एक ढंग होता है और वही आदमी अपने कार्य को सुचारु रूप से कर सकता है जो उसको करने का ठीक उपाय जानता हो। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि अब मैं ऐसे ही व्यक्ति को पसन्द करूँगा जो अपने काम का ठीक ढंग जानता हो।

कार्यकुशल ही उपयोगी होता है, कोरा परिश्रमी नहीं। जातक में लिखा है—सीखने योग्य बातो को सीखे; मानने वाले लोग है।—
"सिक्खेय सिक्खितब्बानि, सन्ति सच्छन्दिनो जना॥"—जातक।

१५—जो है उसी का उपयोग करो

जर्मन सेनापति रोमेल अपने समय का अद्वितीय शूरमा था। उसकी योग्यता—शूरवीरता, रणदक्षता का लोहा उसके प्रबलतम शत्रु भी मानते थे। गत महायुद्ध में उसने अफ्रीका में अँगरेजों के विरुद्ध सैन्यबल और बुद्धिबल का अच्छा परिचय दिया था।

एक बार ऐसा हुआ कि रेगिस्तान में उसके पास युद्ध-सामग्री समाप्त होगई। रात में सुसज्जित अँगरेजी सेना ने आक्रमण कर दिया। रोमेल के संगी-साथी घबड़ा गये। उन्होंने कहा—हमारे पास कुछ तोपें तो हैं, परन्तु गोले नहीं है। रोमेल ने धैर्यपूर्वक कहा—गोले न सही, धूल तो है—उसी का उपयोग करो; धूल झोंको। उसकी आज्ञा से जर्मन सैनिक तोपों में बालू भर-भर कर बालू के टीलों पर दनादन दागने लगे और जो भी थोड़े-बहुत युद्ध-वाहन थे कुछ मीलों के घेरे में लगातार चक्कर लगाने लगे। परिणाम यह हुआ कि तोपों की गड़गड़ाहट सुनकर और अपरम्पार धूल उड़ती देखकर अँगरेजों ने समझ लिया कि जर्मनो की विशाल सेना युद्ध के लिये आतुर होकर दौड़ी आ रही है। वे वायुयान से भी वास्तविकता की जाँच नहीं कर सके, क्योकि सारा आकाश धूल से भरा था।

उन्हें मैदान छोड़कर भागना पड़ा। समय-चातुरी और अपने धैर्य से रोमेल ने प्रबल बैरी-दल को परास्त कर दिया।

साधनो की कमी से निराश होकर कर्मोद्योग त्याग देना कायरता है। बुद्धिबल से जो हो सकता है, वह बाह्य बल से नहीं—'उपायेन हि यत्कुर्यात्तन्न शक्यं पराक्रमैः'—पंचतंत्र।

: १४ :

कुछ उपयोगी दृष्टान्त



१—चिन्तामणि आपके पास है

योगवासिष्ठ में एक बड़ा सुन्दर उपाख्यान है। चिन्तामणि की प्रशंसा सुनकर एक मनुष्य उसकी खोज में घर से बाहर निकला। घर के निकट ही उसे एक मूल्यवान् पत्थर पड़ा हुआ मिला। उसने उसको हाथ में लेकर देखा, उसमें चिन्तामणि के सब लक्षण मिलते थे। एक बार तो उस व्यक्ति ने सोचा कि हो-न-हो यही चिन्तामणि है, लेकिन फिर निश्चय किया कि ऐसी अमूल्य एवं अलभ्य वस्तु ऐसे साधारण स्थान में इतनी आसानी से नहीं मिल सकती। उसने उसे काच का मामूली टुकड़ा समझकर लापरवाही से फेंक दिया। इसके बाद वह चिन्तामणि की खोज में आगे बढा। उसने संसार का एक-एक कोना छान डाला, अनेक दुर्गम स्थानों में जा-जाकर उस दिव्य रत्न को खोजा, परन्तु उसे एक भी वैसा पत्थर नहीं मिला जैसा कि अपने घर के निकट मिल चुका था। वर्षों की दौड़-धूप के बाद उस मनुष्य को विश्वास होगया कि जो वस्तु उसे उसके घर के समीप मिली थी वही चिन्तामणि थी। सचमुच वही चिन्तामणि थी। उसे पुनः प्राप्त करने की इच्छा से वह अभागा शीघ्रता के साथ घर की ओर लौटा और निश्चित स्थान पर पहुँचकर इधर-उधर, उस असावधानी से फेंकी हुई वस्तु को ढूँढ़ने लगा। इस समय तक वह दुर्लभ हो चुकी थी। मूर्ख सिर पीट-पीट कर पछताने लगा, अपने कर्मों को दोष देने लगा। और करता ही क्या! हाथ में आई हुई सम्पदा को गँवाने का दुःख कम नहीं होता।

इस कथा के मर्म को ग्रहण कीजिये। मर्म की बात यह है कि अनेक अमूल्य और दुर्लभ वस्तुयें, जिन्हें आप प्राप्त करना चाहते हैं, आपके पास ही मिल सकती हैं; उनके लिये दूर जाने की—इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है। थोड़ी देर के लिये सोचिये कि आप क्या-क्या चाहते हैं। हम आपको बताते हैं—आप जीवन चाहते हैं। अपना जीवन आपको अपने ही पास मिलेगा, किसी दूसरे के पास नहीं। आप सुख और शान्ति चाहते हैं। इन्हें अपने हृदय-सदन में ढूंढिये। आप शक्ति चाहते हैं। वह बन्दूक-पिस्तौल में नहीं, आपके शरीर में ही मिल सकती है। आप मान-प्रतिष्ठा और ऐश्वर्य चाहते हैं, सिद्धि और सद्‌गति चाहते हैं। इन्हें अपने कर्मों में खोजिये। आप ज्ञान चाहते हैं। सच्चा ज्ञान आपको तारों-सितारों में नहीं, अपने अन्तर्जगत् में मिलता है। आप संभवतः भगवान् को चाहते हैं। हमने सुना है कि संसार में अन्यत्र नहीं, आपके अन्तःकरण में ही वह आपको मिल सकता है। भगवान् ईसा ने सत्य ही कहा है कि स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है।

आप और क्या चाहते हैं? अवश्य ही, आप प्रेम चाहते होंगे। आप स्वयं सोचिये कि जिस प्रकार का सच्चा प्रेम आप चाहते हैं, वह आपको कहाँ और किससे मिल सकता है? जो प्रेम आपको अपने घर में मिल सकता है, वह सारे संसार में भी नहीं मिल सकता। संसार की सारी स्त्रियों से भीख माँगकर या खरीदकर भी आप वह प्रेम नहीं पा सकते जो अपनी शीलवती पत्नी से सहज में ही पा जाते हैं। माता-पिता तथा अन्य स्वजनों का सहज स्नेह आपको कहाँ मिलता है? जिस सहानुभूति के लिये आप लालायित रहते हैं, वह आपके निकटस्थ व्यक्तियों मे ही मिलती है।

साधारणतया लोग निकट की वस्तुओं का निरादर और दूर की वस्तुओं का आदर करते हैं। उपरोक्त उदाहरणों से हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि निकट की वस्तुयें उपेक्षणीय नहीं हैं। बहुत-सी ऐसी वस्तुयें, जिनकी प्राप्ति के लिये लोग चिन्तित रहते हैं, उनके आसपास

ही मिलती है । अनेक अभीष्ट और उपयोगी साधन, अमूल्य सुअवसर, सौभाग्य मनुष्य के हाथ में ही रहते है, किन्तु वह उनकी ओर ध्यान नहीं देता। जब वे हाथ से निकल जाते है तब उसे उनका महत्त्व ज्ञात होता है।

आप जब कभी अपनी चिन्तामणि को खोजने निकलें, देख लीजिये कि कहीं वह आपके आस-ही-पास न हो। सहज सुलभ होने के कारण ही किसी वस्तु को साधारण एवं अनुपयोगी मत मानिये। उससे गुण को देखिये और उसका लाभ लीजिये। पास की साधारण वस्तु भी आपके बड़े काम की हो सकती है।

२—सफलता का महत्व

एक प्राचीन कथा है। स्वर्ग की तीन प्रमुख देवियाँ—लक्ष्मी, पार्वती और सरस्वती—एक बार एकान्तवास के लिए भारतवर्ष में पधारीं। तीनों एक रमणीक उद्यान में पहुँची। उसमें फल-फूलों के अनेक वृक्ष थे। उन्होंने निश्चय किया कि अपनी-अपनी रुचि का एक-एक वृक्ष चुनकर उसको सींचना चाहिये और उसीके नीचे अपना प्रवासकाल सुख से व्यतीत करना चाहिये।

लक्ष्मी ने कहा—मैं तो रमा हूँ, सौन्दर्य की देवी हूँ; इसलिये कचनार के वृक्ष को चुनती हूँ। जिस समय वह फूलेगा, उसकी शोभा देखकर मैं मुग्ध हो जाऊँगी।

पार्वती ने कहा—मैं भवानी हूँ, रण की देवी हूँ; इसलिये पलाश को अपनाती हूँ। जिस समय टेसू का पेड़ लाल-लाल फूलो से लद जायगा, उस समय वह रक्तरंजित रणस्थल जैसा सुन्दर लगेगा। मुझे वह दृश्य कितना प्रिय लगेगा!

सरस्वती ने कहा—मुझे तो फूल की अपेक्षा फल अधिक प्रिय है, इसलिये मैं आम के वृक्ष के नीचे डेरा डालूँगी।

तीनों देवियाँ अपने-अपने वृक्षों की सेवा करने लगीं। थोड़े ही दिनों में उपवन में ऋतुराज का आगमन हुआ। कुसुमाकर एक-एक तरु को सजाने लगा। देखते-देखते वाटिका रंग-विरंगे फूलों से भर गई और प्रकृति की चित्रशाला जैसी प्रतीत होने लगी।

कचनार के वृक्ष पर चढ़कर लक्ष्मी ने कहा—सखियो, मेरा वैभव देखो; मेरे कामना-तरु को देखो; इस उद्यान का एक भी पुष्पित वृक्ष आज इस कचनार की समता नहीं कर सकता; यह तो अंग-अंग से फूल गया है; इसकी डालियाँ मेरी ही साड़ियाँ पहने खड़ी हैं। इसके साथ मेरी शोभा कितनी वढ़ गई है। मैं तो इसी में खोगई हूँ।

दूसरी ओर से पार्वती वोलीं—रमा! सरस्वति! इधर तो देखो; कुसुमित पलाश में युद्ध का दृश्य देखो। यह वृक्ष शूरवीरों के रुधिर से रँगे हुये युद्धक्षेत्र जैसा लगता है। मेरा मन तो इसी में रम गया है। मैं हर्षोन्मत्त होकर नाचना चाहती हूँ। इन लाल-लाल फूलों से मेरी लालसा व्यक्त हो रही है।

सरस्वती चुप रहीं। उनकी आम्रमंजरियाँ कचनार और टेसू के फूलों जैसी आकर्षक नहीं थी, फिर भी उनमें सुगन्धि थी। पवन उसे चारों ओर विखेर रहा था। अमराई में कोकिल कूजती थी, भौंरे गुंजार करते थे। उनके द्वारा सरस्वती का हर्ष यों ही व्यक्त हो रहा था। वे मन-ही-मन इस वात से प्रसन्न थीं कि उनकी वस्तु का सत्कार हो रहा है और अन्य जीव भी उसका उपभोग कर रहे हैं।

धीरे-धीरे पलाश और कचनार के फूल झड़ने लगे। उधर आम के वौरों में फल लगने लगे। कुछ ही दिनों में लक्ष्मी और पार्वती का तरु-वैभव नष्ट होगया। सरस्वती के आम पकने लगे और वे आनन्दपूर्वक उनको खाने लगीं। दोनों देवियाँ हाथ मलती हुई उनके पास पहुँचीं और वोलीं— वहन, हमारी अपेक्षा तो तुम्हीं सुखी हो; हमारा ठाठ-वाट निष्फल हो गया; तुम अपने परिश्रम का मीठा फल पाकर धन्य हो;

तुम्हारी दूरदर्शिता प्रशंसनीय है; हम तुम्हें तुम्हारी सफलता पर बधाई देती हैं।

सरस्वती ने दोनों का स्वागत करके कहा—आओ सहेलियो, तुम भी मेरी सफलता का सुख भोगो; आज ही मेरा इतने दिनो का श्रम सफल हुआ है।

लक्ष्मी और पार्वती ने मान लिया कि सच्चा सुख और गौरव सफलता में है। हमें भी इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिये। ऊपरी ठाठ-बाठ और क्षणिक आमोद-प्रमोद से बड़ा धोखा होता है। मनुष्य को ऐसा ही कार्य करना चाहिये जिसके अन्त में उत्तम फल-प्राप्ति की संभावना हो, जिसमें श्रम सफल हो, समय सफल हो और जीवन सफल हो।

३—अनादर क्यों होता है

महाभारत में एक सुन्दर उपाख्यान है। एक बार भगवती लक्ष्मी सुन्दर वेष धारण करके किसी गोशाले में गईं। गायों ने उन्हें देखकर उनका परिचय पूछा। लक्ष्मी ने कहा —मैं धन-ऐश्वर्य-श्री-सौभाग्य की देवी हूँ। संसार में सभी मुझे चाहते हैं। ऋषि-मुनि तक मेरी उपासना करते हैं; जिस पर मैं प्रसन्न हो जाती हूं, उसके लिये मर्त्यलोक भी स्वर्ग-तुल्य हो जाता है। मैं तुम लोगों पर प्रसन्न होकर तुम्हारे शरीर में स्वयं निवास करने आई हूँ।

लक्ष्मी को विश्वास था कि गायें उनका परिचय पाकर समुचित स्वागत-सत्कार करेंगी, लेकिन हुआ कुछ और ही। गायो ने तिरस्कार-पूर्वक कहा—लक्ष्मी, तुम तो स्वभाव की चंचला प्रसिद्ध हो; हम तुम्हें अपने पास नहीं रखना चाहतीं; तुम्हारा क्या विश्वास ! तुम हमारे स्वभाव को भी चंचल बना कर, हमें किसी दिन छोड़कर चली जाओगी।

लक्ष्मी अपने मान-मर्दन से खिन्न होकर बोलीं—गायो, तुम इसलिये मेरी अवज्ञा मत करो कि मैं बिना बुलाये स्वयं प्रार्थी बनकर तुम्हारे पास

आई हूँ अतएव निकृष्ट होगई हूँ। मैं हृदय से तुम्हारा उपकार करना चाहती हूँ; मेरी सहज कृपा का लाभ लो। मेरी मनोकामना को पूर्ण करो।

गायों ने एक स्वर से उत्तर दिया—नही भगवती, क्षमा करो; हमें अयाचित वरदान नहीं चाहिये। आप भोगियों के यहां जाकर निवास करें; हमारे जैसे सीधे-सादे जीवों को माया-मोह में न फँसाइये। यहाँ आपके उपयुक्त कोई स्थान नहीं है।

लक्ष्मी ने पुनः प्रार्थना की। तव गायों ने बड़ी उपेक्षा के साथ कहा—अच्छी वात है; यदि आप सचमुच हमारे शरीर में निवास करने का निश्चय करके आई है तो हमारे गोवर और मूत्र में निवास कीजिये। हम और कहीं आपको ठहरने का स्थान नहीं दे सकतीं।

लक्ष्मीजी गोवर और गोमूत्र में निवास करने लगीं।

इस कथा से एक तो गोवर और गोमूत्र की उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है। दूसरे, इससे यह शिक्षा भी मिलती है कि कोई चाहे कितना भी बड़ा आदमी क्यों न हो यदि विना निमंत्रण के कहीं जाता है तो उसका लोग यथोचित सम्मान नहीं करते। 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' की नीति का अनुकरण करने वालों को मेहमान का मान नहीं मिलता। लोक की यह रीति है कि 'घर आयो नाग न पूजहीं, बाँबी पूजन जाँहि।'

४—जाल में मत फँसिये

श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में एक सारगर्भित लघुकथा है। किसी वन में एक कबूतर अपनी कबूतरी के साथ बड़े सुख से रहता था। दोनों में अत्यधिक स्नेह था। एक क्षण के लिये भी वे एक-दूसरे से अलग नहीं होते थे। कबूतर नाममात्र को ही कबूतरी का स्वामी था। वास्तव में वह उसका दास था। कुछ दिनो में कबूतरी ने अंडे दिये। दोनों के आनन्द का ठिकाना न रहा। समयानुसार उन अंडो से सुन्दर बच्चे

निकले। कपोत-कपोती ने बड़े प्रेम से उनका लालन-पालन किया। इस प्रकार वे दिन-प्रतिदिन माया-मोह के जाल में फँसते ही चले गये।

एक दिन कबूतर-कबूतरी बच्चों को घोसले में छोड़कर चारा लाने के लिये कहीं दूर चले गये। इधर एक बहेलिये ने उन बच्चों को पकड़ने के लिये जाल बिछा दिया। सब-के-सब उसमें फँस गये। शाम को लौटने पर कबूतर-कबूतरी ने अपने प्राणप्यारे बच्चो को मृत्यु-पाश में बँधे देखा। कबूतरी शोक से विह्वल होकर रोने और छटपटाने लगी। मोह-वश वह अपने बच्चों के पास गई और स्वयं जाल में फँस गई। कबूतर पर तो दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। बच्चे तो काल के गाल मे जा ही चुके थे, प्यारी कबूतरी भी सदा-सर्वदा के लिये हाथ से जाती रही। वह उनके छुड़ाने का उपाय न करके छाती पीट-पीटकर रोने-चिल्लाने लगा—हाय, मेरा तो बना-बनाया घर उजड़ गया, अब मै कैसे रहूँगा! मेरी पतिव्रता पत्नी मुझे इस सूने घर में अकेला त्यागकर प्यारे बच्चों के साथ स्वर्ग को जा रही है। इनके बिना मेरा जीवित रहना व्यर्थ है।

इस तरह विलाप करते-करते वह मूढ़ भी जाल में जाकर फँस गया। फँसने के बाद उसे अपनी ग़लती मालूम हुई। वह बन्धन से छुटकारा पाने के लिये छटपटाने लगा। तबतक बहेलिये ने आकर एक-एक को पकड़ लिया।

इस कथा से एक शिक्षा तो यह मिलती है कि मनुष्य को माया-मोह में इतना नहीं फँसना चाहिये कि उसके कारण बाद में दुःख भोगना पड़े। सांसारिक विषयों में अत्यधिक आसक्ति—चाहे वह धन की हो या गृह की अथवा सुख की—दुःखदायिनी होती है। उससे मनुष्य बँध जाता है, अथवा यह कहिये कि जगत् के जंजाल में फँस जाता है। भव-वैभव को भोगना चाहिये, किन्तु यथासंभव निरासक्त होकर।

दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि विपत्ति मे मोहित होने या छटपटाने से कोई उससे छुटकारा नहीं पा सकता। भूल या उलझन को सुधारने

और सुलझाने में बुद्धिमानी है। संकट में पड़कर पछताने की अपेक्षा यह अच्छा है कि मनुष्य उसमें से निकलने का प्रयत्न करे। घवड़ाने से झंझट बढ़ ही जाते हैं।

५—तौल कर बोलिये

एक बार हनूमानजी के मुख से रामायण की कथा सुनकर अर्जुन ने कहा—राम ने समुद्र पर पत्थर का पुल बनवाकर बड़ी भूल की; मैं होता तो पल भर में तीरो का पुल बना देता।

हनूमान ने कहा—राम-जैसे महाधनुर्धर के लिये तीरो का पुल बनाना कठिन नहीं था, परन्तु उस परिस्थिति में उन्होने जो किया वही उचित था। राम की विशाल सेना का भार तीरो का पुल नहीं सम्हाल सकता था।

अर्जुन अहंकारपूर्वक फिर बोला—उससे कहीं बड़ी सेना मेरे बाणों के पुल पर पार हो सकती है।

हनूमान ने कहा—अच्छा, किसी सरोवर पर तुम एक ऐसा पुल बना कर देख लो कि वह एकमात्र मेरा ही भार सम्हाल लेता है या नहीं।

अर्जुन ने पास के एक बड़े ताल पर देखते-ही-देखते तीरों का जाल बिछा दिया और हनूमानजी से उस पर दौड़ने को कहा।

महावीर हनूमान महावेग से उस पर कूदे। उनके एक ही प्रहार से अर्जुन का शरसेतु टूट कर बिखर गया। साथ ही, अर्जुन का दर्प भी नष्ट होगया।

अर्जुन ने बिना सोचे-विचारे राम की आलोचना की थी। उसके लिये उसे लज्जित होना पड़ा। बहुत-से लोग ऐसी ही भूलें करते हैं। दूसरों के कार्य की आलोचना करते समय वे उसकी भूलें खूब दिखाते हैं, और बड़े-बड़े सुझाव देते हैं, लेकिन स्वयं जब वैसा ही कार्य करने चलते हैं तो उसका आधा भी नहीं कर पाते। उस समय उन्हें नीचा देखना

पड़ता है। कल्पना के महल बनाने वाले एक झोपड़ा भी नहीं बना पाते। लम्बी-चौड़ी बातों से और अपनी डींग हाँकने से मनुष्य का बड़प्पन नहीं सिद्ध होता। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि वह तौल कर बोले—ऐसी बात न कहे जो उसके काम से हलकी साबित हो। किसी की आलोचना करते समय उस परिस्थिति को भी देखना चाहिये जिसमें उसे कोई कार्य करना पड़ा है। किसी के कन्धे को दुर्बल कहने के पूर्व उस पर रक्खे हुये भार का अनुमान करना भी आवश्यक है।

६—अहंकार से काम नहीं होता

कहते हैं कि राम से समुद्र पर सेतु बाँधने का आदेश पाकर बानर लोग बड़े गर्व के साथ शिला-खंड ले-लेकर समुद्र में डालने लगे। उन्हे अपने बल और कार्य-कौशल का अभिमान तो था, लेकिन समुद्र की शक्ति का ज्ञान-ध्यान नहीं था। वे तो यही सोचते थे कि देखते-देखते वे सारे समुद्र को पत्थरों से पाट देंगे। वानर वीरों ने बड़े-बड़े पत्थर समुद्र मे डाले, लेकिन सब-के-सब पानी में डूब गये। घोर परिश्रम के बाद उन्होंने देखा कि एक भी पत्थर अपने स्थान पर नहीं टिका। उनका अहंकार पत्थरों के साथ ही डूब गया। सब हताश होकर राम के पास पहुँचे और बोले कि महाराज, हम इस कार्य के लिये असमर्थ हैं। राम ने मुस्करा कर कहा—जाओ, प्रत्येक पत्थर पर मेरा नाम अंकित करके पानी में डालो; जिस पत्थर पर मेरा नाम रहेगा समुद्र उसका तिरस्कार नहीं करेगा। ऐसा ही हुआ। बानरों ने मान लिया कि उनके बल-पराक्रम से नहीं, राम की कृपा से कार्य सिद्ध हुआ है। यह कथा चाहे सच्ची हो या झूठी, हमें तो विद्वद्वर व्यास की इस नीति से काम लेना है—

"अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥"—महाभारत।

अर्थात्—'निरर्थक बकते हुये और पागल तथा कच्चा-पक्का बोलते हुये बालक के वचनों से भी, पत्थरो से सुवर्ण के समान, सार ग्रहण किया जा सकता है।'

उपरोक्त कथा या किम्वदन्ती का सार यह है कि जबतक भगवान् की कृपा, बड़े लोगों का आशीर्वाद, सज्जनों की सहानुभूति आपको न मिले, तबतक आप किसी महत्कार्य में सफलता नही पा सकते। सिद्धि का श्रेय स्वयं न लेकर ईश्वर एवं अपने शुभचिन्तको को देना चाहिये। उनकी सद्भावनायें जब आपके साथ रहती है तभी आप कुछ करके दिखा सकते है। उन्हें आप अहंकार से नहीं प्राप्त कर सकते। अहंकार त्यागिये और मन में यह भावना रखिये कि हम जो-कुछ भी कर सकते है, भगवान् के अनुग्रह, गुरुजनों के प्रसाद और सज्जनों के सहयोग से ही कर सकते है। इस भावना से ही आपका कार्य सिद्ध हो सकता है। यह बानरों का ही नहीं, संसार के अनेक महापुरुषों का अनुभूत प्रयोग है।

७—योग्यता का डंका मत पीटिये

हनूमानजी के सम्बन्ध में एक लोक-कथा है। लंका-विजय के बाद हनूमानजी अपनी माता अंजना से मिलने गये। अंजना एक वन में कुटी बनाकर रहती थी। उसने बहुत दिनों बाद घर आये हुये पुत्र को बड़े प्रेम से गले लगाया और कुशल-समाचार पूछा। हनूमानजी अपनी माँ से रामायए का सारा हाल बताने लगे। उन्होने अपने शौर्य-पराक्रम का भी बारम्वार वर्णन किया। उसे सुनकर अंजना ने कहा—बेटा, मुझे तो यह लगता है कि तुम अपने स्वामी के काम नहीं आये! हनूमान बोले—माँ, मैंने तो उनके लिये बहुत-कुछ किया। मैं दुर्गम समुद्र को पार कर गया; मैंने अकेले रावए की लंका को तहस-नहस कर दिया; इसके बाद मैंने राम के साथ रावए, कुम्भकर्ण, मेघनाद जैसे अतिवीरो से घोर संग्राम किया; मेरी सहायता से ही राक्षसो का नाश हुआ है। राम स्वयं मेरे बल-विक्रम की सराहना करते है।

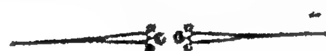
अंजना ने भीतर से सन्तुष्ट किन्तु बाहर से रुष्ट होकर कहा—तुम बारबार कहते हो कि मैंने यह किया, मैंने वह किया, परन्तु यह नहीं देखते कि तुमने क्या नहीं किया। उसे भी देखो तो तुम्हें ज्ञात होगा कि तुमने

उतना नहीं किया जितना तुम्हें करना चाहिये था या जितना तुम कर सकते थे। तुमने तो राम का कुछ भी काम नही किया। इसका प्रमाण यही है कि तुम्हारे रहते हुये भी राम को सेतु बाँधकर लंका में जाना पड़ा, घोर कष्ट सहकर राक्षसों से युद्ध करना पड़ा। तुम्हारी तारीफ तो तब थी जब तुम राम को सारे झंझटो से छुट्टी दे देते। क्या तुममे इतनी शक्ति नहीं थी कि तुम अकेले लंका में जाकर अन्यायी रावण से भिड़ जाते और उसे अपने बाहुबल से परास्त करके सीता को उबार लाते? जब तुम ऐसा नहीं कर सके तो व्यर्थ के लिये अपने बल-पौरुष की बड़ाई क्यों करते हो? तुम्हारे पुरुषार्थ को धिक्कार है! उस माता को धिक्कार है जिसका पुत्र अपने स्वामी के सम्मान की रक्षा पूर्ण रूप से नहीं कर सका। अब अपनी प्रशंसा मत करो।

हनूमान परम बुद्धिमान् थे, इसलिये वे तुरन्त सचेत होगये। उन्होंने माता के अभिप्राय को समझ लिया। 'अभिप्राय यह था कि कृती को न तो मन में कर्त्तव्य का अभिमान रखना चाहिये और न स्वमुख से अपना गुण-गान करना चाहिये। अंजना अपने पुत्र के हृदय से इस भावना को निकालना चाहती थी कि उसने राम का बहुत बड़ा काम किया है। उसने उचित ढंग से हनूमान को सावधान कर दिया।

कार्य-विशेष की सफलता के बाद भी जनता के सामने स्वयं अपनी योग्यता का विज्ञापन करने से मनुष्य की अयोग्यता प्रकट होती है।

श्री आनन्दकुमार की अन्य रचनायें



१. अङ्गराज (महाकाव्य) मूल्य ७)

(महारथी-कर्ण का जीवन-काव्य)

[इस ग्रन्थ पर उत्तर-प्रदेश की सरकार ने रचयिता को १५००) का साहित्य का प्रथम पुरस्कार दिया है।]

'अंगराज' सुपरिमार्जित राष्ट्रभाषा में लिखा हुआ पचीस सर्गों का एक प्रौढ़ वीर-काव्य है। इसमें महाभारत के लोकप्रसिद्ध महारथी और अनन्य दानी अंगराज कर्ण के आत्मोत्थान, पुरुषार्थ-पराक्रम और आत्मत्याग की कथा सरस, सजीव शैली में तथा हिन्दी-संस्कृत के विविध छन्दों में वर्णित है। आदर्श आर्यपुरुष कर्ण के जीवन-वृत्तान्त के साथ-साथ इस सारगर्भित रचना मे सम्पूर्ण महाभारत की मूलकथा यथार्थ रूप में आगई है। अंगराज केवल मनोरंजक ही नहीं, मुख्यतः जीवनदायी साहित्य है। इसमे पाठकों को राष्ट्रीय आदर्शों की व्याख्या तथा आर्यों की सनातन संस्कृति और सभ्यता की झलक मिलेगी। देश के गण्य-मान्य विद्वानों तथा सुप्रसिद्ध पत्रों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कुछ चुनी हुई सम्मतियां यहां दी जाती हैं:—

१. श्री सम्पूर्णानन्द जी, शिक्षा-सचिव, उत्तरप्रदेश—

"प्रबन्ध-काव्य लिखना कठिन कार्य है, इसलिये आजकल ऐसी

रचनाओं का चलन उठ-सा गया है । इसलिये जब मेरे सामने कोई प्रबन्ध-काव्य आता है तो कवि के लिये मेरे हृदय में अगत्या आदर का भाव जाग उठता है। महाकाव्य लिखने की जो शास्त्रीय प्रणाली है, उसकी आपने रक्षा की है। इसके लिये मैं आपको बधाई देता हूँ। आपने बहुत ही उत्कृष्ट धीरोदात्त नायक चुना है।...भूमिका में आपने पाण्डवों के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा है, मैं उससे बहुत कुछ सहमत हूँ। कुछ अंश जिनको मैंने यत्र-तत्र पढ़ा, मुझे अच्छे लगे। छन्दों का चुनाव भी विषयानुकूल प्रतीत होता है। ..आपने जहाँ कहीं थोड़ी-सी पुट पुरानी हिन्दी की दे दी है, वहां अद्भुत सजीवता आगई है।"

२. श्री कन्हैयालाल मुन्शी, कृषि-सचिव, भारत सरकार—

"It is a very well composed epic on one of the greatest and the most tragic figures in the literature of the world, the finest of man overwhelmed by circumstances from the moment of his birth Some parts of the book which I read are really inspiring."

३. डा० अमरनाथ झा, चेयरमैन, पब्लिक सरविस कमीशन, उ० प्र०—

'अङ्गराज' मैं देख गया। पढ़कर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने उसके पच्चीसों सर्ग पढ डाले। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक छोटी कविता 'कर्ण-कुन्ती-सम्वाद' शीर्षक लिखी थी। इस सुन्दर महाकाव्य की रचना पर अनेक बधाई।"

४. कविवर ठाकुर गोपालशरण सिंह, नई गढ़ी, रीवाँ—

"आधुनिकता के आवरण में कविता-सुन्दरी को प्राचीन रत्नाभरणों से अलंकृत करके आपने उसका एक अद्भुत रूप दिखाया है। संस्कृत के काव्यों और प्राचीन हिन्दी-कविता की रमणीयता इस काव्य में अनेक

स्थलों में दिखाई देती है। यमक और अनुप्रास की छटा कहीं-कहीं 'शिशुपाल-वध' का स्मरण दिलाती है। आशा है, हिन्दी-संसार में इसका समुचित आदर होगा।"

५. *ठाकुर श्रीनाथसिंह, भू० पू० सम्पादक 'सरस्वती'*—

"आपकी यह रचना अद्भुत है।...इस समय मेरी यह धारणा है कि तुलसी-कृत रामायण के बाद इधर जितने भी महाकाव्य हिन्दी में निकले हैं, उनमें आपका 'अंगराज' सर्वोत्तम है।"

६. *प्रोफ़ेसर विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी विश्व-विद्यालय*—

"अंगराज" लिखकर हिन्दी के नये कवियों को आपने ललकारा है। प्रबन्धो का देश प्रबन्धों से पराङ्मुख कब तक रहेगा? प्रचीन कथा मे नवीन दृष्टि का योग करके आपने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आपकी कल्पनायें और छन्द-योजना महावीर कर्ण ऐसे उदात्त चरित के अनुकूल हैं। आपकी कृति प्रशंसनीय है। समाज मे उसका आदर होगा।"

७. *डाक्टर सूर्यकान्त, एम० ए०, डी० लिट्०, डी० फिल०*—

"अंगराज पढा और आनन्द से पढा। रचना उत्तम बनी है और हिन्दी-साहित्य में अपना स्थान बनाने वाली है। आपकी मनोज्ञ कविता ने अंगराज के छिपे व्यक्तित्व को फिर से उभार दिया है। रचना में चमत्कार है और रस है। मैं 'अंगराज' पर आपको हृदय से बधाई देता हूँ।"

८. *प्रो० शंकरनाथ शुक्ल, एम० ए०*—

"वास्तव में, अपने युग का सर्वोत्तम महाकाव्य देखने को मिला।... सुन्दर शब्द-योजना, अनूठी भाव-व्यंजना एवं मार्मिक सूक्ति-साधना आपके प्रगाढ़ पांडित्य, मनोज्ञ कवित्व तथा विलक्षण भाषाधिकार को

स्पष्ट प्रदर्शित करती है।...सचमुच इस महाकाव्य में वे सब गुण वर्तमान हैं जो इसे अमर बना देंगे।"

९. *श्री रघुनन्दन शास्त्री, एम० ए० द्वारा आल इण्डिया रेडियो पर पढ़ी विस्तृत समालोचना के कुछ अंश—*

"शब्दों की योजना और साहित्य, अलंकारों की अद्भुत छटा और अनेक छन्दो का प्रयोग सचमुच विलक्षण है। चौदहवें सर्ग को पढ़ते हुए तो संस्कृत के महाकवि माघ की याद ताज़ा हो जाती है। शब्दों के चतुर चितेरे इस युवक कवि ने अनुप्रास और यमकों की अपूर्व बहार ला दी है।···मुझे तो ऐसा लगा कि आनन्दकुमार जी खड़ी बोली के पद्माकर और शायद माघ के नूतन अवतार होकर आये हैं।···इसमें सन्देह नहीं कि इस महाकाव्य से कविता-प्रेमियों को Classical Poetry का पूरा आनन्द मिलेगा।"

१०. *डाक्टर रामकुमार वर्मा (प्रयाग-विश्वविद्यालय) द्वारा ३-११-५१ को आल इण्डिया रेडियो इलाहाबाद से प्रसारित विस्तृत समालोचना के कुछ अंश—*

"यह वस्तुतः वीरकाव्य है और इसकी सामयिकता निर्विवाद है। राष्ट्रीय-चरित्र की मर्यादा निर्धारित करने वाला सारगर्भित आदर्शोन्मुख साहित्य ही आज का विशुद्ध राष्ट्रीय-साहित्य होगा। 'अंगराज' की रचना भारतीय साहित्य के लिये गौरव की वस्तु होगी। इसमें सहज एवं सरस मार्मिकता से कर्ण के महान् आदर्शों की चित्रावली उपस्थित की गई है।···विविध छन्दों मे यह काव्य विविध भावो की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक करता है।· वीर-रस अपने सभी प्रकारों में—चाहे वह युद्धवीर हो या दानवीर हो या दयावीर हो—नायक के आश्रय से पोषित हुआ महाकाव्य के महत्त्व को विवर्द्धित करता है। इसके साथ अलंकार का निर्वाह भी कुशलता से हुआ है।···भाषा अनेक स्थलों पर अपने विशुद्ध रूप में

अग्रसर हुई है। ऐसी परिस्थिति में अलंकार के निदर्शन के लिये यदि भाषा में अप्रचलित और कठिन शब्द भी आ जायँ तो आश्चर्य नहीं है। भाषा का माधुर्य नष्ट नहीं होने पाया।...भाषा के साथ कवि ने यमक अलंकार का निर्वाह मनोरमता के साथ किया है।...कर्ण के युद्ध का वर्णन कवि ने शब्दों की सहायता से स्पष्ट और प्रभावपूर्ण कर दिया है।..."

११. सरस्वती, इलाहाबाद—

"...प्रस्तुत काव्य मनोरंजक होने के साथ अत्यन्त शिक्षाप्रद भी है। जीवन में काम देने वाली सदास्मरणीय उक्तियां इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर मिलती जाती है।...इसमें सन्देह नहीं कि ऐसी सुन्दर कृति की रचना करके रचयिता ने अपनी प्रतिभा को पूर्णतः सार्थक कर दिखाया है।

१२. धर्मयुग साप्ताहिक, बम्बई—

"...उनका शब्द-विन्यास विलक्षण है और छन्दो पर प्रभाव अद्भुत। ज़ोर से पढने पर ऐसा मालूम होता है कि समुद्र की लहरें तट से टकराकर ओजपूर्ण वीररस का सृजन कर रही हैं और वीररस ही इस प्रबन्ध-काव्य की जान है।...इस त्यागी सत्पुरुष की जीवन-घटनायें चित्रपट के दृश्यों की भांति पाठक के सम्मुख घूम जाती हैं।... हम आशा करते हैं कि कवि की रत्नप्रसू-लेखनी से और भी उत्तम काव्य हिन्दी-साहित्य को भविष्य में भेंट होते रहेगे और भारतीय युवकों को उनकी कविता से सदैव प्रेरणा मिलती रहेगी।...'अंगराज' में सुन्दर सूक्तियाँ भरी पडी हैं।...कहीं-कहीं तो एक पंक्ति में ही बडे सुन्दर तथा गंभीर भाव भर दिये गये हैं।"

१३. नवभारत टाइम्स, बम्बई—

"पच्चीस सर्गों में अत्यन्त प्रौढ, पुष्ट, परिमार्जित और प्रकृत राष्ट्र-

भाषा में लिखा गया विशिष्ट और मौलिक शैली का यह काव्य है। इस में कवि के ओज का प्रथम ही भान होता है। संस्कृत-निष्ठ हिन्दी में इतना प्रासंगिक और ऐतिहासिक काव्य प्रस्तुत करने में निश्चय ही परिश्रम के साथ-साथ साधना और प्रतिभा दोनों से काम लिया गया है। भारतीय भावनायें मूर्त-रूप में झलक जाती हैं। शब्द-समृद्धि अपनी चमक अलग दिखा जाती है। छन्दों का प्रयोग अद्भुत रूप से हुआ है और भाषा भी शैली के साथ-साथ चलती है।. .अनन्य दानी कर्ण के चरित्र को—दानवीरता, यश, गुण, शौर्य और आत्मत्याग को—रचनाकार ने अमर बना दिया है।' 'निश्चय ही काव्य की दृष्टि से, चातुर्य और कौशल की दृष्टि से 'अंगराज' महान् रचना है।···गम्भीर अध्ययन, सूक्ष्म अनुभव और मौलिक प्रतिभा का वरदान समझकर इस प्रबन्ध-काव्य को अवश्य ही पढ़ना चाहिये।

१४. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी—

"···महाभारत से ली गई इस कथा को कवि ने बड़े सुन्दर ढंग से उपस्थित किया है···जिसमें भारत-युद्ध का बड़ा रोचक और विशद वर्णन मिलता है।...इस महाकाव्य में कर्ण के चरित्र पर लगाये गये समस्त लाछनों का निवारण कर उसका निर्दोष चरित्र अपने शुभ और ज्योतिर्मय गौरव के साथ चित्रित है। इस दृष्टि से कवि ने वास्तव में एक प्रशंसनीय कार्य किया है।' इस महाकाव्य के वर्णन स्पष्ट और सुन्दर है। युद्ध का वर्णन प्रभावपूर्ण है। भाषा संस्कृतगर्भित साहित्यिक है।·· छन्दों में गति और प्रवाह है।···सब मिलाकर यह महाकाव्य पढ़ने योग्य सुन्दर रचना है।"

—:०:—

२. आत्म-विकास   तृतीय संस्करण   मूल्य ५)

[इस ग्रन्थ पर उत्तर-प्रदेश की सरकार ने लेखक को ८००) का जीवन-दर्शन का पुरस्कार देकर सम्मानित किया है ।]

आत्म-विकास जीवन-सम्बन्धी एक छोटा-सा विश्वकोष है, जिसमें वे सभी बातें आगई है जिनका जानना एक सामाजिक प्राणी के लिये आवश्यक है। इसमें कोरे सिद्धान्तों की चर्चा नहीं, किन्तु व्यावहारिक जीवन का परिचयात्मक वृत्तान्त मिलेगा। सैकड़ों ग्रन्थों के शास्त्रीय अध्ययन के आधार पर इस मौलिक-ग्रन्थ को वैज्ञानिक बुद्धि एवं आधुनिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। प्राचीन और आधुनिक जीवन-विज्ञान का इसमें सुन्दर सम्मिश्रण मिलेगा। यह हिन्दी-साहित्य में अपने ढंग की प्रथम और सर्वोत्तम पुस्तक है। इसकी लोकप्रियता का एक प्रमाण यह है कि वर्ष ही भर में इसके दो संस्करण निकालने पड़े। कुछ चुनी हुई सम्मतियाँ देखिये :—

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा, अध्यक्ष हिंदी-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय—

"पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। विद्यार्थीवर्ग तथा सर्वसाधारण दोनों ही को इससे लाभ उठाना चाहिये।...चयनिका का चुनाव बहुत सुन्दर है। इस सुन्दर प्रकाशन पर आपको बधाई!"

२. डा० बाबूराम सक्सेना, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्व०वि०—

"सारी सामग्री बहुत उपयोगी है। वृद्ध और अनुभवी पाठक भी इसे पढ़कर अपनी ज्ञान-वृद्धि करेंगे। नवयुवकों के काम की तो यह पुस्तक है ही। हिन्दी-साहित्य में ऐसी कोई रचना नहीं थी। श्री आनन्दकुमारजी ने इसके द्वारा अभाव की पूर्ति की है।"

३. *पंडित रामनारायण मिश्र, काशी*—

"आत्मविकास महत्वपूर्ण पुस्तक है। इसे पढ़कर स्माइल्स और मार्डेन के ग्रन्थ, जिन्हे मैं पहले बहुत पढ़ा करता था, भूल गया। सदाचार पर आपकी यह पुस्तक बहुत लाभदायक है। ...मनुष्य-जीवन का कोई भी ऐसा पहलू नहीं जिसपर आपने प्रकाश न डाला हो।"

४. *प्रो० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, काशी विश्वविद्यालय*—

"पुस्तक श्रम और अध्ययन-मननपूर्वक लिखी गई है। थोड़े मे आपने जीवन के लिये अपेक्षित बहुत-कुछ सामग्री एकत्र कर दी है।"

५. *प्रसिद्ध कवि बच्चनजी, अँग्रेज़ी-उपाध्याय, प्रयाग वि० वि०*—

"आत्मविकास को एक बार आरम्भ करके समाप्त किये बग़ैर न छोड़ सका। इस पुस्तक के लिखने में श्री आनन्दकुमारजी ने अपने गम्भीर अध्ययन और सूक्ष्म अनुभव दोनो का उपयोग किया है।...मैंने पुस्तक सम्हाल कर अपने पुस्तकालय मे रखली है कि मेरा पुत्र बड़ा होकर उसे पढे।"

६. *प्रो० दयाशंकर दुबे, साहित्य-मंत्री, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग*—

"नवयुवक इसे पढकर निश्चय ही सदाचार, नैतिकता और आत्मोन्नति की प्राप्ति का साधन उपलब्ध कर सकते है। पुस्तक में दस अध्याय हैं, जिनमें से नौ अध्यायो में उपर्युक्त विषयो का मार्मिक एवं गम्भीर विवेचन किया गया है। आठवें अध्याय में एक प्रश्नोत्तरी दी गई है जो बडे काम की है। अन्तिम अध्याय 'चयनिका' में गीता, पुराण, उपनिषद् आदि महान् ग्रन्थों एवं विभिन्न श्रेष्ठ पुरुषो की एतद्विषयक बहुमूल्य उक्तियाँ संगृहीत की गई हैं।...आशा है, संसार के प्रथम सोपान पर आरूढ

तरुण वर्ग इस पुस्तक से पूरा-पूरा लाभ उठायगा और स्कूल कालेजों के पुस्तकालय तो इसका अवश्य उपयोग करेंगे।" (सम्मेलन-पत्रिका)

—:o:—

३. मनुष्य का विराट् रूप प्रथम संस्करण मूल्य ४)

यह एक सर्वोपयोगी, सामयिक एवं स्वतंत्र-ग्रन्थ है। आत्मपूर्णता और व्यावहारिक जीवन की सफलता के लिये सर्वसाधारण को जिन आवश्यक विषयों की जानकारी होनी चाहिये, उन सबका समावेश इसमें बड़े सरल और मार्मिक ढंग से किया गया है। एक व्यक्ति में कितनी और कैसी विलक्षण क्षमता होती है, सर्वसुलभ साधनो की सहायता और अपनी ही साधना से मनुष्य किस प्रकार अपने जीवन-स्तर को ऊँचा उठाकर कुछ-का-कुछ हो सकता है, उसे अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिये विघ्न-बाधाओं के बीच से किन मार्गों पर और कैसे आगे बढना चाहिये, मनुष्यता क्या है, किन उपायों से जीवन स्वस्थ और सुरक्षित रह सकते हैं, समाज के प्रति प्रत्येक व्यक्ति का क्या कर्त्तव्य है, शिष्टाचार का पालन कैसे करना चाहिये, अधिकार और लोकसम्मान कैसे मिल सकता है, अपने व्यक्तित्व को क्यो और किस प्रकार निर्दोष रखना चाहिये— ऐसे अनेक प्रश्नों का तर्कसम्मत उत्तर इसमें मिलेगा। व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन-सम्बन्धी विविध विषयो की ठोस ज्ञान-सामग्री इस एक ग्रन्थ में ही दे दी गई है। लेखक ने अपने मौलिक विचारो के अतिरिक्त सैकड़ों प्रामाणिक एवं सारगर्भित सूक्तियों तथा लगभग ५० लघुकथाओं और दृष्टान्तों की सहायता से नीरस और गूढ-से-गूढ विषय की भी बड़ी सरल और मनोरंजक व्याख्या की है। शैली इतनी सजीव और सुबोध है कि ग्रन्थ में लेखक लिखता हुआ नहीं, बल्कि अपने पाठकों से सीधे बातचीत करता और सत्परामर्श देता हुआ मिलता है।

'मनुष्य का विराट् रूप' वास्तव में नागरिक शास्त्र है। लेखक ने जीवन-नीति का विवेचन वर्तमान परिस्थिति को ध्यान में रखकर किया है। भय, निराशा, दुर्मति और भ्रष्टाचार के इस वृद्धिकाल मे यह ग्रन्थ जन-साधारण को आशा-उत्साह, सुमति-सदाचार और आत्म-निर्भरता का स्फूर्तिदायक सन्देश तथा कर्त्तव्य-प्रेरणा देगा। हमारा विश्वास है कि स्वराज्य के सच्चे नागरिकों के चरित्र-निर्माण में यह बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगा। जीवन-शिक्षा के लिये अपने ढंग की यह अपूर्व कृति है।

४. नीति-कथायें (सचित्र) मूल्य १।)

इसमें नीति की शिक्षा देने वाली छोटी-छोटी मनोरंजक कथायें दी गई हैं। भाषा सजीव और चटकीली है। यह एक ऐसी पुस्तक है जो परिवार के सभी सदस्यो—स्त्री, पुरुष और बच्चो के लिये स्वस्थ मनोरंजन की पर्य्याप्त सामग्री देगी।

५. मनोरंजक कथायें (सचित्र) मूल्य १।)

'नीति-कथायें' के ढंग की यह नई पुस्तक है। मनोविनोद के साथ-साथ शिक्षा-प्राप्ति हो, इसी उद्देश्य से 'आत्मविकास' के लब्धप्रतिष्ठ लेखक ने यह पुस्तक लिखी है। इसकी शैली बहुत ही सरस और सुबोध है। प्रत्येक कथा को पढते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो उसमें वर्णित घटना को आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं। लेखक के कथनानुसार ऐसी कथाओं को बुद्धिवर्द्धक विटैमिन मानना चाहिये।

६. सदाचार की कथायें (सचित्र) मूल्य १।)

इस पुस्तक में सदाचार-सम्बन्धी १८ चुनी हुई कहानियाँ दी गई हैं। छोटी-छोटी कहानियों में ज्ञान की बातें बड़े ढंग से कही गई हैं।

बालक-बालिकाओं और युवकों के चरित्र-निर्माण में ये बहुत सहायक होंगी। भाषा मँजी हुई और शैली बहुत ही रोचक है।

७. भारतीय कथायें (सचित्र) मूल्य १।)

महाभारत तथा पुराणों की कुछ चुनी हुई मनोरंजक तथा शिक्षापूर्ण कथाओं का यह संग्रह अपने ढंग का एक ही है। इसमें एक भी कथा ऐसी नहीं है जो भर्ती की या बहुत घिसी हुई कही जा सके। सभी कथायें नवीन-जैसी लगती हैं। उनका वर्णन लेखक ने बड़े मनोहर ढंग से किया है। मनोविनोद, बुद्धि-विकास और कर्त्तव्य-शिक्षा के लिये यह छोटी पुस्तक छोटे-बड़े सबके बड़े काम की है।

उपरोक्त चारो पुस्तकें सुन्दर मोनो-टाइप से बढ़िया कागज़ पर छापी गई हैं। बालको और स्नेहीजनो को भेंट-उपहार में देने के लिये इनसे अच्छी पुस्तकें नहीं मिल सकतीं।

प्रकाशक

राजपाल एण्ड सन्ज़

काश्मीरी गेट

दिल्ली-६